बी.ए. तृतीय वर्ष

समाजशास्त्र, प्रथम प्रश्नपत्र

प्रमुख समाजशास्त्रीय विचार

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल

MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY – BHOPAL

Reviewer Committee
1. Dr (Prof) Madhavi Lata Dubey
   Professor
   Govt Science & Commerce College Benazir, Bhopal

2. Dr Sadhna Bisen
   Assistant Professor
   BSS College Bhopal

3. Mrs. Archana Chauhan
   Assistant Professor
   S.N. Girls Autonomous (PG) College, Bhopal

Advisory Committee
1. Dr Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

2. Dr H.S. Tripathi
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

3. Dr L.P. Jharia
   Director Student Support
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

4. Dr (Prof) Madhavi Lata Dubey
   Professor
   Govt Sience & Commerce College Benazir, Bhopal

5. Dr Sadhna Bisen
   Assistant Professor
   BSS College Bhopal

6. Mrs. Archana Chauhan
   Assistant Professor
   S.N. Girls Autonomous (PG) College, Bhopal

COURSE WRITERS

Dr. Arvinder A. Ansari, Professor, Department of Sociology, Jamia Millia Islamia, New Delhi
Units (1.3, 1.4, 2.2-2.2.1, 2.3-2.3.1, 2.4)

Dr. Prashant Shukla, Assistant Professor, Department of Philosophy, Lucknow University
Unit (3.2, 3.4)

Dr. Biswaranjan Mohanty, Assistant Professor, Department of Political Science, SGTB Khalsa College, University of Delhi
Unit (4.2-4.2.1)

Dr. Nisha Kumari, Academic Writer
Units (1.0-1.1, 1.2, 1.5-1.9, 2.0-2.1, 2.2.2, 2.3.2, 2.5-2.9, 3.0-3.1, 3.3, 3.5-3.9, 4.0-4.1, 4.2.2, 4.3-4.9, 5.0-5.1, 5.2-5.2.2, 5.3, 5.4-5.9)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

VIKAS®

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

प्रमुख समाजशास्त्रीय विचार

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 अगस्ट काम्टे– विज्ञानों का संस्तरण, तीन स्तरों का नियम इमाइल दुर्खीम– आत्महत्या का सिद्धांत, धर्म का सिद्धांत पिट्रिम सोरोकिन– सांस्कृतिक परिवर्तन का सिद्धांत	**इकाई 1** : काम्टे, दुर्खीम और सोरोकिन का समाजशास्त्रीय चिंतन **(पृष्ठ 3–38)**
इकाई–2 मैक्स बेवर– सत्ता, नौकरशाही कार्ल मार्क्स– वर्ग संघर्ष, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत थर्स्टिन वैब्लिन– प्रौद्योगिकीय परिवर्तन, विलासीवर्ग का सिद्धांत	**इकाई 2** : मैक्स वेबर, मार्क्स और वेब्लिन का समाजशास्त्रीय चिंतन **(पृष्ठ 39–80)**
इकाई–3 आर.के. मर्टन– प्रकार्यवाद का सिद्धांत, संदर्भ समूह विल्फ्रेडो परेटो– अभिजात वर्ग का परिभ्रमण, अवशेष और व्युत्पन्न, तार्किक और गैरतार्किक कार्य टॉलकॉट पारसंस– सामाजिक क्रिया का सिद्धांत, सामाजिक व्यवस्था	**इकाई 3** : मर्टन, परेटो और पारसंस का समाजशास्त्रीय चिंतन **(पृष्ठ 81–114)**
इकाई–4 महात्मा गांधी– अहिंसा, सत्याग्रह, संरक्षकता राधाकमल मुखर्जी– मूल्यों का समाजशास्त्र डॉ. बी.आर. अंबेडकर– सामाजिक न्याय, जातिहीन समतामूलक समाज	**इकाई 4** : गांधी, राधाकमल मुखर्जी और अंबेडकर का समाजशास्त्रीय चिंतन **(पृष्ठ 115–154)**
इकाई–5 एम.एन. श्रीनिवास– संस्कृतीकरण, पश्चिमीकरण, लौकिकीकरण ए.आर. देसाई– भारत में राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि योगेंद्र सिंह– भारतीय परंपरा का आधुनिकीकरण	**इकाई 5** : एम.एन. श्रीनिवास, ए.आर. देसाई और योगेंद्र सिंह का समाजशास्त्रीय चिंतन **(पृष्ठ 155–210)**

विषय–सूची

परिचय 1

इकाई 1 कॉम्टे, दुर्खीम और सोरोकिन का समाजशास्त्रीय चिंतन 3–38

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 अगस्ट काम्टे का जीवन परिचय एवं समाजशास्त्रीय चिंतन
1.2.1 विज्ञानों का संस्तरण
1.2.2 तीन स्तरों का नियम
1.3 इमाइल दुर्खीम का समाजशास्त्रीय चिंतन
1.3.1 आत्महत्या का सिद्धांत
1.3.2 धर्म का सिद्धांत
1.4 पिट्रिम सोरोकिन का सांस्कृतिक परिवर्तन का सिद्धांत
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 मैक्स वेबर, मार्क्स और वेब्लिन का समाजशास्त्रीय चिंतन 39–80

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 मैक्स वेबर का समाजशास्त्रीय चिंतन
2.2.1 सत्ता और शक्ति
2.2.2 नौकरशाही
2.3 कार्ल मार्क्स का समाजशास्त्रीय चिंतन
2.3.1 वर्ग संघर्ष का सिद्धांत
2.3.2 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत
2.4 थर्स्टिन वेब्लिन : प्रौद्योगिकीय परिवर्तन एवं विलासी वर्ग का सिद्धांत
2.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.6 सारांश
2.7 मुख्य शब्दावली
2.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 मर्टन, परेटो और पारसंस का समाजशास्त्रीय चिंतन 81–114

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 आर.के. मर्टन का समाजशास्त्रीय चिंतन
3.2.1 प्रकार्यवाद का सिद्धांत और संदर्भ समूह
3.2.2 संदर्भ समूह
3.3 विल्फ्रेडो परेटो : अभिजात वर्ग का परिभ्रमण, अवशेष और व्युत्पन्न, तार्किक और गैरतार्किक कार्य
3.3.1 अभिजात वर्ग का परिभ्रमण

3.3.2 अवशेष और व्युत्पन्न
3.3.3 तार्किक और गैर–तार्किक कार्य
3.4 टॉलकॉट पारसंस का समाजशास्त्रीय चिंतन
3.4.1 सामाजिक क्रिया का सिद्धांत
3.4.2 सामाजिक व्यवस्था
3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.6 सारांश
3.7 मुख्य शब्दावली
3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 गांधी, राधाकमल मुखर्जी और अंबेडकर का समाजशास्त्रीय चिंतन 115–154

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 महात्मा गांधी का समाजशास्त्रीय चिंतन
4.2.1 अहिंसा और सत्याग्रह
4.2.2 संरक्षकता अथवा ट्रस्टीशिप
4.3 राधाकमल मुखर्जी का मूल्यों का समाजशास्त्र
4.4 डॉ. बी.आर. अंबेडकर का समाजशास्त्रीय चिंतन
4.4.1 सामाजिक न्याय
4.4.2 जातिविहीन समतामूलक समाज
4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.6 सारांश
4.7 मुख्य शब्दावली
4.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 एम.एन. श्रीनिवास, ए.आर. देसाई और योगेंद्र सिंह का समाजशास्त्रीय चिंतन 155–210

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 एम.एन. श्रीनिवास का समाजशास्त्रीय चिंतन
5.2.1 संस्कृतीकरण
5.2.2 पश्चिमीकरण एवं लौकिकीकरण
5.3 ए.आर. देसाई और भारत में राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि
5.3.1 देसाई के मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य का मूल्यांकन
5.3.2 भारतीय राष्ट्रीयता की उत्पत्ति के सामाजिक आधार
5.4 योगेन्द्र सिंह और भारतीय परंपरा का आधुनिकीकरण
5.4.1 सामाजिक परिवर्तन का स्वरूप
5.4.2 भारतीय परंपरा का आधुनिकीकरण
5.4.3 आधुनिकीकरण की प्रक्रियाएं
5.4.4 आधुनिकीकरण और भारतीय परिदृश्य
5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.6 सारांश
5.7 मुख्य शब्दावली
5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'प्रमुख समाजशास्त्रीय विचार' का लेखन विश्वविद्यालय द्वारा समाजशास्त्र विषय में बी.ए. तृतीय वर्ष (प्रथम पत्र) के लिये निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुरूप किया गया है।

समाजशास्त्रीय अध्ययन मानव समाज का अध्ययन है। समाजशास्त्रीय विचार मानवीय सामाजिक संरचना और गतिविधियों से संबंधित जानकारी को परिष्कृत एवं विकसित करने के लिए विविध उपागमों का प्रयोग करते हैं। समाजशास्त्र का विकास 19वीं सदी में, उभरती आधुनिकता की चुनौतियों और बौद्धिक एवं औद्योगिक आंदोलन के रूप में हुआ। विभिन्न समाजशास्त्रियों ने सामाजिक क्षेत्रों की वैज्ञानिक समझ के जरिए इतिहास, मनोविज्ञान एवं दर्शनशास्त्र जैसे विषयों से इसको संबंधित करने का यत्न भी किया।

प्रस्तुत पुस्तक में समाजशास्त्रीय विचारों के आधारभूत पहलुओं का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक इकाई के बीच–बीच में 'अपनी प्रगति जांचिए' स्तंभ के माध्यम से विद्यार्थियों की योग्यता परखने के लिए प्रश्न दिए गए हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए संपूर्ण पुस्तक में पांच इकाइयों को समायोजित किया गया है, जिनका विवरण इस प्रकार है–

पहली इकाई में विज्ञानों के संस्तरण, धर्म के सिद्धांत और सांस्कृतिक परिवर्तन के सिद्धांत का अध्ययन किया गया है। इस इकाई में अगस्ट काम्टे, इमाइल दुर्खीम व पिट्रिम सोरोकिन जैसे महान समाजशास्त्रियों के विचारों का अध्ययन किया गया है।

दूसरी इकाई में सत्ता, नौकरशाही, वर्ग संघर्ष और प्रौद्योगिकीय परिवर्तन आदि का वर्णन मैक्स वेबर, कार्ल मार्क्स व थर्स्टिन वेब्लिन के सिद्धांतों के आधार पर किया गया है।

तीसरी इकाई में आर.के. मर्टन के प्रकार्यवाद, विल्फ्रेडो परेटो के अभिजात वर्ग के परिभ्रमण, टॉलकॉट पारसंस के सामाजिक क्रिया के सिद्धांत आदि पर प्रकाश डाला गया है।

चौथी इकाई में महात्मा गांधी के अहिंसा और सत्याग्रह के वर्णन के अलावा राधाकमल मुखर्जी के मूल्यों के समाजशास्त्र तथा अंबेडकर के सामाजिक न्याय का विश्लेषण किया गया है।

पांचवीं इकाई में एम.एन. श्रीनिवास के संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण के अलावा ए.आर. देसाई द्वारा प्रस्तुत भारत में राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि तथा योगेंद्र सिंह के भारतीय परंपरा के आधुनिकीकरण का अध्ययन किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में समाजशास्त्री विचारों से संदर्भित अहम आयामों का सांगोपांग अध्ययन किया गया है। इन इकाइयों के अध्ययन से छात्र विषय से भलीभांति अवगत हो सकेंगे। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक छात्र–छात्राओं की जिज्ञासा को शांत कर उनका ज्ञानवर्धन करेगी।

टिप्पणी

इकाई 1 कार्म्टे, दुर्खीम और सोरोकिन का समाजशास्त्रीय चिंतन

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 अगस्ट कार्म्टे का जीवन परिचय एवं समाजशास्त्रीय चिंतन
  1.2.1 विज्ञानों का संस्तरण
  1.2.2 तीन स्तरों का नियम
1.3 इमाइल दुर्खीम का समाजशास्त्रीय चिंतन
  1.3.1 आत्महत्या का सिद्धांत
  1.3.2 धर्म का सिद्धांत
1.4 पिट्रिम सोरोकिन का सांस्कृतिक परिवर्तन का सिद्धांत
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

अगस्ट कार्म्टे को 'प्रत्यक्षवाद' या 'प्रत्यक्षवादी दर्शन' के जनक के रूप में ही नहीं जाना जाता है, बल्कि 'समाजशास्त्र के पिता' के रूप में भी जाना जाता है। कार्म्टे ने 'सोशियोलॉजी' शब्द की रचना की ओर समाज का व्यवस्थित ढंग से समाजशास्त्रीय अध्ययन किया।

इमाइल दुर्खीम के सिद्धांतों का केंद्र सामाजिक तथ्यों की अवधारणा में निहित है। उनकी सैद्धांतिक प्रणाली का भौतिक केंद्र सामाजिक तथ्यों पर आधारित नहीं था। वे समाज को ईश्वर के साथ जोड़ते थे और समाज को दैवीय दर्जा देते थे।

पिट्रिम सोरोकिन एक रूसी मूल के अमेरिकी समाजशास्त्री और राजनीतिक कार्यकर्ता थे। उन्होंने सांस्कृतिक परिवर्तन का सिद्धांत बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया था।

इस इकाई में अगस्ट कार्म्टे, इमाइल दुर्खीम तथा पिट्रिम सोरोकिन की उपलब्धियों पर प्रकाश डालते हुए उनके समाजशास्त्रीय चिंतन की विवेचना की गई है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- कार्म्टे, दुर्खीम और सोरोकिन के समाजशास्त्रीय चिंतन को समझ पाएंगे;
- कार्म्टे के प्रत्यक्षवाद के आयामों को समझ पाएंगे;

टिप्पणी

- मानव के बौद्धिक विकास के स्तरों को समझ पाएंगे;
- विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र को जान पाएंगे;
- धर्म के सिद्धांत से अवगत हो पाएंगे;
- सोरोकिन के सांस्कृतिक परिवर्तन के सिद्धांत से अवगत हो पाएंगे;
- समाकलित दर्शन से परिचित हो पाएंगे।

1.2 अगस्ट काम्टे का जीवन परिचय एवं समाजशास्त्रीय चिंतन

अगस्ट काम्टे का जन्म 1798 में दक्षिण फ्रांस के एक निम्न राजकीय अधिकारी के घर में हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा पेरिस के एक पोलिटेक्नीक संस्थान में हुई, जहां गणित और प्राकृतिक विज्ञान उनके अध्ययन के प्रमुख विषय थे। वे विद्यालयी शिक्षा को पूर्ण नहीं कर सके, क्योंकि छात्र आंदोलन, हड़ताल, प्रदर्शन आदि में भाग लेने के कारण विद्यालय प्रशासन ने उन्हें विद्यालय से निकाल दिया था। इसके बाद काम्टे फ्रांस के प्रभावशाली नेता और मार्क्सवादी संस्करण के समाजवादी विचारक हेनरी द सेंट साइमन के सचिव और सहयोगी बन गये। सेंट साइमन के विचारों से काम्टे बहुत प्रभावित हुए, परंतु 1824 में जब सेंट साइमन ने काम्टे पर साहित्य चोरी का आरोप लगाया तो दोनों के संबंध टूट गये। संबंधों के टूटने का एक अन्य कारण यह भी था कि सेंट साइमन काम्टे के योगदान को अपने लेखन में पर्याप्त महत्व नहीं दे रहे थे। सेंट साइमन से संबंध–विच्छेद के बाद 12 वर्षों तक काम्टे पेरिस में छोटे–मोटे काम करते रहे, परंतु उन्हें इन कामों में पर्याप्त सफलता नहीं मिली। कई स्थानों पर उन्हें काम से निकाल दिया गया। कुल मिलाकर इस दौर में उनके मित्र कम और शत्रु अधिक बने थे।

प्रत्यक्षवाद का जन्मदाता काम्टे को माना जाता है। काम्टे प्रत्यक्षवाद को 'विज्ञानवाद' के नाम से पुकारते हैं और उनका विचार है कि समस्त ब्रह्मांड अपरिवर्तनीय प्राकृतिक नियमों के माध्यम से व्यवस्थित और निर्देशित होता है। यदि हमें इन अपरिवर्तनीय प्राकृतिक नियमों को समझना है तो हम धार्मिक अथवा तात्विक आधारों पर नहीं, बल्कि विज्ञान की विधियों के माध्यम से इसे समझ सकते हैं। वैज्ञानिक विधियां निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग और वर्गीकरण की एक व्यवस्थित कार्यप्रणाली होती हैं। इस तरह से निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग और वर्गीकरण पर आधारित वैज्ञानिक विधियों के माध्यम से समझना और समग्र ज्ञान की प्राप्ति करना प्रत्यक्षवाद होता है।

काम्टे के अनुसार अनुभव, निरीक्षण, प्रयोग और वर्गीकरण की व्यवस्थित कार्यप्रणाली के माध्यम से केवल प्राकृतिक घटनाओं का ही अध्ययन संभव नहीं है, समाज का भी अध्ययन संभव है, क्योंकि समाज भी तो इसी प्रकृति का एक अंग है। जिस तरह से प्राकृतिक घटनाएं कुछ निश्चित नियमों पर आधारित होती हैं, उसी प्रकार प्रकृति के अंग के रूप में सामाजिक घटनाएं भी कुछ निश्चित नियमों के तहत घटित होती हैं। इस तरह से सामाजिक घटनाएं किस प्रकार घटित होती हैं अथवा उनका क्या क्रम और गति होती है, इसका अध्ययन वास्तविक रूप में निरीक्षण, परीक्षण और वर्गीकरण के माध्यम से संभव है।

प्रत्यक्षवाद स्वयं को धार्मिक और तात्विक विचारों से दूर रखने का प्रयास करता है, क्योंकि इनमें वैज्ञानिक अध्ययन प्रणाली संभव नहीं है। प्रत्यक्षवाद कल्पना अथवा ईश्वर की महिमा के आधार पर नहीं, अपितु निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग तथा वर्गीकरण के आधार पर सामाजिक घटनाओं की व्याख्या प्रस्तुत करता है। यह किसी निरपेक्ष विचार को नहीं मानता है, क्योंकि सामाजिक जीवन में परिवर्तन उसी प्रकार स्वाभाविक है जिस प्रकार प्राकृतिक जगत में स्वाभाविक होता है। प्रत्यक्षवाद में यह माना जाता है कि सामाजिक घटनाओं की क्रियाशीलता कुछ प्राकृतिक नियमों के माध्यम से निर्देशित और नियंत्रित होती है, किसी ईश्वरीय शक्ति अथवा इच्छा के माध्यम से नहीं।

कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षवादी प्रणाली के आधार पर किये गये अध्ययन तथा उसके द्वारा प्राप्त निष्कर्ष वैज्ञानिक एवं विश्वसनीय होते हैं। यही कारण है कि धार्मिक और तात्विक विचार को वैज्ञानिक अधिक महत्व नहीं देते हैं। काम्टे के अनुसार उनका अध्ययन केवल सामाजिक क्षेत्र तक सिमटकर रह गया है और यदि हम सामाजिक अध्ययन को वैज्ञानिक स्तर पर लाना चाहते हैं तथा समाजशास्त्र का विज्ञान बनाना चाहते हैं तो इसके क्षेत्र से धार्मिक और तात्विक विचार को निकालकर प्रत्यक्षवादी अध्ययन विधि को लागू करना होगा। काम्टे के अनुसार प्रत्यक्षवादी अध्ययन प्रणाली के अंतर्गत अग्रलिखित क्रम से अध्ययन की प्रक्रिया को अपनाया जाता है—

- सबसे पहले अध्ययन—विषय का चुनाव किया जाता है,
- अवलोकन अथवा निरीक्षण के माध्यम से उस विषय से संबंधित प्रत्यक्ष होने वाले तथ्यों का संग्रह किया जाता है,
- इन संग्रहित तथ्यों का विश्लेषण करके सामान्य विशेषताओं के आधार पर इनका वर्गीकरण किया जाता है तथा
- अंत में विषय से संबंधित कोई निष्कर्ष निकाला जाता है।

काम्टे का मानना है कि जिन घटनाओं को हम प्रत्यक्ष तौर पर देख सकते हैं अथवा निरीक्षण कर सकते हैं, प्रत्यक्षवाद वहीं तक सीमित है। इस प्रकार प्रत्यक्षवाद अज्ञेय या अज्ञात के पीछे बिना किसी वास्तविक आधार के ऐसे ही नहीं भागता है। प्रत्यक्षवादी एक समय में उसी सीमा तक देख पाता है या केवल उन्हीं घटनाओं का अध्ययन करता है जहां तक उस घटना से संबंधित तथ्यों का वास्तविक निरीक्षण और परीक्षण संभव हो और उस सीमा तक सभी घटनाएं और विषय स्पष्ट हो जाते हैं तो उससे आगे कुछ और प्रयास नहीं किया जाता है, जिससे आगे किसी स्तर पर काल्पनिक चिंतन का सहारा लिया जाए।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम काम्टे के प्रत्यक्षवाद की प्रमुख विशेषताओं को निम्न प्रकार से समझ सकते हैं—

(1) प्रत्यक्षवाद का दृष्टिकोण वैज्ञानिक है तथा वह स्वयं विज्ञान है। प्रत्यक्षवाद स्व—निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग को आधार मानकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अपना अध्ययन पूरा करता है।

(2) प्रत्यक्षवाद मानता है कि जिस तरह से प्राकृतिक घटनाएं अचानक नहीं होती हैं, अपितु निश्चित नियमों के अनुसार घटित होती हैं, उसी तरह सामाजिक घटनाएं

टिप्पणी

भी अचानक घटित नहीं होती हैं। प्रकृति का एक भाग होने के चलते समाज में सामाजिक घटनाएं भी कुछ निश्चित नियमों के अनुसार घटित होती हैं एवं वास्तविक निरीक्षण, परीक्षण और प्रयोग के माध्यम से इन नियमों की खोज की जा सकती है।

(3) प्रत्यक्षवाद का किसी ऐसी घटना से कोई संबंध नहीं होता जिसे हम प्रत्यक्ष तौर पर देख नहीं सकते हैं अथवा निरीक्षण नहीं कर सकते हैं। यह प्रत्यक्ष–योग्य अथवा वास्तविक रूप में निरीक्षण–योग्य घटनाओं तक ही सीमित होता है। यह अज्ञात और अप्रत्यक्ष के पीछे बिना किसी वास्तविकता के ऐसे ही नहीं दौड़ता है।

(4) प्रत्यक्षवाद स्वयं को धार्मिक और दार्शनिक चिंतन से दूर रखता है। यह अपने को वैज्ञानिक अध्ययन प्रणाली के माध्यम से वास्तविक ज्ञान से संबंधित मानता है। यह किसी भी निरपेक्ष विचार को नहीं मानता है, क्योंकि सामाजिक जीवन में परिवर्तन स्वाभाविक है।

(5) प्रत्यक्षवाद केवल 'विज्ञान' ही नहीं है, अपितु 'धर्म' भी है तथा यह मानवता का धर्म है। प्रत्यक्षवादी भावना से प्रेरित मानवता का धर्म आदर्शों पर आधारित एक नये सामाजिक व्यवस्था की स्थापना को अपना प्रमुख लक्ष्य मानता है। प्रत्यक्षवाद से वास्तविक ज्ञान संभव है और यह वास्तविक ज्ञान समाज में बौद्धिक तथा नैतिक एकता को पनपने में सहायता करता है। इस तरह की एकता से मानव कल्याण सरलता से हो सकता है। इस दृष्टि से प्रत्यक्षवाद मानवता का धर्म है, क्योंकि धर्म का भी अंतिम उद्देश्य मानव का कल्याण ही होता है।

(6) प्रत्यक्षवाद एक उपयोगितावादी विज्ञान है तथा इस रूप में विश्वास करता है कि प्रत्यक्षवाद के द्वारा प्राप्त वास्तविक ज्ञान को समाज के पुनर्निर्माण के साधन के तौर पर प्रयोग किया जा सकता है।

(7) प्रत्यक्षवाद वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ वैज्ञानिक कार्य–प्रणाली से भी संबंधित है। इसके अंतर्गत घटनाओं का अध्ययन मनमाने ढंग से नहीं किया जाता, बल्कि इसके लिए समुचित वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया जाता है। इस वैज्ञानिक कार्यप्रणाली के तहत सबसे पहले अध्ययन के विषय का चुनाव किया जाता है, फिर उस विषय के तथ्यों का वास्तविक निरीक्षण के आधार पर संग्रहण किया जाता है, संग्रहित तथ्यों का पुनःपरीक्षण और वर्गीकरण किया जाता है तथा सबसे अंत में कोई निष्कर्ष निकाला जाता है।

इस प्रकार प्रत्यक्षवाद का उद्देश्य धार्मिक एवं तात्विक चिंतन अथवा अवधारणाओं से मानव मस्तिष्क को मुक्त कर सामाजिक अध्ययन और अनुसंधान को वैज्ञानिक स्तर पर लाना है। यह प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धति को सामाजिक अध्ययनों में प्रयोग करके सामाजिक विज्ञान को उतना ही वास्तविक बनाने का प्रयत्न करता है जितना प्राकृतिक विज्ञान है। कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षवाद वह वैज्ञानिक साधन है जिसके माध्यम से मानव का बौद्धिक विकास संभव और आसान होता है। बिना बौद्धिक विकास के

सामाजिक विकास असंभव है। इस प्रकार प्रत्यक्षवाद सामाजिक प्रगति में सहायक हो सकता है, क्योंकि सामाजिक तथ्यों के निरीक्षण, परीक्षण और वर्गीकरण के व्यवस्थित कार्यविधि द्वारा सामाजिक प्रगति को संभव बनाया जा सकता है और सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए भी आधार तैयार किया जा सकता है।

मानवता का धर्म

काम्टे का उद्देश्य अपने अध्ययन को केवल वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत करना भर नहीं था, बल्कि बौद्धिक और नैतिक एकता के आधार पर समाज का संगठन करना भी था। इस उद्देश्य की प्राप्ति ज्ञान के बिना संभव नहीं होती है तथा ज्ञान की प्राप्ति प्रत्यक्षवादी सिद्धांतों के आधार पर ही हो सकती है। प्रत्यक्षवादी विधि से जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है वह वास्तविक ज्ञान होगा तथा उसी के आधार पर संपूर्ण मानवता एक सूत्र में बंध जाएगी। इस तरह से प्रत्यक्षवाद केवल एक विज्ञान ही नहीं है, बल्कि यह मानवता के लिए एक धर्म भी है। धर्म का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य जनता के सामने कुछ नैतिक नियमों को प्रस्तुत करना है जिसके आधार पर समाज के सदस्य एकता के सूत्र में बंध जाएं तथा समाज में नैतिक एकता स्थापित हो सके। यह नैतिक विकास तब तक असंभव है जब तक जनता का बौद्धिक स्तर उच्च नहीं हो और बौद्धिक विकास के लिए ज्ञान की बढ़ोत्तरी प्रत्यक्षवाद के आधार पर ही संभव है। इस प्रकार प्रत्यक्षवाद लोगों के ज्ञान में वृद्धि करके समाज में नैतिक एकता लाने में सहायता करता है। इस दृष्टि से प्रत्यक्षवाद मानव कल्याण का एक मौलिक कारक है। वास्तविकता में धर्म का अंतिम लक्ष्य भी मानव का कल्याण ही है। प्रत्यक्षवाद मानवता का एक ऐसा धर्म है जो अपना संबंध अलौकिक शक्ति से उतना नहीं जोड़ता जितना बौद्धिक तथा नैतिक एकता के आधार पर सामाजिक संगठन और प्रगति से जोड़ता है। इसी आधार पर काम्टे ने स्पष्ट किया है कि प्रत्यक्षवाद वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण है जिसका उद्देश्य संपूर्ण मानव समाज अथवा राष्ट्रों का भौतिक, बौद्धिक तथा नैतिक कल्याण करना है, जिसकी प्राप्ति विशिष्ट निर्देश और शिक्षा के माध्यम से संभव है। इस उद्देश्य के लिए काम्टे ने प्रत्यक्षवाद को तीन आयामों में वर्गीकृत किया है–

- **विज्ञानों का दर्शन**– विज्ञानों के दर्शन का मूल तत्व है कि मानव को अपनी उन्नति के लिए परिश्रम और प्रयास पर विश्वास करना चाहिए। इसके तहत गणित, खगोलविज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र जैसे विषय आते हैं।
- **वैज्ञानिक धर्म तथा नीतिशास्त्र**– प्रत्यक्षवाद का संबंध किसी अलौकिक शक्ति से नहीं होता है। यह संपूर्ण मानवता का धर्म है। इसके नैतिक नियम दूसरों की सेवा हेतु अधिकाधिक उपयुक्त होने के लिए शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक विकास को समाज का लक्ष्य मानते हैं।
- **प्रत्यक्ष राजनीति**– प्रत्यक्ष राजनीति का लक्ष्य युद्ध को खत्म करके यूरोप के राज्यों को मिलाकर मित्रराष्ट्र का निर्माण करना है।

समाज को उपर्युक्त आदर्शों के अनुसार परिवर्तित होने के लिए प्रत्यक्षवाद किसी भी प्रकार की हिंसक प्रणाली का बहिष्कार करता है तथा समस्त मानवता के लिए प्रेम

के सिद्धांत के आधार पर प्रगति का उद्देश्य निर्धारित करता है। इस प्रकार से काम्टे ने अपने प्रत्यक्षवादी चिंतन में धार्मिक अथवा नैतिक पक्ष को वैज्ञानिक पक्ष से अधिक महत्व प्रदान किया है। उनके दृष्टिकोण में इस परिवर्तन को उनके आलोचकों ने 'पतन' के तौर पर देखा है। लेकिन, काम्टे का मानना था कि उनका प्रत्यक्षवाद धर्म तथा विज्ञान दोनों है एवं मानव की प्रगति के लिए इनका अलग होना सही नहीं होगा, बल्कि इनके समन्वय से ही मानव का विकास हो सकेगा।

1.2.1 विज्ञानों का संस्तरण

काम्टे को 'प्रत्यक्षवाद' अथवा 'प्रत्यक्षवादी दर्शन' के जनक के रूप में ही नहीं जाना जाता है, बल्कि 'समाजशास्त्र के पिता' के रूप में भी जाना जाता है। भले ही काम्टे से पहले सेंट साइमन ने समाज के बारे में समाजशास्त्रीय ढंग से चिंतन किया था और साइमन के विचारों का प्रभाव काम्टे पर भी पड़ा था, लेकिन काम्टे ने 'सोशियोलॉजी' शब्द की रचना की और समाज का व्यवस्थित ढंग से समाजशास्त्रीय अध्ययन किया। चूंकि काम्टे ने अपनी प्रारंभिक शिक्षा प्राकृतिक विज्ञान विषयों में ग्रहण की थी, इसलिए वे प्राकृतिक विज्ञान के प्रारूप के आधार पर मानव समाज के अध्ययन के लिए एक नये विज्ञान को आवश्यक मान रहे थे। काम्टे के अनुसार समाज का अध्ययन भी उसी तरह वैज्ञानिक ढंग से किया जाना चाहिए, जिस तरह प्राकृतिक विज्ञानों में भौतिक जगत का अध्ययन किया जाता है। अपने विचार को मूर्त रूप देने के लिए काम्टे ने एक नये सामाजिक विज्ञान की नींव रखी, जिसे प्रारंभ में उन्होंने 'सामाजिक भौतिकी' नाम दिया था। लेकिन बाद में इस नाम की बहुत आलोचना और भ्रांतियों को देखते हुए कुछ समय बाद काम्टे ने इसका नाम बदलकर 'सोशियोलॉजी' रख दिया। काम्टे का मानना था कि प्राकृतिक विज्ञानों की तरह समाजशास्त्र को भी समाज के आधारभूत नियमों की खोज के लिए आनुभविक विधियों का प्रयोग करना चाहिए, जिससे समाजशास्त्र मानवीय दशाओं में सुधार की महत्वपूर्ण भूमिका निभा सके और मानवता का कल्याण कर सके। काम्टे के प्रमुख विचार हैं— विज्ञानों का श्रेणीक्रम, तीन स्तरों का नियम, प्रत्यक्षवाद, आदि। काम्टे के इन विचारों को निम्न प्रकार समझा जा सकता है—

विज्ञानों का श्रेणीक्रम

काम्टे ने विज्ञानों के श्रेणीक्रम का निर्माण किया है जिसकी शुरुआत उन्होंने गणित से की है। बाद में उन्होंने नक्षत्र विज्ञान, भौतिक विज्ञान, प्राणीशास्त्र, रसायन शास्त्र में प्रयोग करते हुए अंत में समाजशास्त्र में प्रयोग किया और कहा कि विभिन्न विज्ञान नैसर्गिक और तार्किक क्रम में विकसित होते हैं। इस क्रम में सबसे पहले वह विज्ञान विकसित होता है जो सबसे कम जटिल हो यानी सरल हो और जिसका संबंध मानवता से दूर सामान्य घटनाओं से हो। इस क्रम के सबसे अंत में वह विज्ञान विकसित होता है जो सबसे अधिक जटिल हो और जिसका मानवता के साथ निकट संबंध हो। इस क्रम को ध्यान में रखते हुए काम्टे ने गणित को सर्वप्रथम स्थान दिया तथा समाजशास्त्र को सबसे अंत में स्थान दिया है। काम्टे ने समाजशास्त्र को सभी विज्ञानों की महारानी नाम से संबोधित किया है।

टिप्पणी

कामटे का कहना है कि सभी विज्ञानों को तीन अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है। ये अवस्थाएं हैं– धर्मशास्त्रीय, तत्वमीमांसक और प्रत्यक्षवादी यानी वैज्ञानिक अवस्था। काम्टे ने अपने अध्ययनों के आधार पर बताया है कि सभी विज्ञान इन तीनों अवस्थाओं से एक साथ नहीं गुजरते हैं। उनके अनुसार विज्ञानों के श्रेणीक्रम में जो विज्ञान जितना अधिक ऊंचा होता है वह उतना ही अधिक समय में एक अवस्था से दूसरी अवस्था में प्रवेश करता है।

काम्टे की मान्यता है कि केवल मानवीय चिंतन ही नहीं, बल्कि प्रत्येक विषय को विकास की इन तीन अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ा है। इस प्रकार प्रत्येक विषय का विकास सरल से जटिल और जटिल से अत्यधिक जटिल की ओर हुआ है। काम्टे ने निम्नलिखित आधारों पर विभिन्न विज्ञानों का श्रेणीक्रम निर्धारित किया है–

- विज्ञानों की शुरुआत और विकास का क्रम,
- पारस्परिक निर्भरता का क्रम; प्रत्येक विज्ञान अपने पूर्ववर्ती विज्ञान पर आधारित होता है तथा अपने से आगे के विज्ञान के लिए आधार प्रदान करता है,
- विज्ञानों की विषय–वस्तु का विकास के क्रम में सरलता से जटिलता की ओर बढ़ना तथा
- अध्ययनों के अंतर्गत आने वाले तथ्यों में संशोधन की बढ़ती क्षमता।

इस प्रकार काम्टे ने विज्ञानों की शुरुआत और जटिलता के अनुसार विज्ञानों का क्रम निर्धारित किया है– गणित, खगोल विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान और समाजशास्त्र। काम्टे के अनुसार समाजशास्त्र सबसे जटिल विज्ञान है, क्योंकि अन्य विज्ञानों की विषय–वस्तु की तुलना में समाजशास्त्र की विषय–वस्तु जटिल और सामान्य दोनों है। समाजशास्त्र में समाज जैसे सबसे जटिल विषय का अध्ययन किया जाता है और यही कारण है कि यह विषय अन्य विज्ञानों की तुलना में बाद में अस्तित्व में आया।

1.2.2 तीन स्तरों का नियम

अपने अध्ययनों में काम्टे ने सेंट साइमन के शिष्य के तौर पर कार्य करते हुए मानव जाति के विकास की अवस्थाओं को क्रमबद्ध तौर पर जानने के लिए प्रयास किया था और इसमें प्रारंभिक अवस्था से लेकर यूरोप के सभ्य समाज तक की अवस्था को शामिल किया था। काम्टे ने अपनी अध्ययन पद्धतियों में तुलनात्मक और वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग किया तथा मानव समाज की प्रगति के नियम अथवा उद्‌विकास की तीन अवस्थाओं के नियम को प्रतिपादित किया।

काम्टे के अनुसार मानव समाज का विकास व्यक्ति के बौद्धिक विकास के साथ हुआ है तथा उनकी विचारधारा भी तीन प्रमुख अवस्थाओं से गुजरकर विकसित हुई है जो धर्मशास्त्रीय, तत्वमीमांसीय और प्रत्यक्षवादी अवस्थाओं के नाम से क्रमशः जानी जाती है। सामाजिक चिंतन के क्षेत्र में काम्टे ने तीन स्तरों के नियम का प्रतिपादन करके अपना विशिष्ट योगदान दिया है। काम्टे के अनुसार मानव के बौद्धिक विकास के

अध्ययन से ज्ञात होता है कि इनके विकास का क्रम तीन अवस्थों से होकर गुजरा है, जो इस प्रकार है –

मानव के बौद्धिक विकास का स्तर

3. प्रत्यक्षवादी स्तर

↑

2. तात्विक स्तर

↑

1. धार्मिक स्तर

1. धार्मिक स्तर (Theological Stage)
2. तात्विक स्तर (Metaphysical Stage)
3. प्रत्यक्षवादी स्तर (Positivistic Stage)

काम्टे द्वारा प्रतिपादित 'तीन स्तरों के नियम' को विस्तारपूर्वक निम्न प्रकार से समझा जा सकता है –

(1) धार्मिक स्तर– इस स्तर में सभी चीजों और घटनाओं को अलौकिक प्राणी की तात्कालिक क्रियाओं का परिणाम अथवा ईश्वर के प्रतिरूप के तौर पर समझा जाता है। इसमें विश्वास किया जाता है कि सभी चीजों का कार्यरूप अलौकिक शक्तियां हैं और सभी वस्तुओं में वही शक्ति व्याप्त है। पेड़–पौधे से लेकर जल, हवा, आग, पानी तक में वही शक्ति क्रियाशील है। इस स्तर पर प्राकृतिक घटनाओं के घटित होने पर मानव को देवी–देवता अथवा अन्य कोई अलौकिक शक्ति नामक केवल एक ही कारण दिखाई देता है।

काम्टे का मानना है कि ''सभी समाजों में तथा सभी युगों में मानव के बौद्धिक विकास अथवा अध्ययन करने की हमारी अवधारणा, हमारे ज्ञान की प्रत्येक शाखा, एक के बाद एक तीन विभिन्न सैद्धांतिक अवस्थाओं से होकर गुजरती है, धार्मिक या काल्पनिक अवस्था, तात्विक या अमूर्त अवस्था एवं प्रत्यक्षवादी या वैज्ञानिक अवस्था।'' धार्मिक स्तर अथवा धार्मिक अवस्था के अंतर्गत सृष्टि की आवश्यक प्रकृति की खोज करने में अथवा प्राकृतिक घटनाओं की उत्पत्ति और उद्देश्य की खोज करने के प्रयास में मानव मस्तिष्क यह मान लेता है कि सभी घटनाएं अलौकिक प्राणियों की तात्कालिक क्रियाओं का परिणाम हैं। तात्विक स्तर अथवा तात्विक अवस्था के अंतर्गत मानव मस्तिष्क यह मान लेता है कि अलौकिक प्राणी नहीं, अपितु अमूर्त शक्तियां जो सभी घटनाओं में निहित होती हैं सभी घटनाओं को पैदा करती हैं। विकास का अंतिम चरण प्रत्यक्षवादी स्तर अथवा प्रत्यक्षवादी अवस्था को माना गया है, जिसके अंतर्गत मानव मस्तिष्क निरपेक्ष धारणाओं, विश्व की उत्पत्ति तथा लक्ष्य एवं घटनाओं के कारणों की अनावश्यक खोज को त्याग देता है तथा उनके कार्य के नियमों के तहत

अध्ययन में लग जाता है तथा साधन के रूप में तर्क और निरीक्षण को अपना आधार बनाता है।

टिप्पणी

धार्मिक स्तर को तीन उप–स्तरों में विभाजित किया है– जीवित–सत्तावाद, बहु–देववाद तथा एक–देववाद।

- **जीवित–सत्तावाद**– यह धार्मिक स्तर का प्रथम उप–स्तर है। इस उप–स्तर में सभी चीजों में एक जीवित सत्ता का अनुभव किया जाता है तथा उसी के अनुसार उनकी अलौकिक शक्तियों पर विश्वास किया जाता है।
- **बहु–देववाद**– यह धार्मिक स्तर का द्वितीय उप–स्तर है। इस स्तर पर मानव मस्तिष्क अधिक सुसंगठित होता है, जिस कारण अनेक देवी–देवताओं को सम्मिलित रूप से देखने की भावना पैदा होती है, जिस कारण जीवन से संबंधित विभिन्न देवी–देवताओं का जन्म होता है। इसे बहु–देववाद का स्तर इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसमें अनेक देवताओं पर विश्वास किया जाता है, जो जीवन के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं।
- **एक–देववाद**– यह धार्मिक स्तर का तृतीय और अंतिम उप–स्तर है। अनेक देवी–देवताओं के कारण लोगों में मानसिक उलझन बन जाती है, जिस कारण लोगों में यह भावना पैदा होती है कि वे अपने समस्त चिंतन एवं श्रद्धा–विश्वास को अनेक देवी–देवताओं में नहीं बांटकर किसी एक देवता पर अपनी समस्त श्रद्धा, विश्वास, आदि को समर्पित कर दें। एक देववाद की स्थिति में यह विश्वास किया जाता है कि प्रत्येक घटना अथवा वस्तु का कारण किसी एक देवता का कार्य है। इस उप–अवस्था में यह विश्वास होता है कि ईश्वर केवल एक है तथा सभी वस्तुएं और घटनाएं उसी एक ईश्वर की रचना हैं।

(2) तात्विक स्तर– इस स्तर पर ईश्वर की वैयक्तिक शक्ति की धारणा का अंत हो जाता है। ईश्वर का चिंतन व्यक्ति के रूप में नहीं होकर एक अमूर्त शक्ति के तौर पर होता है। विश्व में होने वाली समस्त घटनाओं का कारण एक व्यक्ति के रूप में ईश्वर को नहीं मानकर एक अदृश्य और निराकार सत्ता को माना जाता है। इस अदृश्य और निराकार शक्ति का अस्तित्व है, लेकिन उसका संबंध किसी व्यक्ति अथवा शरीर–विशेष से नहीं माना जाता है। इस अमूर्त और निराकार शक्ति के आधार पर जो कुछ घटित होता है वह शाश्वत और अपने–आप में परिपूर्ण होता है।

(3) प्रत्यक्षवादी स्तर– प्रत्यक्षवादी अथवा वैज्ञानिक स्तर पर मानव मस्तिष्क तात्विक विचारों को त्यागकर निरीक्षण एवं तर्क के आधार पर संसार की सभी घटनाओं को समझने और परिभाषित करने लगता है। काम्टे के अनुसार तर्क और निरीक्षण सम्मिलित रूप में वास्तविक ज्ञान का आधार होता है। जब हम किसी घटना की सामान्य व्याख्या करते हैं तो कुछ सामान्य तथ्यों एवं उस घटना–विशेष के मध्य संबंधों को खोजने का प्रयास करते हैं। यह खोजना निरीक्षण के माध्यम से ही वास्तविक हो सकता है। निरीक्षण एक प्रमाण है, क्योंकि यह यथार्थ है, कल्पना नहीं। काम्टे का मानना है कि संसार के विभिन्न तथ्यों, घटनाओं आदि को समझने का यथार्थ और कारणात्मक साधन

निरीक्षण तथा वर्गीकरण है। प्रत्यक्षात्मक अथवा वैज्ञानिक स्तर पर ज्ञान का संग्रह साध्य अथवा अंतिम लक्ष्य है।

टिप्पणी

कार्म्टे का मानना है, आवश्यक नहीं कि विकास के ये तीनों स्तर एक–दूसरे से पूरी तरह से अलग हों या एक स्तर के बाद दूसरे स्तर की शुरुआत हो। यह भी संभव है कि ये स्तर एक ही समाज में अथवा एक ही मानव मस्तिष्क में साथ–साथ पाये जाते हों। यह भी संभव है कि धार्मिक विषयों में हम धार्मिक स्तर पर हों, जीवन के आदर्शों के विषय में तात्विक स्तर पर हों तथा जीवित रहने के साधनों के संबंध में वैज्ञानिक स्तर पर हों, इन तीनों स्तरों का बेहतरीन उदाहरण भारतीय समाज में देखा जा सकता है। कार्म्टे ने उदाहरण देते हुए कहा है कि एक वैज्ञानिक, जो अन्य सभी विषयों में वैज्ञानिक पद्धति में विश्वास करता है यदि उसके इकलौते पुत्र की मृत्यु हो जाती है, तो हो सकता है कि वैज्ञानिक ढंग से वह अपने–आप को सांत्वना नहीं दे पाये। ऐसे अवसरों पर तात्विक विचारों का अधिक सहारा लिया जाता है और वह यह सोचता है कि ''संसार में मिलन–विरह, सुख–दुःख दोनों को सहना पड़ता है।'' अथवा हो सकता है कि वह धार्मिक आधार पर तसल्ली देने के लिए यह निष्कर्ष निकाले कि ''ईश्वर जो कुछ भी करता है, हमारी भलाई के लिए ही करता है।'' इससे स्पष्ट हो जाता है कि मानव ज्ञान अथवा चिंतन के उपर्युक्त तीनों स्तर अथवा अवस्थाएं एक ही समाज में एक ही मानव मस्तिष्क में एक समय में साथ–साथ पाये जा सकते हैं। कार्म्टे का मानना है कि मानव चिंतन की अवस्थाओं और सामाजिक संगठन में प्रत्यक्ष संबंध देखा जा सकता है तथा इसलिए मानव चिंतन के प्रत्येक स्तर पर सामाजिक संगठन पाया जाता है।

मानव–ज्ञान जब धार्मिक स्तर पर होता है तब सभी चीजों की तरह सामाजिक जीवन और संगठन को भी भगवान की इच्छा का प्रतिरूप मान लेता है। इस स्तर पर समाज का स्वरूप संबंधी सिद्धांत 'ईश्वरीय सिद्धांत' होता है, जिसके अनुसार समाज की उत्पत्ति और अस्तित्व ईश्वर की इच्छा से है। यही कारण है कि ऐसे समाज में राजनीतिक सत्ता ईश्वरीय अधिकार पर आधारित होती है। राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है तथा इसलिए माना जाता है कि राजा के समस्त उचित–अनुचित आदेश पर बिना विचार करते हुए सभी को मानना चाहिए, क्योंकि राजा का आदेश ईश्वर का आदेश होता है। राजा अपने कार्यों के लिए ईश्वर को छोड़कर किसी और के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है। राजा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि होता है, इस कारण उसके शब्द ही कानून हैं और इस प्रकार इन कानूनों के पीछे ईश्वरीय शक्ति होती है। किसी को भी यह अधिकार नहीं है कि वह इन कानूनों की औचित्यता अथवा नैतिकता पर विचार करे। धार्मिक स्तर पर अनेक लोक–कथाओं द्वारा सामाजिक नियंत्रण किया जाता है तथा लोगों को धार्मिक डर दिखाकर कानूनों का पालन करवाया जाता है। लोगों को यह विश्वास दिलाया जाता है कि यदि उन्होंने इन कानूनों का पालन नहीं किया तो ईश्वर के दण्ड का उन्हें भागी बनना पड़ेगा।

मानव–ज्ञान के तात्विक स्तर पर सामाजिक संगठन तथा राज्य–शक्ति के स्वरूप में परिवर्तन होता है। इस अवस्था में ईश्वरीय अधिकार की अवधारणा की

जगह प्राकृतिक अधिकार को महत्व दिया जाता है और इसी के आधार पर मानव का राजनीतिक संबंध निर्धारित, नियमित और संचालित होता है। तात्विक स्तर पर राजा की निरंकुश सत्ता कम हो जाती है और उसकी जगह पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता की अवधारणा की शुरुआत हो जाती है। इस स्तर पर अतीत के बहुत–से अंधविश्वास खत्म होने लगते हैं तथा वैज्ञानिक स्तर पर जाने के लिए राह खुलती है, लेकिन पुरातन और नवीन व्यवस्था में सामंजस्य की कमी के कारण बहुधा रक्तपात और अराजकता की स्थिति पैदा हो जाती है। इस अवस्था में पुरोहितवाद का भी विकास हो जाता है। इसमें माना जाता है कि धार्मिक संघ हमेशा ही विशुद्ध रहता है तथा इसी कारण राज्य की तुलना में धार्मिक संघ का स्थान ऊपर और पवित्र होता है। विश्व अथवा लोक में मुक्त और बद्ध करने का एकमात्र अधिकार धर्म संघों को होता है यानी धर्म संघों की सत्ता लौकिक विषयों में भी सर्वोच्च होती है, परंतु धर्म संघों ने अपने ये अधिकार स्वयं अपने हाथ में नहीं रखकर राजा को हस्तांतरित कर दिए हैं। इस प्रकार राजा के सभी अधिकार सीधे ईश्वर से प्राप्त नहीं होकर धर्म संघों के माध्यम से प्राप्त होते हैं।

मानव–ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा वैज्ञानिक अवस्था का आधार निरीक्षण, परीक्षण तथा प्रयोग की व्यवस्थित कार्यप्रणाली होता है। इस अवस्था के चिंतकों के विचार में उन्मुक्त तर्क अथवा बुद्धिवाद प्रभावी होता है। ये विचारक घटनाओं के अंतिम कारणों को खोजने की अपेक्षा अपने को वहीं तक सीमित रखते हैं, जहां तक अनुभव और निरीक्षण का क्षेत्र विस्तृत होता है। इस तरह यह अवस्था विज्ञान के अधिकाधिक विकास के अनुकूल परिस्थितियां पैदा करती है और इस अवस्था में इसी कारण औद्योगिक युग का आरंभ होता है। इस अवस्था में नई खोज करने की प्रवृत्ति बढ़ती है तथा लोकतांत्रिक राज्य के संगठन का प्रारंभ होता है। नई वैज्ञानिक खोजों के कारण प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग संभव होता है। समाज के सदस्यों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित होता है, शिक्षा के साथ ही सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना को क्रियान्वित किया जाता है, मानवता के धर्म का विकास होने जैसे कार्यों का होना संभव होता है। इस तरह से इस अवस्था में समाज में भौतिक, बौद्धिक एवं नैतिक शक्तियों के मध्य सामंजस्य स्थापित होता है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. अगस्ट काम्टे का जन्म कब हुआ था?
   (क) 1898 में (ख) 1798 में
   (ग) 1899 में (घ) 1699 में
2. सामाजिक चिंतन के क्षेत्र में काम्टे ने कितने स्तरों के नियम का प्रतिपादन किया है?
   (क) दो (ख) चार
   (ग) तीन (घ) छह

1.3 इमाइल दुर्खीम का समाजशास्त्रीय चिंतन

इमाइल दुर्खीम का जन्म 15 अप्रैल, 1858 को एपिनल, फ्रांस में हुआ था। वे यहूदी धर्माधिकारी के वंशज थे और उन्होंने स्वयं भी यहूदी धर्माधिकारी बनने की पढ़ाई की। यद्यपि जब वे अपनी किशोरावस्था में थे, उन्होंने अपनी परंपरा को छोड़ दिया और नास्तिक बन गए। यहां से जीवनपर्यन्त धर्म के प्रति उनकी रुचि आध्यात्मिक की बजाय शैक्षणिक की रही। वे अपनी धार्मिक शिक्षा से संतुष्ट नहीं थे। वे अपनी स्कूली शिक्षा वैज्ञानिक तरीके से चाहते थे एवं सामाजिक जीवन के लिए नैतिक सिद्धान्तों की अनिवार्यता को समझते थे। उन्होंने दर्शन के लिए पारंपरिक शैक्षणिक वृत्ति का चुनाव नहीं किया, बल्कि समाज को नैतिक मार्गदर्शन में योगदान देने के लिए वैज्ञानिक शिक्षण प्राप्त करने का प्रयास किया। हालांकि उनकी रुचि वैज्ञानिक समाजशास्त्र में थी, जबकि उस समय इस विशेष प्रकार का समाजशास्त्र नहीं था। इसलिए 1882 और 1887 के मध्य उन्होंने प्रांतीय विद्यालयों में दर्शनशास्त्र का अध्यापन कार्य किया।

विज्ञान के प्रति उनकी जिज्ञासा जर्मनी की एक यात्रा से और बढ़ गयी जहां उन्होंने विल्हेम वुन्ड को वैज्ञानिक मनोविज्ञान के अन्वेषक के रूप में देखा। जर्मनी यात्रा के तुरंत बाद के वर्षों में उन्होंने अपने अनुभवों के बारे में अपनी अवधारणा पर आधारित कुछ सामग्री छपवायी। इन प्रकाशनों ने उन्हें 1887 में बॉरडॉक्स विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में स्थान बनाने में मदद प्रदान की। दुर्खीम ने एक फ्रांसीसी विश्वविद्यालय को समाज विज्ञान के पहले पाठ्यक्रम का प्रस्ताव दिया। यह एक विशेष उपलब्धि थी, क्योंकि केवल एक दशक पहले एक फ्रांसीसी विश्वविद्यालय में अगस्ट काम्टे द्वारा दिए गए एक शोध व्याख्यान में अत्यधिक उत्तेजना उभरी थी। दुर्खीम की मुख्य जिम्मेदारी स्कूली शिक्षकों को शिक्षण पाठ्यक्रम में शिक्षा देना थी तथा उनका सबसे महत्त्वपूर्ण पाठ्यक्रम नैतिक शिक्षा का क्षेत्र था। उनका उद्देश्य शिक्षकों में नैतिक शिक्षा का संचार करना था जिसके बारे में उन्हें उम्मीद थी कि वे उसे युवा लोगों में फैलाएंगे तथा जिससे फ्रांसीसी समाज में हो रहे नैतिक पतन को रोकने में मदद मिलेगी।

बाद के वर्षों में दुर्खीम को मिली व्यक्तिगत सफलताओं के कारण विशेष हैं। 1893 में उन्होंने अपनी पहली डॉक्टरेट शोध 'द डिवीजन ऑफ लेबर इन सोसायटी' के साथ मॉन्टेस्क्यू पर शोध प्रकाशित किया। उनका प्रमुख सैद्धान्तिक वाक्य 'द रूल्स ऑफ सोशियोलॉजिकल मैथड' 1885 में आया तथा इसके बाद 1887 में आत्महत्या से संबंधित अध्ययन में उनके अनुभवजन्य तरीके छपे। 1896 तक वे बॉरडॉक्स विश्वविद्यालय में पूर्ण रूप से प्रोफेसर बन चुके थे। 1902 में उन्हें विख्यात फ्रांसीसी विश्वविद्यालय सॉरबॉन द्वारा आमंत्रित किया गया तथा 1906 में वे 'शिक्षा के विज्ञान के प्रोफेसर' के रूप में विख्यात हुए। यह उपाधि 1913 में बदल कर 'शिक्षा के विज्ञान एवं समाजशास्त्र के प्रोफेसर' हो गई। 1912 में उनका एक अन्य विख्यात कार्य 'द ऐलीमेन्ट्री फॉर्म्स ऑफ रिलिजियस लाइफ' प्रकाशित हुआ।

वर्तमान में दुर्खीम मुख्यतया राजनीतिक रूढ़िवादी के रूप में देखे जाते हैं एवं समाजशास्त्र में निश्चय ही उनका प्रभाव एक रूढ़िवादी का रहा है। तथापि अपने

समय में वे एक उदारवादी माने जाते थे। इसका दृष्टांत अल्फ्रेड ड्रेफ्स तथा यहूदी सैनिक कप्तान का बचाव करने में उनकी सक्रिय भूमिका निभाना है जिसे राजद्रोह के कारण कोर्टमार्शल देने के संबंध में यहूदी विरोधी कार्य के रूप में माना जा रहा था।

टिप्पणी

दुर्खीम ड्रेफ्स के मामले में, विशेष रूप से इसके यहूदी विरोधी होने के कारण बहुत नाखुश थे। यद्यपि दुर्खीम ने इसे फ्रांसीसियों में नस्लवाद के कारण यहूदी विरोधी होना नहीं माना था। उन्होंने इसे विशेष रूप से पूरे फ्रांसीसी समाज में नैतिक पतन के लक्षण के रूप में देखा था।

दुर्खीम की ड्रेफ्स के मामले में रुचि उनके जीवनपर्यन्त नैतिकता के प्रति गहरी आस्था एवं आधुनिक समाज के नैतिक संकट से गुजरने के कारण थी। दुर्खीम के लिए ड्रेफ्स के मामले और इस जैसे संकट का उत्तर समाज में नैतिक अव्यवस्था की समाप्ति में था। क्योंकि यह आसानी और शीघ्रता से नहीं किया जा सकता था उन्होंने सरकारी प्रयासों का सुझाव दिया जिससे आम लोगों को यह दर्शाया जा सके कि वे किस प्रकार गुमराह किये जा रहे हैं। उन्होंने लोगों से यह अपील की कि 'उनमें अपनी सोच को जोरदार तरीके से प्रकट करने का साहस होना चाहिए तथा उन्हें एकजुट होकर लोक उन्माद के विरुद्ध संघर्ष कर अपनी जीत सुनिश्चित करनी चाहिए (लुकास, 1972, 347)।

दुर्खीम की साम्यवाद में अभिरुचि भी उनके रूढ़िवादिता के विचार के विरुद्ध एक साक्ष्य है, परन्तु उनके प्रकार का साम्यवाद उस समय परिकल्पना के बाहर था (लुकास, 1972, 323)। दुर्खीम के लिए साम्यवाद एक प्रकार के आंदोलन का प्रतीक था जिसमें वैज्ञानिक नैतिकता के द्वारा नैतिकता को पुनर्जीवित करने का उद्देश्य था तथा उन्हें साम्यवाद के किसी लघुकालीन राजनीतिक या आर्थिक तरीकों के पहलू में कोई अभिरुचि नहीं थी। वे सर्वहारा को समाज की मुक्ति के रूप में नहीं देखते थे तथा वे उत्तेजना या हिंसा के घोर विरोधी थे। दुर्खीम के लिए साम्यवाद हमारे द्वारा सामान्य रूप से विचारित साम्यवाद से बिल्कुल भिन्न था और वे इसे एक ऐसी व्यवस्था के रूप में देखते थे जिसके अन्तर्गत वैज्ञानिक समाजशास्त्र द्वारा अन्वेषित नैतिक सिद्धान्त प्रयुक्त किये जाने थे।

दुर्खीम का समाजशास्त्र के विकास में गहरा प्रभाव था, लेकिन उनका प्रभाव केवल यहीं तक सीमित नहीं था। अन्य क्षेत्रों में भी उनका प्रभाव था जो उनके द्वारा 1898 में स्थापित एक पत्रिका 'ले एन्नि सोशियोलॉजिक' के माध्यम से उद्घाटित हुआ। इस पत्रिका से संबद्ध एक बुद्धिजीवी वर्ग का उदय हुआ जिसके केन्द्र में दुर्खीम थे। इसके माध्यम से मानव विज्ञान, इतिहास, भाषा–विज्ञान, मनोविज्ञान आदि विषयों पर भी उनके विचारों का प्रभाव पड़ा।

दुर्खीम का निधन बुद्धिजीवी वर्ग के एक प्रख्यात व्यक्ति के रूप में 15 नवंबर, 1917 को हुआ। यद्यपि बीस साल के बाद, टेलकॉट पार्सन्स के द्वारा 1937 में 'द स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन' का प्रकाश हुआ जिससे अमेरिकन समाजशास्त्र पर उनके कार्यों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा।

टिप्पणी

विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र

दुर्खीम के समाजशास्त्र की आधारभूत विशेषता इसके दृढ़ आधार में ठोस एवं ज्ञानमीमांसा का होना है। वस्तुतः फ्रांसीसी समाजशास्त्रियों की बौद्धिक पद्धति समाजशास्त्र को निरंतर प्रयासों द्वारा एक ठोस ज्ञानमीमांसात्मक आधार देना रही है (वास्तव में, ज्ञानमीमांसात्मक चिंता उनकी शोध के प्रति अभिरुचि का केन्द्र रही है)। दुर्खीम के समाजशास्त्र में हम दो सामान्य सिद्धान्त देखते हैं– (1) समाजशास्त्र को प्रत्यक्षवाद पर आधारित भौतिक–प्राकृतिक विज्ञान के समान पद्धति के जैसा विज्ञान होना चाहिए एवं (2) समाज का यह प्रत्यक्षवादी विज्ञान दर्शन और मनोविज्ञान के विपरीत है।

समाजशास्त्र की स्थापना करने वालों में एक अगस्ट काम्टे के प्रत्यक्षवाद को दुर्खीम के द्वारा 'विज्ञान' के एक नमूने के रूप में लिया गया। यह ध्यान रखना अनिवार्य है कि दुर्खीम के समाजशास्त्र पर अगस्ट काम्टे का गहरा प्रभाव है। अगस्ट काम्टे के विचारों ने सभी विज्ञानों की सकारात्मक प्रगति का, जिसका अंतिम पड़ाव समाजशास्त्र होगा, बचाव किया (जिसे उन्होंने आरंभ में सामाजिक भौतिक का नाम दिया)। यह सबसे अधिक परिष्कृत सकारात्मक विज्ञान था, क्योंकि इसने पूर्व के सभी विज्ञानों के योगदानों को अध्ययन की विषय वस्तु में एकीकृत किया।

दुर्खीम विज्ञान को विचारों या अवधारणाओं से नहीं, बल्कि वस्तु से संबद्ध मानते हैं। इसलिए, उनका आरंभिक कार्य संवेदनशील है, संवेदनशील जानकारी है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि वस्तुनिष्ठ रूप में विज्ञान की शुरुआत अवधारणा के रूप में नहीं हुई, बल्कि संवेदना के रूप में हुई। इसे संवेदनशील तथ्यों के तत्वों से सीधे तौर पर आरंभिक परिभाषा में लेना चाहिए। निश्चय ही यह सकारात्मकता उनके सर्वाधिक विख्यात एवं विवादास्पद ज्ञानमीमांसात्मक नियमों के प्रतिपादन की ओर ले जाती है, उसमें सामाजिक तथ्यों को वस्तु के रूप में विचारा जाना चाहिए। जब फ्रांसीसी समाजशास्त्री 'वस्तु' अभिव्यक्ति का प्रयोग करते हैं तो वे इसे पूर्णतः वास्तविक रूप में करते हैं : 'अवलोकन पर आरोपित करने की बजाय, वह सब कुछ जो दिया गया है, जो प्रस्तावित है, निश्चय ही, यह एक वस्तु है। घटना को वस्तु के जैसा समझना, उसके तथ्य के गुणों को समझना, जिससे विज्ञान का आरंभिक बिंदु बनता है'। दुर्खीम के लिए वस्तु कोई सामग्री के अर्थ में नहीं है जैसा सामान्य रूप से पहले कहा गया था। वस्तुतः, 'वस्तु' की अभिव्यक्ति का प्रयोग 'विचार' के संभावित सशक्त विरोध में किया गया है। इसका कारण यह नहीं है कि समाजशास्त्र को भौतिक सामग्री के साथ संबंध रखना चाहिए, बल्कि समाजशास्त्र को पूर्वाग्रहित विचारों से दूर रहना है। अतः इसे समाजशास्त्रीय आदर्शों से दूर रहने की आवश्यकता है। जिससे पहले के विचारों के विश्लेषण को रोका जाएगा जिन्हें शोध के आरंभिक बिंदु के रूप में लिया जाता है तथा जिसके अनुसार आवश्यकता को वास्तविकता से समायोजित किया जाता है। 'वस्तु' की अभिव्यक्ति में शब्दार्थ की संशयात्मकता के बावजूद दुर्खीम ने इसके दो उद्देश्यों का दावा किया–

1. विज्ञान के भौतिक–प्राकृतिक सकारात्मक प्रतिमानों के अनुसार, समाजशास्त्र का एक स्पष्ट उद्देश्य वास्तविक वैज्ञानिक विशेषता सुनिश्चित करना है। भौतिक

टिप्पणी

विज्ञान या खगोलशास्त्र की तरह समाजशास्त्र भी अपने शोधकर्ताओं के लिए उंगलियों पर गिने जाने लायक स्पष्ट सीमित तथ्यों के साथ विषय सामग्री की भांति होता है। इसलिए समाजशास्त्र भ्रम या काल्पनिक आवेशों के साथ व्यवहार नहीं करता है।

2. समाजशास्त्रियों के द्वारा 'वस्तु' को अधिक स्पष्ट अर्थों में इस तथ्य के द्वारा – जो सामाजिक एवं ऐतिहासिक रूप से निर्मित है आरोपित किया गया है। निश्चय ही, सामाजिक वास्तविकता संरचित है, यद्यपि यह मूर्त हो जाती है। यहां 'वस्तु' का सही अर्थ है वह सामाजिक तथ्य जो मानव निर्मित है तथा यह उसी रूप में हमारे समक्ष आता है तथा समाजशास्त्री इसकी परख करते हैं और इसे परिभाषित एवं विश्लेषित करते हैं। महत्वपूर्ण यह है कि दुर्खीम के अनुसार, अन्य विज्ञान की तरह समाजशास्त्र अवलोकन पर आधारित है। इसलिए, सामाजिक तथ्यों को वस्तु के जैसा देखा जाता है एवं वैज्ञानिक अवलोकन द्वारा दोगुनी विशेषता सुस्पष्ट होती है, वे व्यक्ति के बाहर होते हैं एवं उनके लिए अनिवार्य होते हैं।

दुर्खीम का उद्देश्य दर्शनशास्त्र को संरक्षित रखने के लिए इसकी शिक्षा माध्यमिक स्तर पर करने की थी। यद्यपि, इसके लिए वे दर्शनशास्त्र को मात्र अमूर्त साहित्य के रूप में नहीं रखना चाहते थे। मात्र ऐसी अभिव्यक्ति जो कलाकार की इस क्षमता पर आधारित हो, जिस प्रकार केवल आनंद पाने के लिए न कि किसी कारण को संतुष्ट करने के लिए, जिसमें केवल वह सौन्दर्य या कलात्मक प्रभाव दर्शाता है न कि किसी अभिव्यक्ति को, वह एक दृश्य और इसके विभिन्न रूपों के सम्मिश्रण से करता है। वे दर्शन को अधिक वैज्ञानिक बनाना चाहते थे जो आध्यात्मिक गणनाओं से परे हो। वस्तुतः, तत्वमीमांसा की अस्वीकृति ही दुर्खीम के ज्ञानमीमांसा के मार्गदर्शक सिद्धान्तों में एक थी। दर्शन के प्रति उनके मतभेद का उद्देश्य समाजशास्त्र को एक अस्पष्ट सामाजिक दर्शन से अधिक बनाना था, अर्थात सामाजिक तथ्यों के अध्ययन को अधिक सकारात्मक निरंतरता देना था।

उनके द्वारा अलौकिक या आध्यात्मिक दृष्टिकोण से होने वाली समस्या को अस्वीकार करना एक सामाजिक तथ्य था जो नैतिक आधार पर अपनी भूमिका अदा करता था, जैसे कैंट ने ईश्वर को व्यावहारिक कारणों के लिए स्वयंसिद्ध माना था।

व्यक्ति सामाजिक तथ्यों को बाहरी एवं आवश्यक समझता है, क्योंकि इसका मूल उसके अधिकार में नहीं होता है, बल्कि यह समाज की अद्वितीय वास्तविकता होती है। हालांकि दुर्खीम इस बात से इन्कार नहीं करते हैं कि समाज का निर्माण लोगों के द्वारा होता है। वस्तुतः, समाज की बुनियाद व्यक्ति के रूप में होती है, लेकिन यह उन्हीं तक सीमित नहीं है। यदि यह एक खास तरह से कहना संभव है कि सामूहिक प्रतिनिधित्व व्यक्तिगत विवेक के बाहर है, यह इसलिए है क्योंकि यह अलग व्यक्ति से प्राप्त नहीं होता है बल्कि उनके समूह से प्राप्त होता है, जो बहुत भिन्न होता है। अपने शोध का उदाहरण उन्होंने रासायनिक संश्लेषण से दिया है। जिसमें यह अपने संघटक तत्वों में नहीं सीमित हो जाता है, बल्कि बने पदार्थ को नया गुण प्रदान करता है। यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्र में गेब्रिएल टार्ड से मूलभूत विरोध है, जिन्होंने समाजशास्त्र को

व्यक्तिगत विवेक एवं सामूहिक व्यवहार को अनुकरण के द्वारा सामाजिक संक्रमण के अध्ययन तक सीमित कर दिया। दुर्खीम का उद्देश्य था कि समाजशास्त्र की मनोविज्ञान से अलग एक खास अध्ययन सामग्री होनी चाहिए तथा सामाजिक वास्तविकता के निर्माता के रूप में जिसका अध्ययन समाजशास्त्र करता है और इसलिए उन्होंने सामाजिक सिद्धान्तों को अद्वितीय सत्यता के रूप में आरंभ किया।

1.3.1 आत्महत्या का सिद्धांत

दुर्खीम ने पुस्तक 'सुसाइड' में आत्महत्या पर अध्ययन किया है। उनका उद्देश्य इस पुस्तक में मात्र आत्महत्या से संबंधित विवरण देना नहीं है, अपितु यह दृष्टांत भी प्रस्तुत करना है कि किस प्रकार मनुष्य के अधिकांश कार्यों में इन पद्धतियों को प्रयुक्त किया जा सकता है। दुर्खीम ने इस पुस्तक में दर्शाया है कि व्यक्ति किस सीमा तक सामूहिक वास्तविकता से निर्धारित होते हैं। दुर्खीम ने यह प्रदर्शित किया कि किस प्रकार सामाजिक ढंग में अपने जीवन को लेना सर्वाधिक वैयक्तिक एवं व्यक्तिगत कार्य रूप है। उन्होंने यह भी दर्शाया कि व्यक्ति के बाहर स्थित सामाजिक शक्तियां व्यक्ति के आत्महत्या करने के लिए संभावना बनाती हैं।

आत्महत्या को यानी स्वयं व्यक्ति के द्वारा किए गए कार्य को सकारात्मक या नकारात्मक कार्य के रूप में परिभाषित किया जाता है जो परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसकी मृत्यु के रूप में होता है। किसी व्यक्ति के द्वारा अपने सिर में गोली मार लेना या अपने को लटका देना सकारात्मक कार्य के रूप का उदाहरण होगा। आत्महत्या के नकारात्मक कार्य का उदाहरण है कि यदि कोई व्यक्ति अपने जलते हुए घर में रहे या अपने लिए सभी पोषण को नकार दे जिससे भूख से उसकी मृत्यु हो जाएगी। दुर्खीम की परिभाषा के अनुसार, आत्महत्या के रूप में किसी व्यक्ति की भूख हड़ताल करने से हुई मृत्यु का उदाहरण ले सकते हैं। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष में अंतर सकारात्मक एवं नकारात्मक के बीच तुलना से संबद्ध है। अपने सिर में गोली मारने से हुई मृत्यु प्रत्यक्ष है, परन्तु किसी के द्वारा भोजन का त्याग करना अथवा जलते हुए घर में रह जाना जैसे नकारात्मक कार्य से वांछित परिणाम के रूप में अप्रत्यक्ष या निकट भविष्य में मृत्यु होगी।

आत्महत्या के अध्ययन का सरोकार– आधुनिक समाज के रोगात्मक पहलू के साथ एवं व्यक्ति का सामूहिकता के संबंध की सर्वाधिक स्पष्ट घटना– दोनों से है। दुर्खीम के द्वारा यह दर्शाया गया है कि व्यक्ति सामूहिक सत्यता से निर्धारित होता है। जबकि यह तथ्य कि किसी के द्वारा अपनी जान लेना सर्वोच्च रूप से व्यक्तिगत माना जाता है तब एक असाधारण शक्ति आत्महत्या की घटना के साथ जोड़ी जा रही होती है। दुर्खीम के अनुसार यदि वे यह पाते कि समाज इस घटना से शासित होता है, तब उन्होंने इसे अपने शोध की सत्यता से इस घटना के प्रतिकूल मामले के द्वारा सिद्ध कर दिया होता। दुर्खीम के अनुसार यह समाज ही है जो निराश व्यक्ति के एकांत में किये गये कार्य को शासित करता है और जो किसी भी कीमत पर अपने जीवन को समाप्त करना चाहता है। आत्महत्या की अवधारणा को मात्र इस तरह नहीं लिया जाना चाहिए, बल्कि इसे एक अधिकारी के आत्महत्या के उदाहरण से समझना चाहिए कि वह अपने जहाज पर अपने दुश्मनों के समक्ष आत्मसमर्पण करने की बजाय स्वयं को उड़ा देता

है। इस आत्महत्या को वीरता एवं गर्व की आभा से आच्छादित स्वैच्छिक मृत्यु के उदाहरण की तरह समझा जा सकता है। यह तथाकथित सामान्य आत्महत्या उस तरह की नहीं होती है जैसे एक फंसे हुए अपराधी, एक बर्बाद हो गए बैंकर और एक निराश प्रेमी द्वारा की गई होती है।

इस घटना की परिभाषा के बाद दूसरे स्तर पर इसके आंकड़ों को देखते हैं। जब एक खास जनसंख्या से संबद्ध इसकी आवृत्ति का अध्ययन करते हैं तो आत्महत्या की दर अपेक्षाकृत स्थिर होती है। यह विशेषता एक क्षेत्र, उपनिवेश या एक पूरे समाज में देखी जा सकती है। दुर्खीम के विश्लेषण के अनुसार, आत्महत्या की दर को सामाजिक घटना के रूप में देखा जा सकता है। सिद्धान्त के दृष्टिकोण से सामाजिक घटना (आत्महत्या की दर) एवं वैयक्तिक घटना (आत्महत्या) के संबंधों में अंतर सबसे महत्वपूर्ण बात है।

दुर्खीम के द्वारा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को नकार दिया गया। यद्यपि, वे कहते हैं कि आत्महत्या की ओर मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति होती है तथा इस प्रवृत्ति की व्याख्या मनोवैज्ञानिक या मनोरोग के अर्थ में हो सकती है। दिमागी बीमारी से पीड़ित व्यक्ति में विशेष परिस्थितियों में अपने को मार डालने की संभावना होती है। फिर भी, दुर्खीम के अनुसार आत्महत्या सामाजिक बल के द्वारा निर्धारित होती है न कि मनोवैज्ञानिक कारकों के द्वारा होती है। सामाजिक निर्धारक एवं मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के बीच के अंतरों को सावधानीपूर्वक समझना चाहिए।

दुर्खीम ने मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के अंतर्गत समाजशास्त्रीय विचार के सूत्र को सिद्ध करने के लिए आनुषांगिक रूपान्तरण की पारंपरिक पद्धतियों का प्रयोग किया। उन्होंने यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया कि मनोरोग अवस्था की आवृत्ति एवं आत्महत्या के बीच कोई संबंध नहीं है तथा उन्होंने विभिन्न आबादी वर्ग में आत्महत्या की दर की खास भिन्नताओं की भी पड़ताल की। आत्महत्या की दर एवं आनुवांशिक प्रवृत्तियों के बीच कोई संबंध नहीं पाया जाता है। आत्महत्या के प्रभावी कारण आनुवांशिकता के द्वारा स्थानान्तरित होते हैं कि परिकल्पना की तुलना उम्र बढ़ने के साथ आत्महत्या के दर में वृद्धि के साथ कठिनाई से की जा सकती है। इस तरह से एक ही परिवार में आत्महत्या के मामलों की व्याख्या को नकारा जा सकता है। फिर भी आत्महत्या की प्रवृत्ति का आनुवांशिकता के द्वारा स्थानान्तरण हो सकता है जैसे कि एक ही परिवार में आत्महत्या के कई मामले थे।

यद्यपि दुर्खीम ने दोनों ही परिकल्पनाओं को तथा अनुकरण की घटना के द्वारा आत्महत्या की व्याख्या को नकार दिया। गेब्रिएल टार्ड के द्वारा सामाजिक व्यवस्था के मूल सिद्धान्त के रूप में अनुकरण को देखा गया। अनुकरण में तीन भ्रामक घटनाएं होती हैं। प्रथम, बड़ी संख्या में लोगों के द्वारा आपसी संवेदनाओं की अनुभूति करना चेतना संयोजना है। क्रांतिकारियों की भीड़ इसका एक सटीक उदाहरण है। व्यक्तिगत चेतना की पहचान की प्रवृत्ति क्रांतिकारियों की भीड़ में मिल जाती हैं, अनुभूति की जाने वाली भावनाएं एक–दूसरे में एक जैसी हो जाती हैं और परस्पर एक–दूसरे की संवेदनाओं से व्यक्ति उद्वेलित हो जाते हैं। भावावेश, कार्य एवं विश्वास एक–दूसरे के प्रति संबद्ध हो जाते हैं, क्योंकि वे सभी से संयुक्त हो जाते हैं। एक या अन्य व्यक्ति नहीं, बल्कि सामूहिकता ही घटना का आधार बन जाती है।

टिप्पणी

व्यक्ति प्रायः अपने को सामूहिकता से जोड़ लेता है और अन्य के जैसा व्यवहार करने लगता है। चेतना का कोई वास्तविक संयोजन नहीं होता है। व्यक्ति की इच्छा अपने को विशिष्ट दिखाने की नहीं होती है तथा सामाजिक अनिवार्यताओं को जो कम या अधिक होता है वह अर्जित करता है। सामाजिक अनिवार्यताओं को प्रचलन के रूप में लिया जा सकता है। यदि एक व्यक्ति अलग तरह की पोशाक पहनता है जो मौसम के अनुसार फैशन में नहीं है, तब वह अपने को अपमानित महसूस करता है। इस प्रकार, इस मामले में हम पाते हैं कि अनुकरण की बजाय सामूहिकता के शासन के प्रति व्यक्ति की अधीनता थी। अनुकरण का प्रयोजन भावना में यथार्थ मूल्य हैं तथा पूर्व में किसी के द्वारा किए गए कार्य का बिना किसी अवरोध के प्रतिरूप समान है।

इस संदर्भ को समझने के लिए एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण दिया जा सकता है जो छींकना और खांसना आरंभ करता है एवं एक उबाऊ व्याख्यान के क्रम में संक्रमण का रूप ले लेता है। तब व्यक्ति कम या अधिक रूप में यांत्रिक प्रतिक्रिया के प्रभाव में आ जाता है जो कभी–कभी बड़ी सभा में घटता है। संक्रमण या महामारी दो घटनाओं के रूप में लिए जाते हैं। ये दोनों अंतर काफी उपयोगी हैं। पहले, खांसने के रूप में संक्रमण अंतरवैयक्तिक या व्यक्तिगत घटना कहा जा सकता है। इस प्रकार की घटनाएं एक से दूसरे में जाती हैं। महामारी के मामले में संक्रमण की प्रक्रिया के अतिरिक्त कुछ और घटित होता है। महामारी एक सामूहिक घटना है जिसका आधार सम्पूर्ण समाज होता है लेकिन यह संक्रमण के द्वारा फैल सकती है।

अनुकरण की घटना आत्महत्या की दर की अवधारणा में निर्धारक कारक है। जैसा दुर्खीम ने ऊपर के औपचारिक विश्लेषण के बाद विश्लेषित किया है। निराकरण की प्रक्रिया के अनुसार आत्महत्या को संक्रमणकारी माना जाता है। एक व्यक्ति के द्वारा आत्महत्या के भौगोलिक वितरण को दर्शाया गया जहां आत्महत्या की दर अधिक थी वहां के उद्यम में विकिरण विशेष रूप से अधिक थी और यह दूसरे क्षेत्र में भी फैल रही थी। लेकिन आत्महत्या के भौगोलिक क्षेत्र के विश्लेषण में इस तरह का कुछ भी नहीं दर्शाया गया। वह क्षेत्र जहां आत्महत्या की दर विशेष रूप से कम है वह दूसरे क्षेत्र में प्रतीत होता है जहां आत्महत्या की दर विशेष रूप से अधिक है। इसलिए, संक्रमण की परिकल्पना आत्महत्या की दर के असामान्य वितरण के प्रति असंगत है।

दुर्खीम के अनुसार, आत्महत्या के आंकड़ों के लिए अधूरे एवं आंशिक आंकड़ों की कम संख्या को लिया गया है। आंकड़ों के परिमाण के बारे में एक सोच रखना महत्वपूर्ण है। अपर्याप्त संख्या एवं आंकड़ों में संभाव्य अशुद्धि से संशयात्मकता के कारण डाक्टर यह बताते हैं कि आत्महत्या की दर से संबंधित अध्ययन लगभग बिना परिणाम के हैं। जैसा कि दुर्खीम ने पाया कि खास संख्या की परिस्थितियों में आत्महत्या दर परिवर्तित होती है। दुर्खीम ने माना कि आत्महत्या के सामाजिक प्रकारों का निर्धारण सांख्यिकीय सहसंबंधों के द्वारा हो सकता है। तीन प्रकार की आत्महत्याओं को दुर्खीम ने परिभाषित किया है–

1. अहम्वादी आत्महत्या
2. परोपकारी आत्महत्या
3. विमुखताकारी आत्महत्या

टिप्पणी

आत्महत्या की दर एवं सामाजिक संदर्भ जैसे परिवार एवं धर्म, शादी एवं बच्चों के रूप में है। इनके बीच सहसंबंध का परिणाम पहले प्रकार की आत्महत्या अर्थात अहम्वादी आत्महत्या का रूप है। सामान्य तौर पर आत्महत्या की दर उम्र के साथ परिवर्तित होती है और यह उम्र के साथ बढ़ती है एवं पुरुषों में महिलाओं की अपेक्षा अधिक होती है। दुर्खीम के जर्मनी से संबंधित आंकड़ों के अनुसार, उन्होंने धर्म से संबद्ध आत्महत्या की दर में अंतर का भी विश्लेषण किया। उन्होंने यह स्थापित किया कि आत्महत्या की आवृत्ति प्रोटेस्टेंट जनसंख्या की अपेक्षा कैथोलिक जनसंख्या में कम थी। इस विषय में आगे दुर्खीम ने एकल अथवा विधवा महिला एवं पुरुष तथा विवाहित महिला एवं पुरुष की स्थितियों की तुलना की। सामान्य सांख्यिकीय पद्धतियों के द्वारा इनकी तुलना की गयी। एक ही उम्र के विवाहित एवं एकल पुरुषों की आत्महत्या की आवृत्ति की तुलना की गयी, जिसे दुर्खीम ने गुणांक का संरक्षण कहा। विवाह के कारण एक खास उम्र की आत्महत्या की आवृत्ति में गिरावट पाई गई। इसी प्रकार, एकल या विवाहित महिला, विधवा एवं विधुर के लिए वे संरक्षण का गुणांक या उद्दीपन का गुणांक स्थापित करते हैं। खास सांख्यिकीय आंकड़ों के अनुसार, विवाहित महिलाएं उद्दीपन के गुणांक को सहती हैं। यदि वे बिना बच्चे की हैं तो वे संरक्षण के गुणांक को नहीं पा सकती हैं। इसे सटीक नाम देने के लिए आजकल के मनोवैज्ञानिकों ने महिलाओं के बच्चे नहीं रहने पर उनमें इस प्रकार की स्थिति को निराशा की तरह परिभाषित किया है। अपेक्षा और पूर्ति के बीच विषमता बहुत बड़ी है।

अहम्वादी पुरुष एवं महिलाएं मुख्य रूप से अपने बारे में ही सोचते हैं, वे किसी सामाजिक समूह के साथ समन्वित नहीं होते हैं, और उनकी आकांक्षाएं उन्हें प्रेरित करती हैं। समूह की सामाजिक सत्ता के संबंध में मानव नियति के माप के संगत तक वे सीमित नहीं रहते हैं। ऐसे व्यक्ति जब इस तरह की परिस्थितियों के समक्ष आते हैं, तो अन्य लोगों की अपेक्षा उनमें आत्महत्या अधिक देखी जाती है। दूसरे प्रकार की आत्महत्या 'परोपकारी आत्महत्या' है। दुर्खीम की पुस्तक में दो मुख्य उदाहरण दिए गए हैं। सामूहिकता में पहले उदाहरण की आवश्यकता है, जैसा कि प्राचीन समाज में देखा जाता था कि पति की मृत्यु के बाद विधवा हुई पत्नी भी अपने मृत पति की चिता में स्वंय को जीवित जला लेती थी। इस प्रकार के उदाहरण में, वैयक्तिता का पूर्ण रूप से समूह में लोप हो जाता है तथा यह आत्महत्या अत्यधिक वैयक्तिता के कारण नहीं होती है। यहां व्यक्ति अपने जीने के अधिकार को लेकर दृढ़ नहीं रहता है बल्कि सामाजिक अनिवार्यता से समरूपता के कारण मृत्यु का चयन करता है।

इसी प्रकार, परोपकारी आत्महत्या के बारे में कहा जा सकता है कि यह उस जहाज के कप्तान के जैसी है जो इसके नुकसान के पश्चात बचे नहीं रहना चाहता है। व्यक्ति अपने स्व–संरक्षण की प्रकृति को दबा देता है, वह समूह के आदेशों का पालन करता है और सामाजिक अनिवार्यता को आत्मसात कर स्वंय का बलिदान कर देता है। आधुनिक समय के उदाहरण के तौर पर आत्महत्या की दर में वृद्धि सैनिकों में देख सकते हैं। एक ही उम्र एवं वर्ग के नागरिकों की अपेक्षा सैनिकों में आत्महत्या की घटना कुछ अधिक बार होती है। विशेषतया ऐसे सैनिक जो गैर–कमीशन प्राप्त अधिकारी हैं या वे जो मजबूत संगठित समूह से संबद्ध होते हैं। उनके द्वारा की गयी

टिप्पणी

आत्महत्या अहंकारी आत्महत्या की श्रेणी में नहीं आती है। यहां कमीशन प्राप्त अधिकारियों के बारे में इसलिए बताया गया कि भर्ती किए गए व्यक्ति अपनी सैन्य स्थिति को अस्थायी मान सकते हैं एवं अपनी व्यवस्था के मूल्यांकन में वे आज्ञाकारिता से बहुत छूट के साथ जुड़े होते हैं। दुर्खीम के द्वारा अंतिम मुख्य प्रकार में विमुखताकारी आत्महत्या की विवेचना की गयी है एवं आधुनिक समाज की विशेषताओं के कारण इसमें उनकी सर्वाधिक अभिरुचि है। इस प्रकार की आत्महत्या के द्वारा आत्महत्या की अवृत्ति एवं आर्थिक संकट के बीच सांख्यिकीय सहसंबंध इंगित किया जा सकता है। सांख्यिकी के द्वारा आर्थिक संकट के समय एक प्रवृत्ति को दर्शाया जाता है। सांख्यकीय संख्याओं के अनुसार, बड़ी राजनीतिक घटना के समय आत्महत्या की आवृत्ति में गिरावट देखी जा सकती है। उदाहरण के तौर पर युद्ध के समय आत्महत्या की संख्या कम होती है।

आर्थिक संकट के समय विमुखताकारी आत्महत्या की आवृत्ति बढ़ती है और तलाक की दर में वृद्धि से भी आत्महत्या की आवृत्ति बढ़ती है। दुर्खीम के द्वारा तलाक के प्रभावों का पुरुष एवं महिलाओं से संबद्ध आत्महत्या की आवृत्ति का अध्ययन किया गया। तलाकशुदा महिला में तलाकशुदा पुरुष की अपेक्षा आत्महत्या की आशंका कम होती है। प्रथा की सहनशीलता के कारण पुरुष के पास एक निश्चित स्वतंत्रता होती है एवं शादी में वह एक संतुलन एवं अनुशासन पाता है, दूसरी ओर महिला शादी से मिली स्वतंत्रता की अपेक्षा अधिक कुशल रूप से अनुशासित होती है। तलाक के बाद पुरुष इच्छा एवं संतुष्टि की असमानताओं के बीच फिर से अनुशासनहीन हो जाता है। दूसरी ओर महिला तलाक के बाद अधिक स्वतंत्र महसूस करती है। सामाजिक अस्तित्व प्रथाओं से शासित नहीं होते हैं, व्यक्तियों में अनंत प्रतिस्पर्धा होती हैं। जीवन से अपेक्षाएं बहुत हैं, इससे मांग भी बहुत है। इच्छा एवं संतुष्टि के बीच असमानता निरंतर बढ़ती जाती है एवं यह मानसिक एवं शारीरिक स्तर पर अधिक पीड़ा का कारण बनती है। इसलिए आत्महत्या करने लायक आवेग बढ़ता जाता है, परिणामस्वरूप असहजता एवं असंतोष वातावरण में बढ़ जाता है।

एक अन्य चौथे प्रकार की आत्महत्या है जो दुर्खीम के कार्यों में संक्षिप्त रूप में आयी है। यह भाग्यवादी आत्महत्या का प्रकार है। विमुखताकारी आत्महत्या नियमों के बहुत निर्बल होने की स्थिति में अधिक संभाव्य होती है जबकि भाग्यवादी आत्महत्या नियमों के अति होने की स्थिति में अधिक होती है। दुर्खीम के अनुसार, ऐसे व्यक्ति जिनका भविष्य दमनकारी अनुशासन के कारण निर्दयतापूर्वक अवरुद्ध हो गया हो या उनकी लालसाओं को हिंसक तरीके से घोंट दिया गया हो उनमें भाग्यवादी आत्महत्या करने की संभावना अधिक होती है। इस आत्महत्या के लिए उपयुक्त उदाहरण एक गुलाम के द्वारा अपने जीवन को अपने कार्यों के प्रति दमनकारी नियमों से संबद्ध अत्यन्त निराशा के कारण समाप्त करना है।

व्यक्तिगत घटना होने के बावजूद आत्महत्या का कारण अनिवार्य रूप से सामाजिक होता है। आत्महत्या करने लायक आवेग व्यक्ति में सामूहिकता से आता है। ये शक्ति वास्तविक एवं आत्महत्या के निर्धारक कारक होते हैं। दुर्खीम के अनुसार, आत्महत्या करने लायक आवेग व्यक्ति में बिना सोचे–समझे नहीं होता है। यदि कोई व्यक्ति आत्महत्या करता है तो इसकी पूरी संभावना होती है कि वह अपनी मनोवैज्ञानिक

बनावट, स्नायुविक निर्बलता एवं विक्षिप्त असंतुलन के कारण इस तरह का व्यवहार करता है। आत्महत्या करने लायक आवेग मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न होते हैं, जो सामाजिक परिस्थितियों से जनित होते हैं, क्योंकि आधुनिक समाज में रहने वाले मनुष्य में अपनी संवेदनाओं को चोट पहुंचाने का खतरा अधिक है।

इसका वास्तविक कारण सामाजिक प्रभाव हैं। ये सामाजिक प्रभाव एक–दूसरे से भिन्न होते हैं, एक धर्म से दूसरे धर्म एवं एक समूह से अलग समूह में भिन्न होते हैं। यह हमें दुर्खीम के समाज की मुख्य अवधारणा की ओर ले जाता है जिसके अनुसार समाज प्राकृतिक रूप से व्यक्ति के संबंध में विविधतापूर्ण होता है, जहां घटना का प्रभाव होता है और जिसका आधार सामूहिकता में होता है, न कि व्यक्ति की समग्रता में होता है। घटना या प्रभाव की व्याख्या तभी हो सकती है जब इसे व्यक्तियों द्वारा जनित सम्पूर्णता में लिया जाता है। इसलिए कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत घटना विशेष रूप से सामाजिक घटना से शासित होती है, प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा आज्ञा का पालन कर अपने जीवन को समाप्त करना सामाजिक प्रभावों का सर्वाधिक प्रभावी उदाहरण है जो व्यक्ति को उनकी मृत्यु के लिए प्रेरित करता है।

आधुनिक समाज की विभिन्न विशेषताओं में सामाजिक विभेदन, कायिक एकजुटता, जनसंख्या घनत्व, संचार की सघनता एवं उत्तरजीविता के लिए संघर्ष हैं। ये सभी घटनाएं असामान्य नहीं हैं क्योंकि वे आधुनिक समाज की वास्तविकता से संबद्ध हैं।

आधुनिक समाज में कुछ खास तरह के रोगजनित लक्षण विद्यमान हैं, सामूहिकता से अपर्याप्त वैयक्तिक संयोजन इनमें सर्वोपरि है। दुर्खीम के अनुसार इस प्रकार की आत्महत्या विमुखताकारी है एवं यह उस प्रकार के अनुरूप है जो आर्थिक संकट एवं सम्पन्नता के समय से होती है, अर्थात जब किसी कार्य की अधिकता होती है, तो संसर्ग एवं प्रतिस्पर्धा का प्रवर्धन होता है जो समाज से अभिन्न होता है तथा जिस समाज में हम रहते हैं, कार्य की अधिकता एक निश्चित सीमा से परे जाने पर रोगजनित हो जाती है।

दुर्खीम के अनुसार धर्म विमुखताकारी आत्महत्या की समस्या का हल नहीं कर सकता है। रोगजनित आत्महत्या को रोकने के लिए धर्म कोई समाधान नहीं उपलब्ध करा सकता है। दुर्खीम ने अनुशासन को समूह के लिए आधारभूत माना एवं जो संयोजन का माध्यम भी है। मनुष्य को अवश्य ही अपनी आकांक्षाओं को सीमित करना चाहिए, उन्हें अनिवार्यता का अनुपालन करना चाहिए जिससे वे अपने उद्देश्यों को निश्चित कर माध्यम का सही तरीके से उपयोग कर सकें।

1.3.2 धर्म का सिद्धांत

आधुनिक समाज में धर्म अमूर्तता की ओर बढ़ रहा है एवं इसकी विशेषता बौद्धिकता है। यद्यपि कुछ अर्थों में सामाजिक प्रतिबंधों के रूप में आंशिक रूप से गिरावट हुई है और वे व्यक्ति को लालसाओं के पार जाने एवं आध्यात्मिक नियमों के अनुसार जीवनयापन करने को प्रोत्साहित करते हैं। लेकिन अब वे व्यक्ति को उनके सांसारिक जीवन में अनुपालन करने हेतु आवश्यक प्रतिबंध या नियम निश्चित करने में अक्षम हो गये हैं।

टिप्पणी

दुर्खीम यह महसूस करते हैं कि पूर्व की भांति अब धर्म उस मात्रा में अनुशासन सुनिश्चित कराने में सक्षम नहीं रहे। अब नैतिक मूल्यों पर उनका वर्चस्व कम हो गया है। दुर्खीम के अनुसार व्यक्ति जब स्वंय पर आश्रित होता है तब वह अनंत इच्छाओं से प्रेरित होता है। सामान्यतया व्यक्ति आकांक्षाओं का समूह है जबकि समाज के लिए पहली आवश्यकता नैतिकता एवं अनुशासन की होती है। मनुष्य को अनुशासित करने के लिए सर्वोच्च शक्ति की आवश्यकता होती है एवं इसकी दो विशेषताएं होती हैं– पहली, यह प्रभावशाली हो एवं दूसरी यह प्रेम करने योग्य हो। दुर्खीम के अनुसार, यह बल एक साथ दबाव भी देता है एवं आकर्षित भी करता है। यह बल समाज से ही आना चाहिए। धर्म के बारे में एक सामान्य सिद्धान्त सर्वाधिक सामान्य एवं प्राचीन धार्मिक संस्थाओं के विश्लेषण से पाया गया है। दुर्खीम का विश्वास था कि उच्च धार्मिक मूल्य के प्रामाणिक सिद्धान्त का विधिसम्मत एवं संभाव्य आधार प्राचीन धर्म के प्रकारों का अध्ययन ही है।

दुर्खीम के अनुसार, विज्ञान आज के समाज में सर्वाधिक बौद्धिक एवं नैतिक सत्ता है। हमारा समाज व्यक्तिवादी एवं बुद्धिवादी है। यद्यपि व्यक्ति विज्ञान के परे जा सकता है परन्तु इसकी शिक्षाओं एवं चुनौतियों को नकार नहीं सकता है। हमने यह भी देखा है कि समाज ही वैयक्तिकता एवं राष्ट्रीयता को निर्धारित करता है। प्रत्येक समाज को आम विश्वास की आवश्यकता है लेकिन ये विश्वास पारंपरिक धर्म के द्वारा उपलब्ध नहीं होते हैं, क्योंकि धर्म वैज्ञानिक भावना की जरूरतों को पूरा नहीं कर पाता है। दुर्खीम ने यह अनुभव किया कि इसका सरल समाधान है कि विज्ञान स्वंय धर्म को अपने आधार के रूप में प्रकट करता है, इससे विज्ञान का विरोधाभास नहीं होता है। उन्होंने कहा कि सभी धर्मों में अंतर्निहित सत्यता की खोज की जानी चाहिए। विज्ञान धर्म को पुनर्जीवित नहीं करता है परन्तु हमें यह विश्वास देता है कि समाज की क्षमताओं के लिए जो भी अच्छाई जरूरी है वह इसे हमेशा उपलब्ध कराता रहेगा। दुर्खीम ने इसे इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि धार्मिक अभिरुचि सामाजिक एवं नैतिक अभिरुचि के मात्र सांकेतिक रूप हैं। धर्म का सार संसार को दो प्रकार की घटनाओं में बांटने पर निर्भर है। पहली जो पवित्र है एवं दूसरी जो अपवित्र है। इसलिए धर्म का सार अलौकिक ईश्वर के विश्वास में नहीं है। अनेक ऐसे धर्म हैं जो बिना ईश्वर के हैं जैसे बौद्ध धर्म में अलौकिकता का विचार प्राकृतिक व्यवस्था के पूर्व नहीं आ सकता है। पवित्रता में वस्तु, विश्वास एवं अनुष्ठान होते हैं। विश्वास एवं रीति–रिवाज के अन्तर्गत जब पवित्र चीजों में परस्पर समन्वय एवं अनुपालन के द्वारा एक व्यवस्था का निर्माण किया जाता हैं, तब एक धर्म निर्मित होता है।

दुर्खीम ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार दी है – 'पवित्र चीजों के संबंध में विश्वास एवं व्यवहार की अन्तर्निर्भर व्यवस्था धर्म है और यह विश्वास एवं व्यवहार सभी को एकजुट करती है जो एक नैतिक समुदाय के रूप में इनका अनुपालन करते हैं और जो चर्च कहलाता है।'

अध्ययन के दूसरे चरण में व्याख्या को दुर्खीम के प्रस्तावों के विपरीत नकार दिया गया है। उनकी पुस्तक में दो व्याख्याओं जीववाद एवं प्रकृतिवाद का उल्लेख है। जीववाद के अनुसार, धार्मिक आस्था आत्माओं से संबंधित है, ये आत्मा मनुष्य के शरीर एवं आत्मा की प्रकृति के अनुभव में रूपान्तरण है। प्रकृतिवाद में मनुष्य रूपान्तरित

प्राकृतिक शक्तियों की पूजा करता है। दुर्खीम के अनुसार, धर्म उस सामुदायिक भ्रम का प्रकार है जिसमें या तो उन आत्माओं से प्यार है जो अवास्तविक है या जिसमें भय के कारण रूपान्तरित प्राकृतिक शक्तियों से प्यार है। यदि मनुष्य रूपान्तरित समाज की पूजा करता है तो वह वास्तविक सच्चाई, यथार्थ शक्ति की पूजा करता है, वह सामूहिकता की शक्ति से अधिक यथार्थ की इच्छा करता है।

दुर्खीम का उद्देश्य आस्था के बौद्धिक वस्तु एवं पारंपरिक धर्मों के बौद्धिक विषय को बिना स्वीकार किए आस्था की वस्तु यथार्थता को स्थापित करना है। उनके दृष्टिकोण में वैज्ञानिक राष्ट्रीयता के विकास द्वारा पारंपरिक धर्म अभिशप्त हैं, परन्तु अंतिम विश्लेषण मनुष्य अपने समाज के अतिरिक्त अन्य किसी की कभी पूजा नहीं करता है, तथा यह बचा रहेगा जो नष्ट होता हुआ प्रतीत हो रहा है।

दुर्खीम ने उनके समय के प्रचलित टेलर के सिद्धान्त का दृष्टांत दिया है। यह सिद्धान्त स्वप्न की घटना से आरंभ होता है। स्वप्न में मनुष्य अपने को वहां देखता है जहां वह नहीं है तथा इस प्रकार वह अपने प्रतिरूप को संरक्षित करता है। यहां उसके लिए कल्पना करना सरल होता है। जब उसकी मृत्यु होती है तब उसका यह प्रतिरूप उससे अलग होता है तथा एक आत्मा के रूप में निकल जाता है। इस व्याख्या के अनुसार, आदिम मानव को सजीव एवं निर्जीव में अंतर करने में कठिनाई थी। दुर्खीम द्वारा इसके निराकरण में इसके एक–एक तत्व को लिया गया है। सपने की घटना को इतना महत्व क्यों देना चाहिए? यह मान लेते हैं कि हममें से प्रत्येक का एक प्रतिरूप है, इस प्रतिरूप को पवित्र क्यों बना देना चाहिए? दुर्खीम ने यह जोड़ा कि पूर्वजों की पूजा किसी आदिम पंथ से जुड़ी नहीं है, इसके अलावा, यह गलत है कि आदिम मानव का पंथ विशेषकर मृतकों के पंथ का संबोधन है।

यह मानने के बाद कि धर्म की प्रकृति का आधार पवित्र है, दुर्खीम को जीववाद की व्याख्या की कमियों को दर्शाने में कोई कठिनाई नहीं है। यह व्याख्या आत्मा के संसार के निर्माण की व्याख्या हो सकती है, लेकिन दुर्खीम की दृष्टि में आत्मा का संसार पवित्र संसार नहीं है।

दुर्खीम के अनुसार धर्म के विज्ञान की पूर्वधारणा में ज्ञान के परे की असत्यता ही सिद्धान्त का विषय है। ज्ञानातीत जो रहस्यमय है, स्वयमेव विज्ञान के द्वारा निष्कासित किया जाता है। इसलिए धर्म से अलौकिकता को मिटा देने के पश्चात फिर से इसकी यथार्थता को ढूंढ़ने में कठिनाई है।

दुर्खीम के विचार में सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचार कुलचिह्नवाद धर्म का सर्वाधिक सरल रूप में है। यह कहना कि कुलचिह्नवाद सबसे सरल धर्म है, तो इससे अर्थ धार्मिक इतिहास का विकासवादी मूल है। एक गैर–विकासवादी परिप्रेक्ष्य में कुलचिह्नवाद अन्य धर्मों में से है। यदि दुर्खीम इसे सर्वाधिक सरल एवं सर्वाधिक प्राचीन धर्म के रूप में बल देते हैं, तो वे इसे परोक्ष रूप से स्वीकार करते हैं कि धर्म का विकास एक ही मूल से हुआ है।

सामान्य धर्म के अंतर्गत क्या होता है? दुर्खीम ने पंथ एवं कुलचिह्नवाद को मुख्य विचार के रूप में प्रयुक्त किया है। पंथ स्वगोत्रीय का समूह है जो रक्त संबंधों पर आधारित नहीं है, पंथ एक मानव समूह है, जो अपनी पहचान एक पौधे या पशु से जोड़कर, पौधे या पशु के वर्ग से जोड़कर स्थापित करता है। कुलचिह्न वाले कुछ पंथ

हैं, लेकिन व्यक्तिगत कुलचिह्न भी हैं तथा वैवाहिक संबंधों वाले विस्तृत समूहों के कुलचिह्न हैं।

टिप्पणी

प्रत्येक कुलचिह्न का एक प्रतीक होता है। प्रायः सभी पंथों में वस्तु, लकड़ी के टुकड़े या चमकीले पत्थर हैं जो कुलचिह्न के प्रतीक का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये सामान्य वस्तु (लकड़ी या पत्थर की वस्तु जो आदि मानव द्वारा पवित्र मानी जाती है) के रूप में माने जाते हैं और जब एक बार कुलचिह्न के प्रतीक के रूप में इनका रूपांतरण हो जाता है, तो ये कुलचिह्न से संबंधित पवित्र विशेषता साझा करते हैं। यह दुर्खीम के द्वारा किए गए अध्ययनों में खास घटनाओं की तरह है। कुलचिह्न जो प्रतीक धारण करते हैं, धार्मिक व्यवस्था में एक विशेष प्रकार के व्यवहार का विकास करते हैं। पंथ के सदस्य उस वस्तु को खाने या छूने से परहेज करते हैं जो कुलचिह्न के पवित्र गुण को निर्दिष्ट करती है।

एक पवित्र वस्तुओं का क्षेत्र पहले पौधों या पशुओं को शामिल करता है जो स्वंय कुलचिह्न होते हैं, तब उन चीजों को कुलचिह्नों का प्रतिनिधि बनाया जाता है। अंत में लोगों में आदरणीय गुणों का संचारण होता है। पवित्र चीजों का एक सम्पूर्ण क्षेत्र होता है। पौधे और पशु, इन पौधों एवं पशुओं के निरूपण आदि से संबद्ध व्यक्ति इन पवित्र चीजों से वंशजों के द्वारा जुड़ते हैं। पवित्र चीजों का क्षेत्र कम या अधिक क्रमबद्ध तरीके से तैयार किया जाता है।

दुर्खीम ने इस व्याख्या को नकार दिया है कि कुलचिह्नवाद पूर्वजों की पूजा से आया है। वह उस व्याख्या की खोज करते हैं जिसमें पशु पूजा प्राचीन घटना है। वह व्यक्तिगत कुलचिह्नवाद को वंश कुलचिह्नवाद के पूर्वकालिक मानती हैं। वह इस व्याख्या को भी नकारते हैं जिसके अनुसार स्थानीय कुलचिह्नवाद, अर्थात एक निश्चित स्थान से कुलचिह्न का आरोपण, मूलभूत घटना है। यह उनके लिए ऐतिहासिक एवं तार्किक रूप से वंश का कुलचिह्नवाद है।

उनके अनुसार, आस्ट्रेलियाइयों ने जिसकी पहचान पहले अस्पष्ट एवं पवित्र चीजों की दुनिया के बाहर के रूप में की है। अवैयक्तिक बल जिसे बिना सोचे–समझे एक पौधे, पशु या इनके निरूपण के द्वारा मूर्त रूप दिया गया। विश्वास एवं पूजा इन्हीं अवैयक्ति एवं अस्पष्ट बलों की ओर निर्दिष्ट हैं।

दुर्खीम के अनुसार, मूल्यों के उदय को प्रोत्साहित करती है, क्योंकि व्यक्ति संचार के माध्यम से एक–दूसरे के साथ रहते हैं और त्योहारों की खुशियों द्वारा दिव्य बनाकर धर्म की स्थापना करने में सक्षम हैं।

दुर्खीम परिवर्तकारी पंथ की ओर संकेत करते हैं। फ्रांसीसी क्रांति के समय व्यक्ति एक प्रकार की पवित्र उत्सुकता से जकड़ा हुआ था। दुर्खीम ने यह स्वीकार किया कि फ्रांसीसी क्रांति के समय खुशी इतनी पर्याप्त नहीं थी जिससे एक नए धर्म का जन्म होता। लेकिन, उन्होंने कहा समाज में वह क्षण आएगा जब आधुनिक समाज एक बार फिर पवित्र आवेश में जकड़ लिया जाएगा और इससे एक नए धर्म का उदय होगा।

इस प्रकार, धर्म की समाजशास्त्रीय समझ दो प्रकार से है। इनमें एक की व्याख्या इस योजना के द्वारा होगी– कुलचिह्नवाद में मनुष्य अपने समाज को बिना समझे पूजा करता है या पवित्रता का गुण पहले अवैयक्तिक एवं सामूहिक शक्ति से संयुक्त होता

है जो स्वंय समाज का प्रतीक है। सिद्धान्त का दूसरा प्रकार है कि खुशी की स्थिति में समाज ईश्वर या धर्म का निर्माण करता है, यह खुशी तब होती है जब समाज अपने को सशक्त करने की दिशा में अग्रसर होता है। आस्ट्रेलिया में आदिवासियों में यह खुशी धार्मिक अनुष्ठान के समय आज भी देखी जाती है।

धर्म मान्यताओं, विश्वासों की एक संस्था है, जो मौखिक तरीके से व्यक्त होती हैं, वैचारिक व्यवस्था का रूप ग्रहण करती हैं।

दुर्खीम ने दो महत्वपूर्ण सामाजिक घटनाओं – प्रतीक एवं अनुष्ठान पर बल दिया। अधिकांश सामाजिक व्यवहार चीजों से संबोधित न होकर चीजों के प्रतीक के रूप में होते हैं। कुलचिह्नवाद में प्रतिबंध केवल कुलचिह्न का निरूपण करने वाले पशु या पौधों पर नहीं होता है। इसी प्रकार हमारा सामाजिक व्यवहार निरंतर चीजों के लिए संबोधित न होकर इन चीजों के प्रतीक के रूप में होता है।

दुर्खीम ने अनुष्ठान के सिद्धान्त पर भी विस्तार से कार्य किया तथा विभिन्न अनुष्ठानों एवं उनके सामान्य कार्यों में अंतर किया। उन्होंने तीन प्रकार के अनुष्ठानों में अंतर किया– नकारात्मक, सकारात्मक एवं विषम या क्षतिपूर्ति का अनुष्ठान। नकारात्मक अनुष्ठान आवश्यक रूप से निषेध करते हैं, जैसे छूने या खाने पर प्रतिबंध। वे वैराग्य के धार्मिक व्यवहारों की दिशा में विकसित होते हैं। दूसरी ओर, सकारात्मक अनुष्ठान जो समन्वय के अनुष्ठान हैं, वे उर्वरता की ओर प्रवृत करते हैं।

सभी अनुष्ठानों का एक मुख्य उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था है। इनका उद्देश्य समुदाय को समर्थन देना, समूह में संयुक्तता की भावना का नवीकरण करना, विश्वास एवं मान्यता को टिकाऊ बनाना है। एक धर्म व्यवहार द्वारा तभी अस्तित्व में रहता है जब मान्यताओं के प्रतीकों एवं उनके नवीकरण की परंपरा होती है।

दुर्खीम न केवल आस्ट्रेलियाई जनजाति की धार्मिक प्रवृत्ति एवं व्यवहारों को समझने की खोज करते हैं बल्कि वह उन आदतों को भी जानने का प्रयास करते हैं जो इन मान्यताओं से संबद्ध हैं। उन्होंने आस्ट्रेलियाई कुलचिह्नवाद के अध्ययन से ज्ञान के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का विकास किया। दुर्खीम ने धर्म को मनुष्य की सबसे बड़ी सामाजिक संस्था के रूप में देखा जिससे अन्य सामाजिक प्रारूपों का उदय होता है। यह धर्म ही था जिसने मानवता को सामूहिक चेतना के रूप में सबसे सशक्त भावना प्रदान की। उन्होंने धर्म को इस शक्ति के रूप में देखा जो जब मानव शिकारी एवं संग्राहक समाज के रूप में रहता था और विकसित हो रहे समूह में भावना सामूहिक उत्तेजना के रूप में बढ़ रही थी, उन्हें नए तरीके से कार्य करने के लिए विवश करती थी तथा उन्हें उद्वेलित करने के लिए एक गुप्त शक्ति के रूप में कार्य कर रही थी। यद्यपि, अन्य सामाजिक वास्तविकता अंततः धर्म को प्रभावहीन करना आरंभ कर चुकी थी एवं दुर्खीम का विश्वास था कि धर्म कम महत्वपूर्ण होने लगा तथा विज्ञान एवं व्यक्ति के पंथ द्वारा अधिक्रमित होने लगा। यद्यपि धर्म अपना महत्व खोने लगा था लेकिन इसने आधुनिक समाज की नींव डाली एवं इसे शासित करने वाले व्यवहारों को विकसित किया। दुर्खीम ने कहा कि धर्म के स्थानापन्न बल की तरह कोई इसका स्थान नहीं ले सका है। उन्होंने आधुनिकता के संबंध में संदेह जाहिर किया तथा इसे परिवर्तन एवं नैतिक रूप से सामान्य कोटि का माना।

दुर्खीम ने यह भी कहा कि संसार को समझने की हमारी पहली श्रेणी उसके धर्म के मूल में ही है। यह धर्म ही है जिसने अधिकांश सामाजिक संरचनाओं एवं वृहत्तर समाज का विकास किया। उनके अनुसार श्रेणी समाज के द्वारा निर्मित होती है और इसलिए ये सामूहिक निर्माण हैं। व्यक्ति समाज को एवं उसकी श्रणियों को बनाता है, लेकिन ऐसा अचेतन रूप से किया जाता है तथा श्रेणियां मनुष्य के अनुभव के पूर्व की होती है। दुर्खीम ने इस विभाजन को पाटने का प्रयास किया कि श्रेणियां मानव अनुभव से निर्मित संरचना हैं एवं तार्किक रूप से ये अनुभव की पूर्वगामी हैं। दुनिया के बारे में हमारी समझ को आकार सामाजिक यथार्थ ने दिया है, समय के विचार को परिभाषित करने के लिए इसे कलेंडर से मापा जाता है जिसका निर्माण हमारी सामाजिक बैठकों एवं अनुष्ठानों का ध्यान रखने के लिए किया गया था तथा जो अपने मूल रूप में धर्म से ही उत्पन्न हुआ था। विज्ञान का सबसे तार्किक एवं विचारशील प्रयास अपने मूल को धर्म में पा सकता है। दुर्खीम के अनुसार ' धर्म ने उन सभी अनिवार्यताओं को जन्म दिया जो समाज के लिए आवश्यक हैं।'

अपनी प्रगति जांचिए

3. दुर्खीम के पहले डाक्ट्रेट शोध का नाम है–
   (क) दुर्खीम्स थ्योरी ऑफ सुसाइड
   (ख) द ऐलीमेन्ट्री फॉर्म्स ऑफ रिलिजियस लाइफ
   (ग) द रूल्स ऑफ सोशियोलॉजिकल मैथड
   (घ) द उिवीजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी
4. दुर्खीम ने कितने प्रकार की आत्म–हत्याओं को परिभाषित किया है?
   (क) 3 (ख) 4
   (ग) 2 (घ) इनमें से कोई नहीं

1.4 पिट्रिम सोरोकिन का सांस्कृतिक परिवर्तन का सिद्धांत

पिट्रिम एलेग्जेंड्रोविच सोरोकिन का जन्म 21 जनवरी 1889 को एक पृथक ग्रामीण क्षेत्र में, उत्तरी रूस के वोलोग्डो प्रांत में हुआ था। इनके पिता रूसी थे और वे बतौर एक शिल्पकार काम करते थे। उन्हें सुनहरे, चांदी और लोहे के सजावटी कार्यों का डिप्लोमा भी प्राप्त था। उनका विवाह एक कोमि महिला से हुआ और दोनों के तीन बच्चे थे जिनके नाम थे, सैसिलि, पिट्रिम सोरोकिन और पॉर्कपाइ। जब सोरोकिन 3 वर्ष के थे तो उनकी मां का देहांत हो गया। मां के चल बसने के बाद तीनों बच्चे अपने पिता और आंटी के साथ रहने लगे।

सोरोकिन के पिता एक अच्छे इंसान थे और उन्हें अपने दोनों बेटों पर बहुत गर्व था। बहरहाल, उन्हें शराब पीने की लत थी। एक दिन ऐसे ही शराब के नशे में उन्होंने अपने दोनों बेटों को हथौड़े से मारा। इस हादसे का बच्चों पर बहुत गहरा असर पड़ा

और सैसिलि तथा सोरोकिन अपने पिता के घर से भाग खड़े हुए। उन्होंने तुरंत अपना व्यापार शुरू करने की सोची जिसमें वे एक से दूसरी जगह जा कर लोगों की जरूरतें पूरी करेंगे। एक वर्ष बाद उन्हें अपने पिता की मृत्यु की खबर मिली। दोनों भाइयों के पास इतना काम था जिससे उनका गुजर–बसर आराम से हो जाता था। कुछ वर्ष यात्रा में बिताने के बाद, जब सोरोकिन 14 साल का हुआ तो वह एकेडमी ऑफ खेनोवो में पढ़ने के लिए ग्रांट हासिल करने में सफल हो पाया।

सोरोकिन का चार प्रकार के समाजशास्त्र के प्रति योगदान

- **व्यावसायिक समाजशास्त्र**

  ए सिस्टम ऑफ सोशियोलॉजी (1920)
  हंगर एज ए फैक्टर इन ह्यूमन अफेयर्स (1922)
  सोशिऑलोजी ऑफ रेवोल्यूशन (1925)
  सोशल मोबिओलिटी (1927)
  प्रिंसिपल्स ऑफ रूरल–अर्बन सोशिऑलोजी (1929)
  ए सिस्टेमैटिक सोर्सबुक इन रूरल सोशिऑलोजी (1930–1932)
  सोशल टाइम (1937)
  सोशल एंड कल्चरल डाइनेमिक्स (1937–1941)
  मैन एंड सोसाइटी इन कैलैमिटी (1942)
  सोशिऑकल्चरल कैजुएलिटी, स्पेस, टाइम (1943)
  सोसाइटी, कल्चर एंड पर्सनैलिटी (1947)
  एक्स्प्लोरेशन्स इन एल्ट्रुइस्टिक लव एंड बिहेवियर (1950)
  वेज एंड पावर ऑफ लव (1954)

- **नीति समाजशास्त्र**

  द न्यू सोवियत कोड्स एंड सोवियत जस्टिस (1924)
  इज ऐकुरेट सोशल प्लैनिंग पॉसिबल? (1936)
  रीकंस्ट्रक्शन ऑफ ह्यूमैनिटी (1948)
  वेज एंड पावर ऑफ लव (1954)
  पावर ऑफ मॉरैलिटी (1959)

- **आलोचनात्मक समाजशास्त्र**

  कंटेम्परेरी सोशिऑलॉजिकल थिओरीज (1928)
  सोशिऑलोजी ऐज ए साइंस (1931)
  डेक्लेरेशन ऑफ इंडिपेंडेस ऑफ द सोशल साइंसिस (1941)
  सोशल फिलॉसफीज ऑफ ऐन एज ऑफ क्राइसिस (1950)
  फैड्स एंड फॉइबल्स इन सोशिऑलोजी (1956)

रिपलाय टू माइ क्रिटिक्स (1963)

द सोशिऑलोजी ऑफ येस्टरडे, टुडे एंड टुमॉरो (1965)

सोशियोलेजिकल थिओरीज ऑफ टुडे (1966)

टिप्पणी

- **सामाजिक समाजशास्त्र**

नॉट्स ऑफ एसोशिऑलोजिस्ट (1917)

क्राइसिस ऑफ अवर एज (1941)

रशिया एंड द यूनाइटेड स्टेट्स (1944)

रीकंस्ट्रक्शन ऑफ ह्यूमैनिटी (1948)

एल्ट्रुइस्टिक लव (1950)

एस.ओ.एस.: द मीनिंग ऑफ ऑर क्राइसिस (1951)

ऐमिटोलोजी (1951)

फॉर्म्स एंड टेक्नीक्स ऑफ एल्ट्रुइस्टिक एंड स्पिरिचुअल ग्रोथ (1954)

अमेरिकन सेक्स रेवोल्यूशन (1956)

पावर एंड मौरैलिटी (1959)

बेसिक ट्रेंड्स ऑफ अवर टाइम (1964)

माध्यमिक और उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए सोरोकिन सेंट पीटर्सबर्ग गए। 1913 में, मात्र 24 वर्ष की उम्र में वे न्यू आइडियाज इन सोशियोलॉजी पत्रिका के सह–संपादक बने। यह पत्रिका, मुख्य रूप से बाहरी सामाजिक लेखों का अनुवाद करने को समर्पित थी लेकिन इसमें कुछ रूसी लेख भी सम्मिलित हुआ करते थे। 1914 में उन्होंने सेंट पीटर्सबर्ग साइको–न्यूरोलॉजिकल इंस्टिट्यूट में पढ़ाना शुरू किया। क्राइम एंड पनिशमेंट नामक, उनकी पहली किताब 1914 में प्रकाशित हुई। उन्होंने 1916 में सेंट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में पढ़ाना शुरू किया और 1917 में, रूसी क्रांति की शुरुआत तक वे वहीं पढ़ाते रहे। सोरोकिन ने सात किताबें रूसी भाषा में लिखीं। 1924 में वे मिनेसोटा विश्वविद्यालय में चले गए। वहां उन्होंने खुद को अमेरिकी समाजशास्त्र में एक अग्र–दौड़ाक सिद्ध करने में अधिक समय नहीं लगाया। 1930 में उन्हें हार्वर्ड विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग का मुखिया चुना गया।

समाज और संस्कृति : एक विस्तृत दृश्य

1937 में, सोरोकिन ने अपने मास्टरकार्य के पहले तीन संस्करण प्रकाशित किए, जिनमें उन्होंने सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवर्तन के लिए एक सम्पूर्ण वर्णात्मक प्रणाली विकसित करने का प्रयास किया था। उनके द्वारा किए गए सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण का विश्लेषण करने हेतु इसे मुख्य प्रदर्शनी माना जाना चाहिए। लेकिन अगले तीन दशकों तक वे अपने सिद्धांतों में सुधार लाने का कार्य करते रहे। वास्तुकला, अर्थशास्त्र, साहित्य, दर्शन, विज्ञान, कला और युद्ध के चरणों के गुणात्मक विश्लेषण सहित अंतर्राष्ट्रीय इतिहास के एक सावधानीपूर्वक अध्ययन के आधार पर, सोरोकिन ने एक उल्लेखनीय निरंतर घटना तैयार की : अनुभवात्मक, विचारात्मक और आदर्शवादी।

टिप्पणी

कुछ मध्यवर्ती या मिश्रित प्रतिमानों के अतिरिक्त दो विरोधाभासी मौलिक सांस्कृतिक प्रतिमान हैं, आध्यात्मिक (विचारात्मक) और भौतिकवादी (आभासात्मक)। आदर्शवादी नाम से जाना जाने वाला मिश्रित प्रतिमान, जो आभासात्मक और विचारात्मक के झुकाव को एकीकृत करता है, अनिवार्य है। हर समाज में आध्यात्मिक एवं भौतिकवादी अवधियों के बीच झूलने की प्रवृत्ति होती है, इस बीच नियमित और भविष्यवचनीय मिश्रित काल की भी अवधियां होती हैं। समाज में एक झुकाव से दूसरे की ओर हस्तांतरित होने का समय युद्धों तथा अन्य संकटों को जन्म देता है।

अनुभवात्मक, विचारात्मक और आदर्शवादी सांस्कृतिक प्रतिमानों की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं :

1. अनुभवात्मक संस्कृति

सोरोकिन द्वारा वर्णित अनुभवात्मक संस्कृति की पहली रूपरेखा की निम्न विशेषताएं हैं:

- संस्कृति की सैद्धांतिक परिभाषा यह है कि सच्ची वास्तविकता संवेदी है।
- केवल बाहरी संसार ही वास्तविक है। कोई अन्य यथार्थवाद या मूल स्रोत नहीं है। यह समाज का आयोजन सिद्धांत है।
- यह संस्कृति के सभी पहलुओं द्वारा फैलती है और मौलिक मानसिकता को परिभाषित करती है। एक व्यक्ति किसी अन्य प्रकार से सोच ही नहीं सकता।
- अनुभवात्मक संस्कृति विज्ञान और तकनीक को मानती है और आध्यात्मिकता अथवा धर्म की ओर ज्यादा ध्यान नहीं देती। धन, स्वास्थ्य, काम सुख, शरीरिक आराम, शक्ति और प्रसिद्धि प्रमुख मूल्य हैं।
- नैतिकता, राजनीति और अर्थशास्त्र सुख संबंधी और उपयोगितावादी हैं।
- सभी सही और कानूनी नियमों को सापेक्ष और परिवर्तनशील माना जाता है, जो केवल मनुष्य द्वारा बनाई गई परंपराएं हैं।
- संवेदी उत्तेजना को कला और मनोरंजन का केंद्र माना जाता है। अनुभवात्मक संस्कृति के पतित चरणों में नवीन और चौंका देने वालों (वस्तुतः सनसनी) पर अधिक जोर दिया जाता है।
- धार्मिक संस्थान मात्र प्राचीन समय के अवशेष हैं, अपने असल द्रव्य से हटाए गए और इनका झुकाव बढ़े हुए फाइडवाद और कट्टरवाद की ओर होता है (यह सुझाव कि विश्वास तर्कसंगत रूप से अनुकूल नहीं है)।

2. विचारात्मक (आध्यात्मिक) संस्कृति

सोरोकिन के विचारात्मक संस्कृति नामक प्रतिमान की निम्न विशेषताएं हैं:

- परिभाषित सिद्धांत यह है कि सच्ची वास्तविकता अति–संवेदी, आध्यात्मिक, पारलौकिक है।
- भौतिक संसार अलग है : एक भ्रम (माया), अस्थायी, चलता हुआ (एक अजीब भूमि में अजनबी), पापी या एक पारलौकिक शाश्वत वास्तविकता की मात्र छाया।
- धर्म में अक्सर एक तपस्वी और नैतिक प्रवृत्ति होती है।

टिप्पणी

- रहस्यवाद और रहस्योद्घाटन नैतिकता और सच्चाई के वैध स्रोत परिलक्षित होते हैं।
- प्रौद्योगिकी और विज्ञान को अपेक्षाकृत कम महत्व दिया गया है।
- अर्थशास्त्र नैतिक और धार्मिक आज्ञाओं द्वारा प्रतिबंधित है।
- अध्यात्मविज्ञान, धर्मशास्त्र और अति–संवेदी दर्शनशास्त्रों में नवाचार।
- धार्मिक और आध्यात्मिक कला फलती–फूलती है।

3. समाकलित (आदर्शवादी) संस्कृति

ज्यादातर संस्कृतियां ऊपर दिए गए मौलिक प्रतिमानों में से एक से संबंधित होती हैं। खैर, कई बार एक मिश्रित सांस्कृतिक प्रतिमान उभर कर आता है। सोरोकिन के लिए समाकलित संस्कृति सबसे महत्वपूर्ण मिश्रित संस्कृति है (कई बार इसे एक आदर्शवादी संस्कृति भी कहा जाता है– विचारात्मक संस्कृति से उलझन नहीं होनी चाहिए)। एक समाकलित संस्कृति, सौहार्दपूर्ण ढंग से, संवेदना और विचारात्मक प्रवृत्तियों को संतुलित करती है। समाकलित संस्कृति की विशेषताएं इस प्रकार हैं:

- इसका परम सिद्धांत यह है कि सच्ची वास्तविकता काफी विविध है, एक ऐसा कपड़ा जो संवेदी, तर्कसंगत और अति–संवेदी धागों को एक साथ बुनता है।
- सभी समाज और व्यक्तिगत विभाजन इस सिद्धांत को व्यक्त करते हैं।
- धर्मशास्त्र, विज्ञान, दर्शनशास्त्र फल–फूल रहे हैं।
- ललित कला संवेदी सच्चाइयों और अति–संवेदी सच्चाइयों के साथ समान व्यवहार करती है।

पश्चिमी सांस्कृतिक इतिहास

सोरोकिन ने दुनिया भर के विभिन्न समाजों की जांच की। उनका यह मानना है कि उन्हें प्रत्येक में अनुभवात्मक और विचारात्मक झुकावों के बीच नियमित विकल्प के सबूत मिले, कई बार एक समाकलित संस्कृति से हस्तक्षेप करते हुए। सोरोकिन के विचार में, पश्चिमी संस्कृति वर्तमान में दर्ज इतिहास के अपने तीसरे दौर में है। निम्न तालिका में सोरोकिन के विचार सारांशित किए गए हैं–

तालिका सोरोकिन के लिए पश्चिमी सभ्यता के सांस्कृतिक दौर

दौर	सांस्कृतिक प्रकार
ग्रीक अंधेरा युग	अनुभवात्मक
पुरातन ग्रीस	विचारात्मक
क्लासिकल ग्रीस	समाकलित
हेलेनिस्टिक रोमन	अनुभवात्मक
संक्रमणकालीन	मिश्रित
मध्य युग	विचारात्मक
उच्च मध्य युग, रेनेसां	समाकलित
तर्कवाद, विज्ञान का दौर	अनुभवात्मक

कला, साहित्य, अर्थशास्त्र और अन्य सांस्कृतिक संकेतकों के गहन विश्लेषण के बाद, सोरोकिन ने यह तर्क रखा कि पुरातन ग्रीस, 9वीं सदी बी.सी. के करीब, अनुभवात्मक से एक विचारात्मक संस्कृति में हस्तांतरित हुआ। इस विचारात्मक चरण के दौरान धार्मिक विषय (हेसिओड, होमर आदि) समाज पर हावी थे। इसके बाद ग्रीक क्लासिकल दौर में समाकलित संस्कृति का पालन किया गया (600–300 बी.सी.): पार्थेनॉन लगाया गया (फिदियास की मूर्तियां, एशिलस और सोफोकल्स के नाटक), कला, दर्शनशास्त्र की तरह फैलने लगी (प्लैटो, ऐरिस्टॅाटल)। इसके बाद एक नया अनुभवात्मक दौर आया, जो पहली हेलेनिस्टिक संस्कृति से संबद्ध था (महान सिकंदर द्वारा बनाया गया साम्राज्य) और फिर रोमन साम्राज्य के साथ। जैसे रोम की अनुभवात्मक संस्कृति सिकुड़ी तो अंत में इसका ईसाई विचारात्मक संस्कृति द्वारा अधिग्रहण हो गया। उच्च मध्य युग, रेनेसां द्वारा एक नई समाकलित संस्कृति की शुरुआत की गई, यह दोबारा अनेक कलात्मक और सांस्कृतिक नवाचारों से जुड़ी। इसके बाद, पश्चिमी समाज अपने समकालीन अनुभवात्मक दौर में चलाया गया, जो अब अपनी धुंधकला में है। सोरोकिन के लिए हम जल्द ही एक नए विचारात्मक या शायद समाकलित सांस्कृतिक युग की ओर हस्तांतरित होने वाले हैं।

सांस्कृतिक गतिशीलता

सोरोकिन विशेष रूप से समाज द्वारा सांस्कृतिक झुकाव को बदलने की प्रक्रिया में रुचि रखते थे। वे साम्यवादियों के इस विचार की आलोचना करते थे कि सामाजिक बदलाव बाहर से लाना जरूरी है, जैसेकि एक क्रांति के जरिए। 'स्थायी परिवर्तन' का उनका सिद्धांत यह कहता है कि बाहरी शक्तियां जरूरी नहीं हैंः समाज अपनी प्रकृति के अनुसार बदलते रहते हैं। जहां विपरीत परिस्थितियों के तनाव में संवेदनशील या विचारात्मक प्रवृत्तियां हावी हो सकती हैं, प्रत्येक संस्कृति में दोनों मनोवृत्तियां शामिल होती हैं। किसी मनोवृत्ति के बहुत अधिक खिंचने पर, प्रतिपूरक परिवर्तनकारी ताकतें गति पकड़ लेती हैं।

परिवर्तन यह सच्चाई है कि मनुष्य स्वयं अधूरे अनुभवात्मक हैं, थोड़े से तर्कसंगत और थोड़े सहज हैं। जब भी कोई संस्कृति इनमें से किसी एक दिशा में अतिरंजित होती दिखाई देती है तो मनुष्य मानस का आंतरिक बल, व्यक्तिगत और सामूहिक तरीके से ठीक ढंग से कार्य करता है।

संक्रमण का संकट

जब इंद्रियों और विचारों की संस्कृति का विघटन का एक निश्चित स्थल होता है, सामाजिक एवं आर्थिक संकट एक नई मनोवृत्ति की ओर परिवर्तन की शुरुआत चिह्नित करते हैं। ये संकट आंशिक रूप से इस कारण होते हैं क्योंकि जैसे प्रमुख प्रतिमान अपने आखिरी पतनशील चरणों तक पहुंचता है, इसकी संस्थाएं असफलतापूर्ण अनुकूल बनने की कोशिश करती हैं। खैर, संकटों के प्रति प्रतिक्रियाएं चीजें और खराब कर देती हैं, इससे नए संकट पैदा हो जाते हैं। सरकार द्वारा नियंत्रण इसका एक अनिवार्य उपाय है। इनके अनुसार, "सरकारी नियम विनियमन, उत्थान और सामाजिक संबंधों के नियंत्रण के विस्तार से समाज के राजनीतिक–सामाजिक ढांचे में आने वाला बदलाव विपत्तिपूर्वक तरीके से सामाजिक (व्यक्तिगत और निजी सामूहिक) संबंधों के विनियमन

टिप्पणी

और प्रबंधन को प्रभावित कर सकता है। सरकारी नियंत्रण और नियमन का विस्तार कई तरीकों से किया जा सकता है, समाजवादी या साम्यवादी सर्वाधिकारवाद, फासीवादी सर्वाधिकारवाद, राजशाही निरंकुशता और धर्मतंत्र अपनाना। अब यह एक क्रांतिकारी शासन द्वारा, एक गैर क्रांतिकारी शासन द्वारा, एक सैन्य तानाशाही द्वारा, एक तानाशाही द्वारा, एक तानाशाही नौकरशाही द्वारा प्रभावित होगा। एक मात्रात्मक और साथ ही एक गुणात्मक नजरिए से, सरकारी नियंत्रण में इस प्रकार की वृद्धि का मतलब है स्वतंत्रता में कटौती, लोगों तथा निजी समूहों की अपने व्यक्तिगत और सामाजिक संबंधों के नियमन और प्रबंधन की स्वतंत्रता में कटौती, संवैधानिक और लोकतांत्रिक संस्थानों का विघटन।" लेकिन इन संकटों के दौरान अन्य रचनात्मक ताकतें अपना काम करती रहती हैं।

हमारे समय की प्रवृत्तियां

सोरोकिन द्वारा तीन मुख्य आधुनिक प्रवृत्तियों का वर्णन किया गया है। पहली प्रवृत्ति है अनुभवात्मकवाद की वर्तमान व्यवस्था को बिखेरना। इसके अनुसार– 21वीं सदी के भीतर पश्चिमी मानव का दीप्तिमान अनुभवात्मक सदन तेजी से बिगड़ने के बाद बिखरने लगा। अन्य चीजों के अलावा लोगों तथा समूहों के आंतरिक व्यवहारों को नियंत्रित एवं मार्गदर्शित करने वाले, इसके नैतिक, कानूनी और अन्य मूल्य बिखरने लगे। जब लोग ऐसे धार्मिक मूल्यों द्वारा नियंत्रित होना बंद हो जाते हैं जो गहन रूप से आंतरिक, नैतिक और सौंदर्यवादी हों और जब उनका व्यवहार, उनके संबंध और उनकी किस्मत अपरिष्कृत तथा धोखाधड़ी जैसी ताकतों द्वारा नियंत्रित की जाने लगती है, तो इन परिस्थितियों में मनुष्य एक मानव जानवर बन जाता है जिसका संचालन मुख्य रूप से उसके जैविक आग्रह, जुनून और वासना द्वारा होता है। व्यक्तिगत और सामूहिक अप्रतिबंधित अहंभाव भड़क उठता है; अस्तित्व के लिए संघर्ष तेज हो जाता है; बल प्रधान हो जाता है; युद्ध, खूनी क्रांतियों, अपराधों, अंतर मानव संघर्षों और वहशीपन का ऐसा विस्फोट होता है जैसा पहले कभी नहीं हुआ हो।

दूसरी प्रवृत्ति परिवर्तन की उन सकारात्मक प्रक्रियाओं से संबंधित है जो अभी चालू हैं। इसके अनुसार–

भाग्यवश, विघटन प्रक्रिया सभी समाजों के लिए आमतौर पर ऐसी विपरीत ताकतों के संग्रहण को उत्पन्न करती है जो एक मौलिक व्यवस्था से दूसरी में परिवर्तित होते समय नष्ट नहीं होता। शुरुआत में ये ताकतें कमजोर और महत्वहीन होती हैं, धीरे–धीरे इनका विकास होने लगता है और फिर ये न केवल विघटन से लड़ने में सक्षम होती हैं बल्कि नई सामाजिक–सांस्कृतिक व्यवस्था बनाने में भी सफल होती हैं जो महत्वपूर्ण संक्रमण और उसके बाद के समय की विशाल चुनौतियों से जूझने की ताकत रखती हैं। नई व्यवस्था के नियोजन और निर्माण के उभार एवं विकास की यह प्रक्रिया भी उभरकर आई है और अब इसका धीरे–धीरे विकास हो रहा है। अनुभवात्मक व्यवस्था की तेजी से कमजोर होती और विनाशकारी ताकतों और उभरती, समाकलित, सामाजिक–सांस्कृतिक व्यवस्था के बीच महत्वपूर्ण संघर्ष सम्पूर्ण समकालीन सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन को चिह्नित करता है, और इससे हम सब के जीने के ढंग पर गहरा असर पड़ता है।

टिप्पणी

तीसरी प्रवृत्ति है विकासशील देशों का विकासशील महत्व यूरोप, अमेरिका और रूस के अलावा चीन, जापान, इंडोनेशिया, भारत और इस्लामी दुनिया की नवजात महान संस्कृतियां महान ऐतिहासिक नाटक के अगले हिस्सों के सितारे होंगी। इस युगांतरकारी परिवर्तन की शुरुआत पहले ही हो चुकी है। यह मानव इतिहास के भविष्य के लिए पश्चिमी सरकारों और शासक गुटों के गठबंधनों और उनके टूटने की तुलना में कहीं ज्यादा महान है।

अपनी प्रगति जांचिए

5. किस उम्र में सोरोकिन 'न्यू आइडियाज इन सोशियोलॉजी' पत्रिका के सह–संपादक बने।

   (क) 20 वर्ष (ख) 24 वर्ष

   (ग) 21 वर्ष (घ) 34 वर्ष

6. सोरोकिन द्वारा कितनी मुख्य आधुनिक प्रवृत्तियों का वर्णन किया गया है?

   (क) सात (ख) आठ

   (ग) दो (घ) तीन

1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (ग)
3. (घ)
4. (क)
5. (ख)
6. (घ)

1.6 सारांश

अगस्ट काम्टे का जन्म 1798 में दक्षिण फ्रांस के एक निम्न राजकीय अधिकारी के घर में हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा पेरिस के एक पोलिटेक्नीक संस्थान में हुई, जहां गणित और प्राकृतिक विज्ञान उनके अध्ययन के प्रमुख विषय थे।

काम्टे को 'प्रत्यक्षवाद' अथवा 'प्रत्यक्षवादी दर्शन' के जनक के रूप में ही नहीं जाना जाता है, बल्कि 'समाजशास्त्र के पिता' के रूप में भी जाना जाता है। भले ही काम्टे से पहले सेंट साइमन ने समाज के बारे में समाजशास्त्रीय ढंग से चिंतन किया था और साइमन के विचारों का प्रभाव काम्टे पर भी पड़ा था, लेकिन काम्टे ने 'सोशियोलॉजी' शब्द की रचना की और समाज का व्यवस्थित ढंग से समाजशास्त्रीय अध्ययन किया।

टिप्पणी

काम्टे ने विज्ञानों के श्रेणीक्रम का निर्माण किया है जिसकी शुरुआत उन्होंने गणित से की है। बाद में उन्होंने नक्षत्र विज्ञान, भौतिक विज्ञान, प्राणीशास्त्र, रसायन शास्त्र में प्रयोग करते हुए अंत में समाजशास्त्र में प्रयोग किया और कहा कि विभिन्न विज्ञान नैसर्गिक और तार्किक क्रम में विकसित होते हैं।

काम्टे के अनुसार मानव समाज का विकास व्यक्ति के बौद्धिक विकास के साथ हुआ है तथा उनकी विचारधारा भी तीन प्रमुख अवस्थाओं से गुजरकर विकसित हुई है जो धर्मशास्त्रीय, तत्वमीमांसीय और प्रत्यक्षवादी अवस्थाओं के नाम से क्रमशः जानी जाती है। सामाजिक चिंतन के क्षेत्र में काम्टे ने तीन स्तरों के नियम का प्रतिपादन करके अपना विशिष्ट योगदान दिया है।

इमाइल दुर्खीम का जन्म 15 अप्रैल, 1858 को एपिनल, फ्रांस में हुआ था। वे यहूदी धर्माधिकारी के वंशज थे और उन्होंने स्वयं भी यहूदी धर्माधिकारी बनने की पढ़ाई की। यद्यपि जब वे अपनी किशोरावस्था में थे, उन्होंने अपनी परंपरा को छोड़ दिया और नास्तिक बन गए। यहां से जीवनपर्यन्त धर्म के प्रति उनकी रुचि आध्यात्मिक की बजाय शैक्षणिक की रही। वे अपनी धार्मिक शिक्षा से संतुष्ट नहीं थे। वे अपनी स्कूली शिक्षा वैज्ञानिक तरीके से चाहते थे एवं सामाजिक जीवन के लिए नैतिक सिद्धान्तों की अनिवार्यता को समझते थे।

विज्ञान के प्रति उनकी जिज्ञासा जर्मनी की एक यात्रा से और बढ़ गयी जहां उन्होंने विल्हेम वुन्ड को वैज्ञानिक मनोविज्ञान के अन्वेषक के रूप में देखा। जर्मनी यात्रा के तुरंत बाद के वर्षों में उन्होंने अपने अनुभवों के बारे में अपनी अवधारणा पर आधारित कुछ सामग्री छपवायी। इन प्रकाशनों ने उन्हें 1887 में बॉरडॉक्स विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में स्थान बनाने में मदद प्रदान की। दुर्खीम ने एक फ्रांसीसी विश्वविद्यालय को समाज विज्ञान के पहले पाठ्यक्रम का प्रस्ताव दिया। यह एक विशेष उपलब्धि थी, क्योंकि केवल एक दशक पहले एक फ्रांसीसी विश्वविद्यालय में अगस्ट काम्टे द्वारा दिए गए एक शोध व्याख्यान में अत्यधिक उत्तेजना उभरी थी।

समाजशास्त्र की स्थापना करने वालों में एक अगस्ट काम्टे के प्रत्यक्षवाद को दुर्खीम के द्वारा 'विज्ञान' के एक नमूने के रूप में लिया गया। यह ध्यान रखना अनिवार्य है कि दुर्खीम के समाजशास्त्र पर अगस्ट काम्टे का गहरा प्रभाव है। अगस्ट काम्टे के विचारों ने सभी विज्ञानों की सकारात्मक प्रगति का, जिसका अंतिम पड़ाव समाजशास्त्र होगा, बचाव किया (जिसे उन्होंने आरंभ में सामाजिक भौतिक का नाम दिया)। यह सबसे अधिक परिष्कृत सकारात्मक विज्ञान था, क्योंकि इसने पूर्व के सभी विज्ञानों के योगदानों को अध्ययन की विषय वस्तु में एकीकृत किया।

दुर्खीम की पहली प्रमुख पुस्तक 'डे ला डिवीजन डू ट्रेवेल सोशल' थी जो उनका डॉक्टरेट शोध भी था एवं यह ऑगस्ट काम्टे से अत्यधिक प्रभावित था। इस पुस्तक का सार व्यक्ति एवं समूह के बीच वह व्यवहार था जो यह जानने की खोज करता था कि 'किस प्रकार व्यक्तियों की विविधता सामाजिक अस्तित्व की स्थिति को प्राप्त करती है जिसे सर्वसम्मति कहते हैं।' इस प्रश्न के उत्तर में दुर्खीम ने एकजुटता के दो प्रकारों – यांत्रिक एकजुटता एवं कायिक एकजुटता के बीच अंतर किया है।

दुर्खीम के अनुसार, विज्ञान आज के समाज में सर्वाधिक बौद्धिक एवं नैतिक सत्ता है। हमारा समाज व्यक्तिवादी एवं बुद्धिवादी है। यद्यपि व्यक्ति विज्ञान के परे जा सकता है परन्तु इसकी शिक्षाओं एवं चुनौतियों को नकार नहीं सकता है। हमने यह भी देखा है कि समाज ही वैयक्तिकता एवं राष्ट्रीयता को निर्धारित करता है। प्रत्येक समाज को आम विश्वास की आवश्यकता है लेकिन ये विश्वास पारंपरिक धर्म के द्वारा उपलब्ध नहीं होते हैं, क्योंकि धर्म वैज्ञानिक भावना की जरूरतों को पूरा नहीं कर पाता है। दुर्खीम ने यह अनुभव किया कि इसका सरल समाधान है कि विज्ञान स्वंय धर्म को अपने आधार के रूप में प्रकट करता है, इससे विज्ञान का विरोधाभास नहीं होता है।

पिट्रिम एलेग्जेंड्रोविच सोरोकिन का जन्म 21 जनवरी 1889 को एक पृथक ग्रामीण क्षेत्र में, उत्तरी रूस के वोलोग्डो प्रांत में हुआ था। इनके पिता रूसी थे और वे बतौर एक शिल्पकार काम करते थे। उन्हें सुनहरे, चांदी और लोहे के सजावटी कार्यों का डिप्लोमा भी प्राप्त था। उनका विवाह एक कोमि महिला से हुआ और दोनों के तीन बच्चे थे जिनके नाम थे, सैसिलि, पिट्रिम सोरोकिन और पॉर्कपाइ। जब सोरोकिन 3 वर्ष के थे तो उनकी मां का देहांत हो गया।

माध्यमिक और उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए सोरोकिन सेंट पीटर्सबर्ग गए। 1913 में, मात्र 24 वर्ष की उम्र में वे न्यू आइडियाज इन सोशियोलॉजी पत्रिका के सह–संपादक बने। यह पत्रिका, मुख्य रूप से बाहरी सामाजिक लेखों का अनुवाद करने को समर्पित थी लेकिन इसमें कुछ रूसी लेख भी सम्मिलित हुआ करते थे। 1914 में उन्होंने सेंट पीटर्सबर्ग साइको–न्यूरोलॉजिकल इंस्टिट्यूट में पढ़ाना शुरू किया। क्राइम एंड पनिशमेंट नामक, उनकी पहली किताब 1914 में प्रकाशित हुई।

सोरोकिन द्वारा लिखे गए सभी निबंध उस समय उनके दर्शन से संबंधित समय के लिए घृणा से रंगे हुए हैं। इस घृणा को आधुनिक शहरी संस्कृति और उससे जुड़ी हर चीज के लिए नफरत भी कहा जा सकता है। सोरोकिन के लिए महानगरीय जंगल और आधुनिकता का संसार सम्पूर्ण रूप से भ्रष्टाचार के यौगिकों से भरा हुआ है, जिसे वे रूसी पुनरावृत्ति उपदेशकों की भाषा में बयान करते हैं।

1.7 मुख्य शब्दावली

- **समस्त** : संपूर्ण।
- **ब्रह्मांड** : संपूर्ण विश्व।
- **निष्कर्ष** : नतीजा।
- **संस्तरण** : फैलाना।
- **विच्छेद** : अलगाव।
- **नैसर्गिक** : प्राकृतिक।
- **प्रतिपादित** : निरूपित।
- **कायिक** : देह–संबंधी।
- **विकल्प** : उपाय।
- **वांछित** : इच्छित।

टिप्पणी

1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. अगस्ट काम्टे प्रत्यक्षवाद को किस नाम से पुकारते हैं?
2. अगस्ट काम्टे के अनुसार समाज का अध्ययन किस ढंग से किया जाना चाहिए?
3. इमाइल दुर्खीम किस धर्माधिकारी के वंशज थे?
4. इमाइल दुर्खीम ने धर्म की परिभाषा किस प्रकार दी है?
5. सोरोकिन की पहली किताब का नाम क्या था और वह किस वर्ष प्रकाशित हुई थी?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. अगस्ट काम्टे के प्रत्यक्षवाद की प्रमुख विशेषताओं की समीक्षा कीजिए।
2. अगस्ट काम्टे द्वारा प्रतिपादित तीन स्तरों के नियम की विवेचना कीजिए।
3. इमाइल दुर्खीम ने विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र को कैसे विवेचित किया है?
4. सोरोकिन द्वारा वर्णित विभिन्न संस्कृतियों की समीक्षा कीजिए।
5. सोरोकिन के समाकलित दर्शन पर प्रकाश डालिए।

1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. आर.एन. मुखर्जी, 'समाज शास्त्रीय विचारों का इतिहास', विवेक प्रकाशन, दिल्ली।
2. मुखर्जी–अग्रवाल, 'प्रमुख समाज शास्त्रीय विचारक', शिवलाल अग्रवाल एण्ड संस, आगरा।
3. गुप्ता–शर्मा, 'प्रमुख समाज शास्त्रीय विचारक', साहित्य भवन, आगरा।
4. ध्रुव दीक्षित, 'प्रमुख समाज शास्त्रीय विचारक', शिवलाल अग्रवाल एण्ड संस, आगरा।
5. महाजन–महाजन, 'प्रमुख समाज शास्त्रीय विचारक', रामदास एण्ड सन्स, आगरा।
6. Yogendra Singh, 'Modernization of Indian Tradition'.
7. C.A. Coser, 'Masters of Sociological Thoughts'.
8. Raymond Aron, 'Main Currents in Sociological Thoughts', Vol. I & II.

इकाई 2 मैक्स वेबर, मार्क्स और वेब्लिन का समाजशास्त्रीय चिंतन

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 मैक्स वेबर का समाजशास्त्रीय चिंतन
  2.2.1 सत्ता और शक्ति
  2.2.2 नौकरशाही
2.3 कार्ल मार्क्स का समाजशास्त्रीय चिंतन
  2.3.1 वर्ग संघर्ष का सिद्धांत
  2.3.2 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत
2.4 थर्स्टिन वेब्लिन : प्रौद्योगिकीय परिवर्तन एवं विलासी वर्ग का सिद्धांत
2.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.6 सारांश
2.7 मुख्य शब्दावली
2.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.9 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

मैक्स वेबर को बुर्जुआ मार्क्स कहा जाता है। वे जर्मन ऐतिहासिक निकाय, जो मार्क्स और हेगेल द्वारा प्रतिपादित अवधारणाओं की सूक्ष्म समीक्षा करता है, से प्रभावित थे। उनकी अभिरुचि पूंजीवाद की उत्पत्ति और प्रकृति में थी। वेबर ने मार्क्स को कभी नकारा नहीं। अपने कार्यों में मार्क्स द्वारा अपनाई गई प्रक्रिया से उन्हें काफी फायदा हुआ।

कार्ल मार्क्स ने कम्यूनिस्ट समाज के निर्माण की दिशा में अपने राजनीतिक उन्मुखीकरण के बावजूद अपना ध्यान पूंजीवादी समाज का द्वैतात्मक और महत्वपूर्ण विश्लेषण करने में लगाया। उनके अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था में हमारे मानवीय स्वभाव और कार्यों में असहमति व्याप्त है। मार्क्स ने अपने अधिकांश विचार यूरोप, खासकर जर्मनी में औद्योगीकरण के कारण हो रहे तीव्र बदलाव पर प्रस्तुत किए हैं।

थर्स्टिन बुंडे वेब्लिन एक अमेरिकी अर्थशास्त्री और समाजशास्त्री थे, जो अपने जीवनकाल के दौरान पूंजीवाद के एक प्रसिद्ध आलोचक के रूप में उभरे। अपनी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'द थ्योरी ऑफ द लीजर क्लास' में उन्होंने विशिष्ट उपभोग और विशिष्ट अवकाश की अवधारणा को गढ़ा।

इस इकाई में मैक्स वेबर, कार्ल मार्क्स तथा थर्स्टिन वेब्लिन द्वारा समाजशास्त्र के क्षेत्र में किए गए महान कार्यों का उल्लेख करते हुए उनके समाजशास्त्रीय चिंतन पर रोशनी डाली गई है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- मैक्स वेबर के समाजशास्त्रीय चिंतन को समझ पाएंगे;
- कार्ल मार्क्स के समाजशास्त्रीय चिंतन के बारे में जान पाएंगे;
- थर्स्टिन वेब्लिन का प्रौद्योगिकीय परिवर्तन एवं विलासी वर्ग का सिद्धांत समझ पाएंगे;
- सत्ता और शक्ति के बारे में जान पाएंगे;
- नौकरशाही की सच्चाई जान पाएंगे;
- वर्ग संघर्ष के सिद्धांत से अवगत हो पाएंगे;
- अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत को समझ पाएंगे।

2.2 मैक्स वेबर का समाजशास्त्रीय चिंतन

मैक्स वेबर का जन्म 21 अप्रैल, 1864 को एरफर्ट, जर्मनी में एक मध्यम वर्गीय परिवार में हुआ था। माता–पिता के मतान्तर की वजह से उनके बौद्धिक रुझान और मनोवैज्ञानिक उत्थान पर गहरा असर पड़ा। उनके पिताजी उच्च पदस्थ नौकरशाह थे और उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक तंत्र में धीरे –धीरे अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली थी। राजनीति में अपने को स्थापित करने के लिए वे वैसे सभी कार्य करते थे, जिनमें निजी त्याग करना पड़ता था। वेबर की मां एक निष्ठावान 'कैल्विनवादी' थीं, जो मुख्य रूप से एक सात्विक जीवन जीना चाहती थीं। मोक्ष के प्रति उनकी सोच और सुरक्षा ने उन्हें एकाकी बना दिया था। इन वजहों से वेबर के माता–पिता के वैवाहिक संबंध तनावग्रस्त थे। इसका उनके बचपन पर गहरा असर पड़ा।

शुरू में उनपर अपने पिता की जीवनशैली के प्रति रुझान रहा। लेकिन कालान्तर में वे अपनी मां के प्रति आकृष्ट हुए। घर के विरोधाभासी वातावरण ने उनकी मानसिकता पर गहरा प्रभाव डाला। 18 वर्ष की अवस्था में थोड़ी अवधि के लिए वे घर से दूर हायडलबर्ग विश्वविद्यालय में पढ़ने गए। अपनी बौद्धिक परिपक्वता का परिचय उन्होंने दे दिया था। हालांकि हायडलबर्ग में वे शुरू में लोगों से मिलने में कतराते थे लेकिन जल्द ही उन्होंने अपने पिता के पुराने जानने वाले लोगों से मिलना–जुलना शुरू किया और स्थानीय बीयर बार में कुश्ती और अन्य सामयिक परिचर्चा में हिस्सा लेने लगे। हायडलबर्ग में तीन सत्र समाप्त कर वे सैन्य सेवा में चले गए। 1884 में वे अपने घर बर्लिन चले आए और बर्लिन विश्वविद्यालय में दाखिला लिया। अगले 8 सालों तक इस विश्वविद्यालय में उन्होंने पढ़ाई की और पीएचडी की डिग्री ली। इस दौरान उनकी अभिरुचि अर्थशास्त्र, इतिहास और समाजशास्त्र में गहरी हो गयी। उन्होंने वकालत भी की और बर्लिन विश्वविद्यालय में पढ़ाने भी लगे। इन 8 सालों में वे आर्थिक रूप से अपने पिता पर निर्भर रहे। घर के माहौल से धीरे–धीरे उनमें असंतोष हो गया और अपनी मां से उनका जुड़ाव बढ़ता गया। अपनी मां के जीवन–मूल्यों का उनपर इतना गहरा

प्रभाव पड़ा कि विद्यार्थी जीवन के एक सत्र की उनकी दिनचर्या कठोर अनुशासन वाली रही। विभिन्न विषयों के लिए नियत समय, बचत और खानपान और मनोरंजन के प्रति मितव्ययिता ने धीरे–धीरे उन्हें सात्विक और परिश्रमी बना दिया।

1896 में वे हायडलबर्ग विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर बने। उसके तुरंत बाद वेबर में कुछ ऐसे लक्षण दिखे जिससे मानसिक आघात लगा। लगभग 6–7 सालों तक उनकी मनोदशा अस्थिर रही। 1903 में लंबे अंतराल के बाद उन्होंने पहली बार अमेरिका में एक व्याख्यान दिया और दुबारा ऐकेडमिक संगत में सक्रिय हुए। 1904–05 में शैक्षणिक स्तर पर उनकी 'दी प्रोटेस्टेंट्स मदर्स रीलिजन' नाम की रचना प्रकाशित हुई, जो उनके कुछ महत्वपूर्ण कार्यों में शामिल है।

वेबर ने ऐतिहासिक संदर्भ में भारत, चीन और पौराणिक जुडाइज्म को प्रकाशित किया। 14 जून, 1920 को उनकी मृत्यु हो गयी। उस समय वे अपने सबसे महत्वपूर्ण कार्य 'इकोनॉमी एण्ड सोसायटी' पर काम कर रहे थे। उनकी मृत्यु के कारण यह अधूरा रह गया लेकिन बाद में इसका प्रकाशन कई भाषाओं में हुआ।

लेखन के अलावा वेबर इस कालावधि में अन्य कई कार्यों में संलग्न रहे। 1910 में उन्होंने जर्मन सोशियोलॉजिकल सोसायटी की स्थापना में योगदान दिया। वेबर राजनीतिक रूप से बहुत सक्रिय थे और समकालीन विषयों पर लेख लिखते रहे। वेबर के पिता के नौकरशाह और मां के धार्मिक संस्कारों की वजह से उनकी मनोदशा का संघर्ष उनके निजी जीवन और कार्य में दिखता है।

2.2.1 सत्ता और शक्ति

साधारण रूप में सत्ता वह आचरण है जिसके आधार पर कोई भी अपनी शक्ति का प्रयोग करता है। सत्ता एक विशेष प्रकार का औचित्यपूर्ण प्रभाव भी है। सत्ता शक्ति का संस्थात्मक एवं विधिक रूप है। यह उस समय उत्पन्न होती है जब शासक और शासित में संबंध स्थापित होता है। यूनेस्को की 1955 की रिपोर्ट के अनुसार, "सत्ता वह शक्ति है जो कि स्वीकृत, सम्मलित, ज्ञात एवं औचित्यपूर्ण होती है।"

सत्ता की अवधारणा

सत्ता संगठन का प्राण तत्व आत्मा है। किसी प्रशासकीय संगठन के अंतर्गत उच्च अधिकारी द्वारा सत्ता के आधार पर ही अधीनस्थों से संगठनात्मक कार्यकरण का निष्पादन करवाया जाता है। सत्ता को प्रबंध की कुंजी माना जाता है।

सत्ता की अवधारणा को निम्न विचारकों की विचारधारा के अनुसार समझा जा सकता है–

1. **परंपरागत/स्थितिगत विचारधारा**– मैक्स वेबर, हेनरी फेयोल, गुलिक, उर्विक, मूने और रैले आदि विचारकों ने इस विचारधारा का समर्थन किया है। यह विचारधारा सत्ता को एक कानूनी स्थिति मानती है अर्थात सत्ता का स्रोत कानून है। हेनरी फेयोल के अनुसार, सत्ता आदेश देने का अधिकार और दिए गए आदेश का पालन करवाने की शक्ति है। इस प्रकार की सत्ता प्रकृति में बाध्यकारी और उल्लंघन करने की स्थिति में दंडात्मक स्वरूप में होती है।

2. **स्वीकृति विचारधारा**– व्यवहारवादियों (चेस्टर बर्नार्ड, साइरन) द्वारा समर्पित विचारधारा है। इस विचारधारा की मान्यता है कि सत्ता का स्रोत अधीनस्थों की स्वीकृति है।
3. **सक्षमता विचारधारा**– यह विचारधारा मानती है कि प्राधिकार का उद्‌भव पदाधिकारी के वैयक्ति गुणों, योग्यताओं, क्षमताओं और अनुभव पर आधारित है। अधीनस्थ प्राधिकार को किसी भी औपचारिक स्थिति के कारण स्वीकार नहीं करते बल्कि उसकी क्षमताओं और अनुभव के कारण स्वीकार करते हैं। इसे कार्यात्मक सत्ता के नाम से भी जाना जाता है।
4. **मैक्स वेबर और सत्ता**– मैक्स वेबर के अनुसार, सत्ता उस सामाजिक स्थिति का द्योतक है जिसमें अनुयाई स्वैच्छिक रूप से आदेश का पालन करते हैं। आदेश का स्वेच्छा से पालन करने का कारण है आदेश के प्रति दायित्व बोध और आदेश की विधिकता में विश्वास।

वेबर की सत्ता की संरचना के संदर्भ में समाजशास्त्रीय अभिरुचि आंशिक रूप से राजनीतिक आधार से प्रेरित थी। वे कोई राजनीतिक परिवर्तनकारी नहीं थे। वस्तुतः मार्क्स की बौद्धिक अभिरुचि से समानता होने एवं राजनीतिक बौद्धिकता में अंतर के कारण उन्हें बुर्जुआ मार्क्स कहा जाता था। वेबर आधुनिक पूंजीवाद के बारे में मार्क्स की भांति ही आलोचक थे लेकिन बड़े परिवर्तन की वकालत नहीं करते थे। वे समाज में धीमा बदलाव चाहते थे न कि अचानक हुआ बदलाव। लोगों द्वारा समाज को परिवर्तित करने की क्षमता पर उन्हें कम विश्वास था। यद्यपि मध्य वर्ग के बारे में वे बहुत आशान्वित नहीं थे जो उनके अनुसार छोटे स्तर के नौकरशाहों की अदूरदर्शिता से संचालित होते थे। वेबर के अनुसार बड़े राजनीतिक नेताओं में ही समाज को परिवर्तित करने की सामर्थ्य है न कि आम लोगों या नौकरशाह में। राजनीति पर यह उनका दृष्टिकोण है। उन्होंने लोकतंत्र और संसदीयवाद से राष्ट्र को ऊपर माना। अवश्य ही, राजनीति संबंधी उनके दृष्टिकोण प्रासंगिक थे।

वेबर की कार्य की प्रकृति के बारे में जो धारणा थी उसी पर उन्होंने सत्ता की बनावट का विश्लेषण किया। उन्होंने प्रभुत्व को 'एक समूह के व्यक्तियों द्वारा माने जाने वाले एक विशेष आदेश' की संभावना माना। प्रभुत्व में वेबर की अभिरुचि थी और उन्होंने इसे वैध रूप माना जिसे वे सत्ता मानते थे। समाजशास्त्र में वेबर के अनुसार सत्ता के अनुयायियों में इसे वैध बनाने के तीन आधार बताए गए – तार्किक, पारंपरिक एवं करिश्माई। इन तीनों को परिभाषित करते हुए वेबर व्यक्तिगत क्रियाओं में बहुत नजदीक रहे। लेकिन शीघ्र ही वे वृहद सत्ता की बनावट की ओर बढ़ गए।

वैध सत्ता अनेक संरचनात्मक रूप धारण कर सकती थी लेकिन वेबर की अभिरुचि नौकरशाही में अधिक थी जो उनके अनुसार वैध सत्ता का शुद्धतम प्रकार था।

आदर्श नौकशाही

वेबर ने नौकरशाही को आदर्श एवं विशिष्ट शब्दों में अंकित किया। यद्यपि वे उसकी दुर्बलताओं से परिचित थे लेकिन उन्होंने नौकरशाही को अति सकारात्मक तरीके से चित्रित किया।

नौकरशाही की सकारात्मक विशिष्टताओं के बारे में उनका भाव मिलाजुला था। यद्यपि उन्होंने इसके लाभों का विवरण दिया लेकिन वे इसकी समस्याओं से भी परिचित थे। नौकरशाही वाली संस्थाओं के बारे में उन्होंने बहुत सी सीमाओं की चर्चा की। उन्होंने लालफीताशाही के साथ कार्य करने के संबंध में कठिनाइयों का विवरण भी किया। उन्हें ऐसा लगता था कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता में नौकरशाहों के विभिन्न तार्किकीकरण बाधक हो सकते हैं।

वेबर नौकरशाहीकरण के प्रभावों से चिंतित थे, जिसमें समाज के तार्किकीकरण में नौकरशाहीकरण का होना एक घटक मात्र था। उनका मत था कि संस्था एक बार स्थापित होने के बाद विनष्ट हो जाती है और उन्होंने नौकरशाही को व्यावहारिक रूप से 'बचने को कोई रास्ता नहीं देने वाला' माना। इसी प्रकार, कोई व्यक्ति नौकरशाह होने के बाद इसके प्रभाव से नहीं निकल पाता था–

आदर्श नौकरशाही की निम्नलिखित मूल विशेषताएं हैं –

1. कार्यालयों का निरंतर संगठन नियमों से बंधा हुआ होना।
2. हर कार्यालय में खास और परिभाषित योग्यता और क्षमता का होना। विभिन्न कार्यों को करने हेतु कर्तव्य और दायित्व का होना जिनके निष्पादन के लिए अधिकारियों और कार्यों के संपादन में अनिवार्यता का होना।
3. कार्यालयों का पदानुक्रम व्यवस्था में संगठित होना।
4. उपयुक्त प्रशिक्षण के लिए कार्यालय के अभिकर्ताओं में तकनीकी योग्यता का होना।
5. कार्यालय के कर्मचारियों का उत्पादन के स्रोतों पर स्वामित्व नहीं होता है। कार्य निष्पादन के लिए विभिन्न आवश्यक साधन उन्हें उपलब्ध रहते हैं।
6. पद विशेष की महत्ता संस्था का अंग है, पदस्थापित को पद की उपयुक्तता की अनुमति नहीं होती है।
7. प्रशासनिक कार्य, निर्णय और नियम क्रियान्वित और लिपिबद्ध किए जाते हैं।

नौकरशाही एक तार्किक संरचना है जिसका आधुनिक समाज में महत्व निरंतर बढ़ता जा रहा है, लेकिन क्या नौकरशाही का कोई विकल्प है। वेबर का स्पष्ट एवं एकमत उत्तर है कि इसका विकल्प नहीं है और बड़े पैमाने पर प्रशासन की आवश्यकता ने इसे पूरी तरह से अनिवार्य बना दिया है।

यद्यपि हम नौकरशाही को आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था का एक आवश्यक अंग मान सकते हैं। यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या साम्यवादी समाज इससे भिन्न होता है और क्या यह संभव है कि बिना नौकरशाही एवं नौकरशाह के साम्यवादी व्यवस्था बनायी जा सकती है।

वेबर का यह मानना था कि साम्यवादी व्यवस्था के मामले में नौकरशाहीकरण में वृद्धि ही होगी। यदि साम्यवादी व्यवस्था को पूंजीवादी व्यवस्था की भांति दक्षता का स्तर पाना है तो इसका अर्थ यह होगा कि पेशेवर नौकरशाही के महत्व में बेतहाशा वृद्धि होगी। पूंजीवाद में मालिक नौकरशाह नहीं होते हैं, लेकिन साम्यवादी व्यवस्था में उच्च

टिप्पणी

स्तर के नेता नौकरशाह होंगे। इसलिए वेबर ने यह माना कि अपनी समस्याओं के बावजूद, नौकरशाही की दुनिया में व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं रचनात्मक नेतृत्व के संरक्षण के लिए पूंजीवादी व्यवस्था एक अवसर प्रदान करती है। वेबर की राय में साम्यवादी व्यवस्था में नौकरशाही के बढ़ने से स्थिति और बदतर हो जाएगी।

वेबर के कार्य में उम्मीद की किरण दिखाई पड़ती है कि जो पेशेवर नौकरशाही व्यवस्था के बाहर हैं, वे इस स्थिति को कुछ नियंत्रित कर सकते हैं। इस श्रेणी में वेबर ने पेशेवर राजनेताओं, वैज्ञानिकों, और यहां तक कि पूंजीपतियों, साथ ही नौकरशाही में वरिष्ठ कर्मियों को शामिल किया है। वेबर के अनुसार राजनेताओं को नौकरशाही प्रभुत्व के प्रतिकारी बल के रूप में होना चाहिए। उनके प्रसिद्ध लेख 'पॉलिटिक्स एज ए वोकेशन' में मूलतः राजनीतिक नेतृत्व के विकास को नौकरशाहों एवं नौकरशाही के प्रतिकार के रूप में पाया गया है। इसी तरह, 'साइंस एज ए वोकेशन' में पेशेवर वैज्ञानिकों को बढ़ते नौकरशाहीकरण को नियंत्रित कर सकने वाला एवं विज्ञान का तार्किकीकरण करने वाला माना गया है।

पारंपरिक सत्ता

परंपरागत सत्ता संरचना के संबंध में अपने विचारों में वेबर ने आदर्श और विशिष्ट नौकरशाही को व्यवस्थित उपकरण के रूप में प्रयोग किया है। उनका उद्देश्य मुख्यतः पारंपरिक सत्ता की बनावट और आदर्श नौकरशाही में अंतर बताना था।

वैध सत्ता तार्किक–वैधानिक व्यवस्था की वैधता से उत्पन्न होती है। पारंपरिक सत्ता इनके नेतृत्व के दावों पर आधारित है तथा इनके अनुयायियों के इस विश्वास पर टिकी है कि पुरानी शासन व्यवस्था की पवित्रता एवं शक्ति संपन्नता है। इस व्यवस्था में नेता वरीय नहीं अपितु व्यक्तिगत स्वामी हैं।

यद्यपि नौकरशाही से जुड़े कर्मचारी अपनी निष्ठा और नियमों का अनुपालन नियमानुसार करते हैं, पारंपरिक सत्ता के कर्मचारी नेता द्वारा परंपरा को वहन करने के कारण उनका अनुपालन करते हैं जो पारंपरिक तरीके से उस पद पर चुने जाते हैं।

वेबर की अभिरुचि पारंपरिक नेतृत्व के कर्मचारियों और आदर्श एवं विशिष्ट नौकरशाह के कर्मचारियों में व्याप्त क्षमताओं में थी। उनके निष्कर्ष के अनुसार, इसमें थोड़ी–बहुत कमियां थीं। पारंपरिक कर्मचारी में स्पष्ट परिभाषित दक्षता का अभाव था जो अवैयक्तिक नियम से जुड़ा था। साथ ही, पदक्रम की भी कमी थी। नियुक्ति और प्रोन्नति के बारे में कोई स्पष्ट व्यवस्था नहीं थी।

वेबर ने पारंपरिक सत्ता के विभिन्न स्वरूपों का ऐतिहासिक विश्लेषण न केवल पारंपरिक से तार्किक वैधानिक सत्ता की ओर बढ़ने के संदर्भ में किया बल्कि इसकी मूल विशेषताओं की तुलना करने के लिए भी किया।

वेबर ने अपनी आदर्शरूपी कार्यप्रणाली का प्रयोग न सिर्फ पारंपरिक सत्ता की तार्किक वैधानिक सत्ता से तुलना हेतु किया बल्कि पारंपरिक सत्ता की मुख्य विशेषताओं के साथ उसके विभिन्न रूपों के विश्लेषण के लिए भी किया। जेरेनोट्रिकेसी (Gerontocracy) में शासन वो करता है जो वयस्कों में उसकी तुलना में वरिष्ठ है। पितृसत्ता भी पुरुषों द्वारा सरकार की एक प्रणाली को संदर्भित करती है।

वेबर के अनुसार पारंपरिक सत्ता का कोई भी स्वरूप तार्किकता के विकास में बाधक है। तार्किक समाज के विभिन्न घटकों के उत्थान में खासकर पूंजीवाद के लिए पारंपरिक सत्ता की बनावट और कामकाज अवरोधक हैं। यहां तक कि पितृवाद – जो परंपरावाद का आधुनिक स्वरूप है – आरंभिक पूंजीवाद के कुछ स्वरूपों के विकास की अनुमति देता है किन्तु वर्तमान पाश्चात्य पूंजीवाद की विशेषताओं के तर्कों की अनुमति नहीं देता है।

करिश्माई सत्ता

वेबर के अनुसार कार्य में करिश्मा की अवधारणा की महत्वपूर्ण भूमिका है, लेकिन उनकी अवधारणा आज के आम लोगों की धारणा से बहुत भिन्न है। यद्यपि वेबर ने यह स्वीकार किया है कि करिश्माई नेता में असाधारण विशेषताएं होती हैं, उनके करिश्मे की समझ अनुयायियों के समूह एवं उनके करिश्माई नेता को समझने के ढंग पर निर्भर करती है। वेबर की समझ को सीधे तौर पर कहा जा सकता है कि यदि अनुयायी एक नेता को करिश्माई के रूप में समझते हैं तो करिश्माई गुण हो या न हो, वह करिश्माई नेता के जैसा है। इस प्रकार, एक नेता आम लोगों से अलग एवं आरदणीय होता है जैसे कि उसमें कोई दैवी, अलौकिक या कम से कम ऐसा गुण या शक्ति अवश्य है जो आम लोगों में नहीं होती है।

वेबर के अनुसार करिश्मा सामाजिक संसार के लिए सबसे परिवर्तनकारी शक्तियों में से है। जबकि परंपरागत अधिकार (सत्ता) स्पष्टतया रूढ़िवादी है। करिश्माई नेता का अभ्युदय उस व्यवस्था के लिए खतरा हो सकता है (तार्किक रूप से वैध व्यवस्था के लिए भी) तथा व्यवस्था में परिवर्तन हो सकता है। अभिकर्त्ता के मानसिक परिवर्तन एवं परिणामस्वरूप वस्तुनिष्ठ या आंतरिक रूप से मनोवृत्ति अथवा विश्वास में परिवर्तन (पुनर्विन्यास) करिश्माई शक्ति को परिवर्तनकारी शक्ति के रूप में भिन्न करता है। इस प्रकार का परिवर्तन दुनिया की समस्याओं के प्रति केन्द्रीय दृष्टिकोण में क्रांतिकारी परिवर्तन ला सकता है। यद्यपि वेबर यहां व्यक्तिगत विचार एवं कार्य में परिवर्तन की बात करते हैं। वेबर ने सत्ता की बनावट में परिवर्तन 'करिश्माई सत्ता के अभ्युदय' पर केन्द्रित किया है। जब इस प्रकार की कोई नई सत्ता का उदय होता है तो इससे लोगों की सोच एवं कार्य में विशेष रूप से परिवर्तन होता है।

वेबर की सिद्धान्तवादी व्यवस्था में एक प्रमुख परिवर्तनकारी शक्ति के रूप में तार्किकता निहित है। जहां करिश्मा एक आंतरिक परिवर्तनकारी शक्ति है जो अभिकर्त्ताओं में मानसिक परिवर्तन करती है। तार्किकता एक बाह्य परिवर्तनकारी शक्ति के रूप में पहले समाज की संरचना को परिवर्तित करती है, और अंत में व्यक्ति की सोच एवं कार्य में परिवर्तन लाती है। वेबर की रुचि करिश्मा की परिवर्तकारी शक्ति एवं इसकी संरचना एवं आवश्यकता में थी जो सत्ता को बने रहने के लिए परिवर्तित करती है।

वेबर ने करिश्मा के विश्लेषण का आरंभ आदर्श एवं ठेठ नौकरशाही से किया है। उन्होंने यह निर्धारित करने का प्रयास किया कि करिश्माई सत्ता की संरचना, इसके अनुयायियों एवं कर्मचारी के साथ नौकरशाही से कितनी भिन्न है। आदर्श एवं ठेठ नौकरशाही की तुलना में करिश्माई नेता के कर्मचारी वर्ग में लगभग सभी मामलों में कमी होती है। कर्मचारी वर्ग तकनीकी रूप से प्रशिक्षित नहीं होते हैं, बल्कि किसी खास गुणों के कारण या कम–से–कम करिश्माई नेता के गुणों के सदृश गुण के कारण चुने

जाते हैं। वे कार्यालयों में स्पष्ट पदानुक्रम में नहीं होते हैं और उनके कार्य से उनके पेशे का गठन नहीं होता है, न ही कोई पदोन्नति होती है। वे स्पष्ट नियुक्ति या पद से च्युत किया जाते हैं। करिश्माई नेता को जब ऐसा लगता है कि उनके कर्मचारी स्थिति को संभाल नहीं पा रहे हैं तो वे हस्तक्षेप करने के लिए स्वतंत्र होते हैं। संगठन में कोई औपचारिक नियम नहीं होते हैं, कोई स्थापित प्रशासनिक अंग नहीं होते हैं। वेबर ने पाया कि नौकरशाही संगठन की अपेक्षा करिश्माई नेता के कर्मचारी अत्यधिक निम्न होते हैं।

वेबर की रुचि उस संगठन में है जिसके पीछे करिश्माई नेता एवं कर्मचारी हैं। नेता की मृत्यु के बाद करिश्माई सत्ता की स्थिति क्या होती है? करिश्माई व्यवस्था स्वाभाविक रूप से कमजोर होती है। वह अपने नेता के जीवित रहने तक ही अस्तित्व में रहती है। क्या यह संभव है कि ऐसा संगठन अपने नेता के बाद भी जीवित रहता है? इसका उत्तर करिश्माई नेता के कर्मचारियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि अपने नेता की मृत्यु के बाद वे जीवित रहते हैं। इस संगठन के अस्तित्व में बने रहने में उनका स्वार्थ निहित होता है। यदि संगठन अस्तित्व में नहीं रहता है, तो वे कार्य विहीन हो जाते हैं। इसलिए कर्मचारियों के लिए यह चुनौती होती है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दें कि उनके नेता की मृत्यु के बाद भी करिश्मा कुछ रूप में कायम रहे। वेबर के अनुसार यह एक कठिन संघर्ष होता है क्योंकि करिश्मा स्वाभाविक रूप से अस्थिर होता है और यह नेता के जीवित रहने तक ही अपने शुद्ध रूप में बना रहता है।

करिश्माई नेता की मृत्यु के बाद कर्मचारी इस तरह की रणनीति अपना सकते हैं कि संगठन अधिक समय तक चले। कर्मचारी दूसरे करिश्माई नेता की खोज सकते हैं, लेकिन फिर भी संभवतः नए नेता अपने पूववर्ती के समान वातावरण नहीं बना पाते हैं। इस तरह का शासन शीघ्र ही पारंपरिक होने लगता है तथा जो करिश्माई नेतृत्व था वह पारंपरिक सत्ता के रूप में परिवर्तित होने लगता है। किसी भी तरह से नेतृत्व का स्वरूप बदलने लगता है क्योंकि व्यक्तिगत करिश्मे की विशेषता मिटने लगती है। फिर भी दूसरे तरीकों से करिश्माई नेता अपने उत्तराधिकारी को मनोनीत करता है। लेकिन यह संदेहास्पद होता है कि यह तकनीक लंबे समय तक सफल हो पाए।

शक्ति का सिद्धान्त

वेबर ने शक्ति को वह अवसर बताया है जिसे एक व्यक्ति अन्य के विरोध के बावजूद सामाजिक संबंधों के अन्तर्गत स्वंय प्राप्त करता है। यह एक अति व्यापक परिभाषा है। इतिहास एवं समाजशास्त्र के अध्ययन के लिए इस परिभाषा को अधिक उपयोगी बनाने के लिए वेबर ने प्रभुत्व का विकल्प प्रस्तुत किया अथवा सावधानीपूर्वक इस अवधारणा को परिभाषित किया। वेबर ने प्रभुत्व को परिभाषित करते हुए कहा कि 'यह एक निश्चित विशेष आदेश है जिसे एक समूह के द्वारा माना जाएगा' (वेबर, 212)। प्रभुत्व से संबंधित विशेषता आज्ञाकारिता, सरोकार, विश्वास एवं निरंतरता पर आधारित होती है। वेबर ने बताया कि प्रभुत्व के सभी वास्तविक रूपों में एक न्यूनतम स्वैच्छिक अनुपालन होता है। प्रभुत्व में अभिभावक–बच्चे का, नियोक्ता–कर्मचारी का और शिक्षक–विद्यार्थी का संबंध हो सकता है।

टिप्पणी

शक्ति जो प्रभुत्व से जुड़ी है उनमें शामिल हैं—

- वह शक्ति जिसमें स्वैच्छिक अनुपालन या आज्ञाकारिता होती है, व्यक्ति पर आज्ञापालन के लिए दबाव नहीं डालती है, बल्कि वे स्वैच्छिक रूप से आज्ञापालन करते हैं।
- जो आज्ञा का पालन करते हैं उसमें उनका स्वार्थ निहित होता है, अथवा वे ऐसा विश्वास करते हैं कि उनका इसमें स्वार्थ निहित है।
- प्रभुतासंपन्न व्यक्तियों या समूह के कार्यों की वैधता में विश्वास होता है (यद्यपि वेबर ने इसे सत्ता/अधिकार के रूप में परिभाषित किया है)। 'वैधता के लिए विशेष दावा एक महत्वपूर्ण मात्रा में होता है तथा इसके अनुसार इसे वैध माना जाता है' (वेबर, 214)।
- अनुपालन या आज्ञापालन अनियमित या लघु–कालीन सामाजिक संबंध से संबद्ध नहीं होता है। इसका प्रभुत्व एवं अधीनता के साथ टिकाऊ संबंध होता है जिससे असमानता का नियमित प्रकार स्थापित होता है।

जब प्रभुत्व एक महत्वपूर्ण समय तक कार्य करता है तब यह एक संरचित घटना हो जाती है। साथ ही प्रभुत्व का प्रकार सामाजिक संरचना बन जाता है। सामान्यतया अस्थायी या परिवर्तनशील प्रकार की शक्ति को प्रभुत्व नहीं माना जाता है। प्रभुत्व की यह परिभाषा उन प्रकारों से दूर है जो केवल शक्ति पर आधारित हैं, शक्ति प्रमुख समूह की स्वीकार्यता या उसके आदेशों के स्वैच्छिक अनुपालन में नहीं हो सकती है। खुले संघर्ष की परिस्थिति एवं शक्ति दोनों अपेक्षाकृत असामान्य हैं। उदाहरण के लिए, वेबर वर्ग–संघर्ष एवं वर्ग–कलह के स्पष्ट रूप को असामान्य मानते हैं। उनके प्रभुत्व की परिभाषा संकीर्ण हो सकती है, जो संरचित संबंधों के अध्ययन में सहायक है। जबकि नियोक्ता एवं कर्मचारी या अन्य तरह के संबंध प्रभुत्व एवं अधीनता की विशेषता वाले होते हैं, सामान्यतया संघर्ष वाले होते हैं। शक्ति का प्रयोग हमेशा या सामान्य नहीं होता है, अधीनस्थ आज्ञा का पालन करते हैं एवं तत्परता से इस अधीनता को स्वीकार करते हैं।

गिडेन्स ने वैधता के विभिन्न स्तरों की व्याख्या की है तथा बताया है कि समय के साथ किस प्रकार ये स्थापित हो सकते हैं। जहां लोग एक समान व्यवहार का विकास करते हैं, वेबर इसे प्रचलन मानते हैं। लंबे समय तक स्थापित प्रचलन प्रथा बन जाते हैं। निरंतर व्यवहार में बने रहने से ये समूह या समाज में कार्यान्वित हो सकते हैं तथा इन्हें किसी विशेष समूह द्वारा किसी प्रवर्तन की जरूरत नहीं होती है। परंपरा अनुरूपता का एक मजबूत परिमाण है। यहां अनुपालन मात्र स्वैच्छिक अथवा प्रथागत नहीं होता है। परंपरा का अनुपालन नहीं करने वालों के लिए कुछ प्रकार के प्रतिबंध हो सकते हैं। ये औपचारिक प्रतिबंध हो सकते हैं, इनसे मामूली अस्वीकार्यता हो सकती है या सख्त एवं अनुशासनात्मक प्रतिबंध या निर्वासन हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, अलग प्रकार की पोषाक एक स्थान विशेष के लिए प्रथा हो सकती है या नियम के अन्तर्गत आरोपित हो सकती है। सामान्य रीति–रिवाज एवं प्रथा नियम के आधार होते हैं और उनके उल्लंघन के फलस्वरूप कुछ प्रतिबंध आरोपित हो सकते हैं।

यदि प्रथा किसी व्यक्ति या समूह के द्वारा अपनाई जाती है और उसमें वैध क्षमता तथा प्रतिबंध आरोपित करने की क्षमता होती है, तो वह नियम बन सकती है। जहां एक

समूह प्रतिबंध लागू करने के लिए इसके उल्लंघन करने पर दंडित कर सकता है और कानूनी आदेश देना आरंभ कर सकता है।

2.2.2 नौकरशाही

मैक्स वेबर का नौकरशाही संबंधी सिद्धांत उनके प्रमुख सिद्धांतों में से एक माना जाता है। हालांकि 19वीं सदी के अन्य विचारकों ने भी शक्ति और सत्ता के आधार पर नौकरशाही का वर्णन किया था, परंतु मैक्स वेबर ऐसे प्रथम विचारक थे जिन्होंने नौकरशाही की उत्पत्ति और कार्यों का ही उल्लेख नहीं किया, अपितु इसका व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया। वेबर ने सर्वप्रथम नौकरशाही का आदर्श रूप प्रस्तुत किया है। वेबर ने प्रशासनिक तथा पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में नौकरशाही को महत्वपूर्ण व्यवस्था माना है इसलिए उनके नौकरशाही संबंधी अध्ययन को महत्वपूर्ण माना जाता है। मैक्स वेबर ने शक्ति एवं सत्ता के आधार पर नौकरशाही के कार्यों का व्यवस्थित अध्ययन किया है।

शक्ति और सत्ता

मैक्स वेबर ने शक्ति और सत्ता के संदर्भ में अपने विस्तृत सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार यदि किसी शक्ति के पीछे कानून, पद अथवा कोई और वैध आधार है तो वह सत्ता कहलाती है। सत्ता व्यक्ति को वैध रूप से ऐसे अधिकार देती है जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्तियों, संगठनों आदि को नियंत्रित करता है। वेबर ने औपचारिक तौर पर सत्ता के स्रोत के आधार पर तीन प्रकार बताये हैं–

(1) **परंपरागत सत्ता** (Traditional Authority)– वेबर के अनुसार जब व्यक्ति को सत्ता परंपरा के अनुसार प्राप्त होती है अथवा प्रदत्त होती है तो यह परंपरागत सत्ता कहलाती है। जातियों, जनजातियों, ग्रामों, परिवारों, आदि में सत्ता एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को परंपरा के आधार पर हस्तांतरित होती है। उदाहरणस्वरूप, मुखिया का बेटा मुखिया और राजा का बेटा राजा बनता है। वेबर के अनुसार जब प्रजा राजा अथवा अधीनस्थ अधिकारियों के आदेशों को इस आधार पर स्वीकार करती है कि ऐसा हमेशा से होता आया है, तो इस प्रकार की सत्ता को परंपरागत सत्ता कहा जाता है। इस प्रकार परंपरागत सत्ता का अभिप्राय उस अधिकार से है जो शक्ति के अनवरत प्रयोग से उभरता है।

(2) **कानूनी सत्ता** (Legal Authority)– कानूनी सत्ता के अंतर्गत विधान अथवा कानून व्यक्ति को शक्ति प्रदान करता है जिसका सामान्य लोगों को ध्यान रखना पड़ता है, क्योंकि यदि सामान्य लोग कानूनी–सत्ता का पालन नहीं करते हैं तो उन्हें दण्ड दिया जा सकता है। इसे वैधानिक औपचारिक सत्ता भी कहा जाता है। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, पुलिस, जज आदि कानूनी सत्ता के उदाहरण हैं। कहा जा सकता है कि जब अधीनस्थ किसी नियम को इस आधार पर स्वीकार करते हैं कि वह नियम उच्चस्तरीय अमूर्त नियमों के अनुसार है, जिसे वे औचित्यपूर्ण समझते हैं, तब ऐसी सत्ता को कानूनी सत्ता माना जाता है। कानूनी सत्ता को बौद्धिक सत्ता भी कहा जाता है। यह सत्ता संवैधानिक नियमों के अंतर्गत धारण किये गये पदों से प्राप्त होती है। इसमें सत्ता का प्रत्यायोजन बौद्धिक आधार पर

किया जाता है तथा कर्मचारी वैधानिक रूप से निर्वैयक्तिक आदेशों के आधार पर आज्ञापालन करते हैं। सत्ता का यह प्रकार आधुनिक नौकरशाही को विशुद्ध तौर पर प्रकट करता है।

(3) **चमत्कारिक सत्ता** (Charismatic Authority)– चमत्कारिक सत्ता उन लोगों के पास होती है जो आम नागरिकों को अपने चमत्कार द्वारा प्रभावित करके उन पर नियंत्रण प्राप्त कर लेते हैं। धर्म–गुरुओं, साधुओं, संतों, चमत्कारी पुरुषों में चमत्कारी सत्ता देखी जा सकती है। इसी प्रकार किसी व्यवस्था के अंतर्गत जब अधीनस्थ वरिष्ठ सत्ताधारी के आदेशों को इस आधार पर न्यायसंगत माना जाता है कि उन पर सत्ताधारी व्यक्तित्व का प्रभाव है तो इसे चमत्कारी सत्ता कह सकते हैं। ऐसी सत्ता की स्थिति में कोई प्रत्यायोजन नहीं होता है तथा अधीनस्थ लोग सत्ताधारी के व्यक्तिगत सेवक के तौर पर कार्य करते हैं। इसमें अधीनस्थ अनुयायी होते हैं तथा अपने प्रिय नेता के करिश्माई व्यक्तित्व के कारण उनके आदेशों का पालन करते हैं। वेबर का कहना है कि जब कानूनी सत्ता कमजोर पड़ने लगती है तो कभी–कभार परंपरागत और चमत्कारिक सत्ता का सहारा ले लिया जाता है।

नौकरशाही का अर्थ तथा परिभाषाएं

'नौकरशाही' का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'ब्यूरोक्रेसी' (Bureaucracy) है जो फ्रांसीसी भाषा के 'ब्यूरो' शब्द से निकला है, जिसका अर्थ विभागीय उप–विभाग अथवा संभाग से है। यह प्रायः सरकारी विभाग का परिचायक होता है जिसका प्रयोग फ्रांस में 'ड्राअर वाली मेज' अथवा 'लिखने की डैस्क' के लिए होता था। इस डैस्क को ढके जाने वाले कपड़े को 'ब्यूरल' कहा जाता था तथा इसी के आधार पर 'ब्यूरो' शब्द का प्रयोग प्रारंभ हुआ। 'ब्यूरो' शब्द का अंग्रेजी अर्थ 'कार्यालय' भी होता है तथा 'ब्यूरोक्रेसी का अर्थ 'अधिकारी–तंत्र', 'कर्मचारी तंत्र', 'सेवक तंत्र' आदि भी होता है।

मैक्स वेबर ने नौकरशाही को समाजशास्त्रीय अर्थ में परिभाषित किया है। उनके अनुसार नौकरशाही तार्किक तथा विवेकशील नियमों पर आधारित है। इसमें अधिकार, सत्ता तथा उत्तरदायित्वों का संस्तरणात्मक विभाजन पाया जाता है। इसका उद्देश्य किसी औद्योगिक, व्यापारिक, राजनैतिक, धार्मिक, शैक्षिक या किसी भी अन्य प्रकार के संगठन के उद्देश्यों को प्रभावशाली ढंग से प्राप्त करने के लिए किया जाता है। इसमें लिखित नियम होते हैं और इसमें विभिन्न व्यक्तियों से कार्यों का समन्वय स्थापित किया जाता है। इस तरह से वेबर का मानना है कि नौकरशाही के विशुद्ध प्रारूप की परिभाषा नौकरशाही की प्रमुख विशेषताओं के अनुसार दी जा सकती है।

नौकरशाही की विशेषताएं

वेबर का मानना है कि नौकरशाही तंत्र तार्किक नियमों की व्यवस्था है जहां कानून का शासन पाया जाता है। वहां नौकरशाही तंत्र कुछ सिद्धांतों में निर्देशित होते हैं। 'ऐसेज इन सोशियोलॉजी' नामक पुस्तक में मैक्स वेबर ने नौकरशाही की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार बतायी हैं–

(1) **प्रशासकीय नियम** (Administrative Law)– वेबर के अनुसार एक प्रशासकीय ढांचे में प्रशासकों और कर्मचारियों के कार्यक्षेत्र निश्चित तरीके से बांट दिये जाते

हैं तथा सामान्यतः यह विभाजन प्रशासकीय नियमों के अनुसार पूरा किया जाता है। इस प्रशासकीय संगठन के तीन तत्व होते हैं–

- प्रशासनिक–तंत्र के लिए अनिवार्य और नियमित कार्यकलापों को एक निश्चित तरीके से राजकीय कर्तव्यों के तौर पर विभाजित कर दिया जाता है अर्थात कुछ विशिष्ट प्रकार के कार्यों को करने के प्रत्येक अधिकारी के कार्यकलाप राजकीय कर्तव्य के रूप में बंटे रहते हैं।
- उपरोक्त निर्धारित कार्यों को करने के लिए अधिकारी को आवश्यक सत्ता अथवा अधिकार प्रदान कर दिये जाते हैं यानी एक अधिकारी की सत्ता नियमों द्वारा सीमित या निर्धारित होती है कि वह किस सीमा तक बल–प्रयोग जैसे उपायों को काम में लेते हुए आवश्यक निर्देशों की परिपालना करा सकता है।
- इन कार्यों को निरंतर तथा नियमित तौर पर पालन करने की एक उचित व्यवस्था होती है तथा जो व्यक्ति इन कार्यों को करने की नियमानुसार आवश्यक योग्यता रखते हैं, उन्हीं को नौकरी में रखा जाता है।

मैक्स वेबर के अनुसार सरकारी क्षेत्र में उपर्युक्त तीनों तत्वों को सम्मिलित करके ही नौकरशाही सत्ता का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार की नौकरशाही की व्यवस्था का पूरी तरह से विकसित स्वरूप केवल आधुनिक राज्यों में ही देखने को मिल सकता है।

(2) **साधन** (Means)– वेबर के अनुसार नौकरशाही तंत्र में सभी अधिकारी अपने कार्यों को पूरा करने के लिए प्रयोग में लाये जाने वाले साधनों के मालिक स्वयं ही नहीं होते हैं, बल्कि सरकारी तंत्र द्वारा उन्हें साधन उपलब्ध कराए जाते हैं जिनका नियमानुसार वे प्रयोग करते हैं। इसमें सरकारी आय और व्यक्तिगत आय को एक–दूसरे से पूरी तरह से अलग रखा जाता है।

(3) **प्रशिक्षण** (Training)– वेबर का कहना है कि आधुनिक नौकरशाही में कार्यालयों में कार्य विशेषीकृत रूप में होता है, इसलिए कर्मिकों के प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। इस प्रकार सरकारी तथा निजी सभी कार्यालयों में काम करने के लिए पर्याप्त प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है।

(4) **संस्तरण व्यवस्था** (Hierarchical Order)– वेबर के अनुसार नौकरशाही तंत्र का सिद्धांत होता है कि इसमें अधिकारी तथा उसकी सत्ता का संस्तरण विद्यमान हो यानी इसमें सत्ता का विभाजन एक निश्चित पद के अनुसार होता है। इसमें उच्च अधिकारियों के अधीन निम्न अधिकारी और कर्मचारी कार्य करते हैं, लेकिन इस व्यवस्था के अंतर्गत निम्न पदाधिकारियों के निर्णयों के खिलाफ उच्च अधिकारियों के पास अपील की जा सकती है। इस तरह की संस्तरणात्मक या उतार–चढ़ाव की व्यवस्था संपूर्ण नौकरशाही संरचना में पायी जाती है।

(5) **लिखित दस्तावेज** (Written Records)– नौकरशाही तंत्र में कार्यालयों का कार्य–संचालन फाइलों अथवा लिखित दस्तावेजों के माध्यम से संपन्न किया जाता है, जिन्हें पूरी तरह सुरक्षित रखा जाता है। इन कार्यों को पूरा करने के

लिए अलग–अलग फाइलें बनाई जाती हैं और फाइलों को सुरक्षित रखने के लिए क्लर्क, फाइल कीपर आदि को नियुक्त किया जाता है।

(6) **कुशल व्यक्तियों का प्रशासन** (Administration by Efficient Persons)– वेबर के अनुसार नौकरशाही की एक विशेषता यह होती है कि इसमें प्रशासन कुशल व्यक्तियों के हाथों में सौंप दिया जाता है, जिनकी सामाजिक–आर्थिक स्थिति से प्रशासन पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि इसमें व्यक्तिगत स्तर पर अलग–अलग निर्णय नहीं लिया जाता है। नौकरशाही तंत्र में सत्ता का प्रयोग नियमानुसार किया जाता है तथा सभी व्यक्ति जो सत्ता से संबंध रखते हैं वैधानिक रूप से समान होते हैं। इस व्यवस्था में प्रायः दक्ष या निपुण व्यक्तियों का प्रशासन होता है जो वर्तमान समय में शिक्षा से जुड़ गया है, क्योंकि अब नियुक्तियों का आधार शैक्षिक प्रमाण पत्र और डिग्रियों को मान लिया गया है।

(7) **अवैयक्तिक** (Impersonal)– वेबर का कहना है कि आधुनिक समय में नौकरशाही की यह विशेषता हो गयी है कि अधिकारी किसी विशेष विषय पर निर्णय लेते समय वैयक्तिकता पर ध्यान नहीं देकर अवैयक्तिक लक्ष्यों पर ध्यान देते हैं। नौकरशाही प्रशासन की श्रेष्ठता की कसौटी यही है कि इसमें अधिकारी अपनी शक्ति को बनाये रखने के साथ ही उसे बढ़ाने के लिए भी हमेशा सजग रहते हैं, क्योंकि इसमें अवैयक्तिक लक्ष्यों को ध्यान में रखा जाता है। यह विश्वसनीयता को बढ़ावा देता है।

(8) **स्थायी सत्ता** (Stable Authority)– वेबर का कहना है कि नौकरशाही का स्वरूप स्थायी और अविनाशी है। इसमें अधिकारी अपने साथियों के साथ इस प्रकार संबद्ध रहता है कि नौकरशाही तंत्र की निरंतरता बनी रहती है। वर्तमान में सार्वजनिक कुशल प्रशिक्षण, विशेषीकरण तथा प्रशासनिक कार्यों के समन्वय पर आधारित है, यही कारण है कि राज्यों में आज नौकरशाही के माध्यम से ही कार्यों को पूरा किया जाता है तथा इसी को देखकर वेबर ने कहा है कि नौकरशाही का स्वरूप स्थायी और अविनाशी है।

(9) **अधिकारियों की विशेष स्थिति** (Special Status of Officers)– नौकरशाही व्यवस्था के अंतर्गत बड़े–बड़े कार्यों को पूरा करने के लिए कर्मचारियों को अधिकाधिक काम पूरा करना होता है, भले ही उनके काम करने की अवधि निश्चित की गई हो। यही कारण है कि निर्धारित अवधि के बाद भी उच्च–स्तरीय कर्मचारी और अधिकारी कार्यालय में बैठे रहते हैं। इस व्यवस्था में अधिक समय तक काम करके एक प्रकार से अपने से बड़े अधिकारी को अपने काम से प्रसन्न करके पदोन्नति प्राप्त करने का तरीका भी शामिल है।

(10) **तकनीकी श्रेष्ठता** (Technical Superiority)– वेबर के अनुसार नौकरशाही तंत्र की यह भी विशेषता है कि इसका संगठन तकनीकी दृष्टि से श्रेष्ठ होता है। नौकरशाही की कुछ विशेषताएं, जैसे– लिखित प्रलेखों का ज्ञान, विवेक, निरंतरता, कार्य संचालन की सार्वभौमिकता आदि प्रशासन के अन्य तरीकों की अपेक्षा बेहतर हैं और इसी कारण सभी जगहों पर नौकरशाही को सफलता मिली है।

(11) प्रशासन के साधनों का केन्द्रीकरण (Centralization of Administrative Means)– वेबर के अनुसार केन्द्रीकरण की प्रक्रिया विश्वविद्यालय, सरकार, सेना, राजनैतिक और बड़े संगठनों में क्रियाशील होती है। वेबर का कहना है कि जैसे–जैसे संगठनों का आकार बढ़ता जाता है, इन संगठनों को सही तरीके से संचालित करने के लिए, इन्हें स्वतंत्र व्यक्तियों के हाथों से छीनकर सत्ताधारी वर्ग के हाथों में सौंप दिया जाता है, क्योंकि ऐसे स्रोत व्यक्तियों की वित्तीय क्षमता से परे होते हैं। प्रारंभ में उत्पादन, प्रशासन तथा योग्यता सभी व्यक्तिक स्तर पर मान्य थे, लेकिन केन्द्रीकरण की प्रक्रिया में इन्हें अलग–अलग कर दिया गया।

(12) कार्यालय का प्रबंध (Management of the Office)– वेबर के अनुसार नौकरशाही तंत्र में कार्यालय का प्रबंध कुछ सामान्य नियमों के अनुसार संचालित होता है, जिन्हें सीखा जा सकता है। कार्यालय के अधिकारीगण इस रूप में शिक्षित होते हैं।

वेबर द्वारा प्रस्तुत नौकरशाही तंत्र की विशेषताओं को देखकर कहा जा सकता है कि इसके अंतर्गत प्रशासनिक नियम होते हैं, सत्ता का विभाजन होता है, प्रशिक्षण की व्यवस्था होती है, लिखित फाइलें होती है, कानून के अनुसार कार्य संपादित होता है तथा अधिकारी अपनी पूरी क्षमता से कार्यों को संपन्न करते हैं।

नौकरशाही में अधिकारियों की स्थिति

वेबर द्वारा प्रस्तुत नौकरशाही की विशेषताओं के आधार पर नौकरशाही के अधिकारियों की स्थिति विशेष हो जाती है। इसमें कार्यालय का काम अधिकारियों के लिए एक पेशे अथवा व्यवसाय की तरह होता है, क्योंकि कार्यालय में काम करने के लिए उनको प्रशिक्षण दिया जाता है। इस तरह से नौकरशाही के अंतर्गत कार्यालय में काम करने के लिए प्रशिक्षण पाया जाता है और प्रशिक्षण को प्राप्त करने के लिए प्रतियोगी परीक्षाएं पास करनी होती हैं तथा प्रतियोगिता में योग्यताओं के आधार पर ही अधिकारियों की स्थिति निर्धारित होती है। वेबर के अनुसार नौकरशाही तंत्र में कार्य करने का अर्थ सुरक्षित जीवन है और बदले में ईमानदारी के साथ प्रबंध के उत्तरदायित्व का निर्वहन करना है यानी कि इस व्यवस्था में व्यक्ति अपने कार्य के प्रति ईमानदार होता है।

वेबर के अनुसार नौकरशाही में अधिकारियों की व्यक्तिगत स्थिति कई बातों पर निर्भर करती है, जिसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है–

- नौकरशाही व्यवस्था में प्रत्येक कर्मचारी निम्नतम पद और वेतन से उच्चतम पद और वेतन पर पहुंच सकता है। यह पदोन्नति उनकी योग्यता और अनुभव पर निर्भर करती है।
- नौकरशाही व्यवस्था में कर्मचारियों को साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।
- नौकरशाही के अंतर्गत कार्य करने वाले प्रत्येक अधिकारी को एक निश्चित अवधि, प्रायः एक माह के अनंतर वेतन के रूप में, एक निश्चित रकम प्रदान की जाती है। इसमें वेतन का निर्धारण पद के अनुसार होता है। अवकाश ग्रहण करने के बाद भी कर्मचारी पेंशन पाने का हकदार होता है।

- इसमें कार्य को नियमित वेतन, वेतन–वृद्धि और पदोन्नति के तौर पर पुरस्कृत किया जाता है।
- नौकरशाही व्यवस्था के अंतर्गत नौकरी प्रायः स्थायी होती है। इसमें कुछ नियुक्तियां अस्थायी भी होती हैं, जिसमें निश्चित समय अथवा कार्यावधि के बाद कर्मचारियों को कार्यमुक्त कर दिया जाता है। इस व्यवस्था में एक विभाग से दूसरे विभाग में तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानांतरण होता रहता है। हालांकि कर्मचारियों को सुरक्षा देने के लिए कानूनी व्यवस्थाएं भी होती हैं।
- नौकरशाही व्यवस्था में निम्न–स्तर के पदाधिकारियों की नियुक्ति उच्च–स्तरीय पदाधिकारियों द्वारा की जाती है। इस प्रकार कार्यालय में उन्हें उच्च पदाधिकारियों के अधीन काम करना पड़ता है तथा उनके आदेश का पालन करना पड़ता है। आवश्यक विभागीय परीक्षाएं उत्तीर्ण करने के बाद निम्न पदाधिकारी भी उच्च पदों को प्राप्त कर सकते हैं। कभी–कभार पदाधिकारियों का चयन उनकी तकनीकी योग्यता के आधार पर नहीं होकर पूर्व–सेवाओं के आधार पर होता है।

नौकरशाही के विकास के कारण

वेबर का कहना है नौकरशाही अचानक से उत्पन्न हुई व्यवस्था नहीं है, बल्कि इसका विकास धीरे–धीरे हुआ है। नौकरशाही के विकास में कुछ विशिष्ट परिस्थितियां उत्तरदायी रही हैं, जिस कारण नौकरशाही का विकास हुआ है। वेबर द्वारा प्रस्तुत नौकरशाही के विकास के प्रमुख कारणों का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है–

(1) मुद्रा पर आधारित अर्थव्यवस्था नौकरशाही के विकास में प्रमुख कारण रही है।

(2) प्रजातांत्रिक व्यवस्था और बड़े–बड़े उद्योगों की स्थापना के कारण नौकरशाही का विकास तीव्रता से हुआ है।

(3) आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था ने भी नौकरशाही के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

(4) प्रारंभ में जब मुद्रा का प्रचलन नहीं था तो अधिकारियों को कार्य के बदले वस्तुएं दी जाती थीं, परंतु मुद्रा के प्रचलन के बाद उन्हें नकद भुगतान किया जाने लगा। इस तरह से नौकरशाही के अधिकारी वेतनभोगी हो गए और नौकरशाही का व्यवस्थित विकास संभव हो सका।

(5) वर्तमान समय में प्रशासन के कार्यों में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण जटिलता आने लगी है, जिस कारण नौकरशाही के महत्व और कार्य में विस्तार होने लगा है।

(6) वैसे गुणात्मक दृष्टि से देखा जाए तो प्रशासकीय कार्यों का अत्यधिक विकास हो रहा है, जिस कारण नौकरशाही व्यवस्था का विकास भी अपने–आप ही हो गया है।

नौकरशाही के स्थायी लक्षण

वेबर ने नौकरशाही की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए उसके स्थायी लक्षणों का उल्लेख निम्न प्रकार किया है–

(1) नौकरशाही व्यवस्था में जो व्यक्ति एक बार इस व्यवस्था का अंग बन जाता है, वह कभी भी इससे मुंह नहीं मोड़ सकता है।

(2) एक बार नौकरशाही व्यवस्था स्थापित हो जाने के बाद पुनः इसे हटाना संभव नहीं है।

(3) नौकरशाही व्यवस्था एक तरह से शक्ति के संबंधों का समाजीकरण करती है और इस कारण यह एक सशक्त माध्यम बन जाती है।

(4) नौकरशाही व्यवस्था में कानूनों का परिपालन करना व्यक्ति का स्वभाव बन जाता है।

(5) वेबर का कहना है कि नौकरशाही व्यवस्था एक साधन है जो सामुदायिक क्रिया के तौर पर सामाजिक क्रिया पर विवेक या कुशलता के साथ कार्य करता है। इसी कारण वेबर ने कहा है कि यदि एक बार नौकरशाही व्यवस्था स्थापित हो जाए तो पुनः इसे हटाया नहीं जा सकता है।

नौकरशाही के लाभ

वेबर ने नौकरशाही व्यवस्था के परिणामों को पाश्चात्य देशों के संदर्भ में देखा है, लेकिन ये परिणाम इस तथ्य पर निर्भर करते हैं कि उनका उपयोग किस दिशा में हो रहा है। वेबर नौकरशाही व्यवस्था को बहुत शक्तिशाली मानते हैं तथा वर्तमान समय में हम देख रहे हैं कि यह बहुत शक्तिशाली होती भी जा रही है। नौकरशाही व्यवस्था की यह अनोखी विशेषता होती है कि इसमें पदाधिकारी विशेषज्ञ होते हैं, जिस कारण राजनैतिक, आर्थिक आदि सभी संगठन इसके सामने विवश हो जाते हैं। यह सभी तरह से सक्षम और समर्थ व्यवस्था है, जो व्यावसायिक श्रेष्ठता को भी बनाये रखती है। इस व्यवस्था के परिणाम प्रशासनिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि सभी पक्षों पर स्पष्ट तौर पर देखे जा सकते हैं।

नौकरशाही व्यवस्था को वेबर ने आधुनिक समाज के आर्थिक विकास में भी सहायक माना है। नौकरशाही का आधार विवेक होता है तथा वेबर के विशेषीकरण के संप्रत्यय का महत्वपूर्ण प्रयोग नौकरशाही व्यवस्था में देखा जा सकता है। इस तरह नौकरशाही व्यवस्था को वेबर की विवेकी क्रिया का श्रेष्ठ उदाहरण कहा जा सकता है। इस विवेकी क्रिया में साधन, नियम, तथ्य और लक्ष्य आदि की प्रमुखता होती है, जो नौकरशाही तंत्र की विशेषताएं भी होती हैं। यही कारण है कि नौकरशाही व्यवस्था का अत्यधिक लाभ सभी क्षेत्रों में नजर आता है। नौकरशाही ने अविवेकपूर्ण दमन का समापन किया है। वेबर ने नौकरशाही के संगठन के प्रकार्यात्मक पक्षों पर जोर देते हुए निष्पक्षता, विशेषज्ञता, कार्यकुशलता तथा विश्वसनीयता को इसकी विशेषताएं माना है। इस प्रकार नौकरशाही व्यवस्था के लाभ सभी क्षेत्रों में देखे जा सकते हैं।

नौकरशाही के तकनीकी लाभ

वेबर ने आधुनिक समय में नौकरशाही व्यवस्था को प्रशासन की एक वस्तुनिष्ठ सच्चाई माना है और इसके तकनीकी लाभों का विस्तार से उल्लेख किया है। वेबर के अनुसार नौकरशाही के तकनीकी लाभ को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

(1) नौकरशाही व्यवस्था में विशिष्ट–प्रशासन पाया जाता है।

(2) नौकरशाही व्यवस्था तकनीकी दृष्टि से अन्य संगठनों की अपेक्षा बेहतर होती है।

(3) नौकरशाही व्यवस्था में जो विषय–विशेषज्ञ होते हैं वे निष्पक्ष होकर कार्य करते हैं।

(4) इस व्यवस्था में गति, स्पष्टता, निरंतरता, अधीनस्थता, संघर्ष में कमी, एकता, कठोरता, स्वेच्छा, फाइलों का ज्ञान आदि अनेक लाभ परिलक्षित होते हैं, जो अन्य संगठनों अथवा व्यवस्थाओं में देखने को नहीं मिलते हैं।

(5) नौकरशाही व्यवस्था के तकनीकी लाभ के अलावा एक अन्य लाभ यह भी है कि इसके माध्यम से सामाजिक–आर्थिक विषमताओं को समाप्त किया जा सकता है। वेबर के अनुसार नौकरशाही व्यवस्था के विकास के कारण ही परंपरागत सामाजिक–आर्थिक विषमताओं में कुछ कमी आयी है।

(6) नौकरशाही व्यवस्था कानून से संबंधित होती है। इसमें औपचारिकता, समानता तथा योग्यता की जांच आदि विशेष गुण होते हैं जो कानून में भी पाये जाते हैं। इस प्रकार कानून के साथ नौकरशाही का अच्छा समीकरण बन जाता है।

नौकरशाही का आलोचनात्मक मूल्यांकन

वेबर की नौकरशाही व्यवस्था के आधार पर प्रशासकीय कार्यों का बेहतर तरीके से संचालन किया जा सकता है तथा इसे प्रशासन की दूसरी विधियों की तुलना में श्रेष्ठ भी कहा जाता है, लेकिन यह संगठन अपने अभीष्ट लक्ष्यों की पूर्ति में कहां तक सफल रहा है, इस दृष्टि से नौकरशाही व्यवस्था का मूल्यांकन करना आवश्यक है। रॉबर्ट के. मर्टन ने अपनी पुस्तक 'सोशल थ्योरी एण्ड सोशल स्ट्रक्चर' में नौकरशाही व्यवस्था के अलाभकारी कार्यों का उल्लेख किया है। इस व्यवस्था में विशिष्टता एवं नियम–बंधन लोगों को यंत्रवत कार्य करने के लिए बाध्य कर देते हैं।

वर्तमान समय में नौकरशाही व्यवस्था बहुत प्रचलित हो गयी है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वेबर का नौकरशाही व्यवस्था का सिद्धांत अपने लक्ष्यों को पाने की ओर अग्रसर हुआ है, परंतु वेबर की नौकरशाही व्यवस्था की प्रमुख कमियों को आलोचकों ने इस प्रकार वर्णित किया है–

(1) व्यावसायिक विकृति (Occupational Deformation)– मर्टन ने नौकरशाही की आलोचना करते हुए कहा है कि नौकरशाही व्यवस्था का एक दुष्प्रभाव यह है कि इसमें नियमों के बंधन इतने कठोर हो जाते हैं कि लोगों को अपने व्यवसाय के प्रति मानसिक असंतोष अथवा क्षोभ पैदा हो जाता है।

(2) प्रशिक्षित अयोग्यता (Trained Incapacity)– वैवलेन की अवधारणा 'प्रशिक्षित अयोग्यता' का उल्लेख करते हुए मर्टन ने कहा है कि नौकरशाही व्यवस्था में विशिष्टता और नियमों का बंधन लोगों की योग्यता को बाधित कर देता है यानी अधिकारियों की क्षमताएं उनकी कमियां बन जाती हैं। समस्त कार्यों को सफलतापूर्वक संपादित करने वाला व्यक्ति प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद कुछ विशिष्ट कार्यों के अंतर्गत बंधे होने के कारण कुंठित महसूस करता है। यह नौकरशाही व्यवस्था का एक अवगुण माना जा सकता है।

(3) औपचारिकता (Formality)– इस व्यवस्था में औपचारिकताओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है, जिस कारण कार्य की गति मंद हो जाती है तथा समय और धन का दुरुपयोग होता है। विशेष परिस्थितियों में भी किसी प्रकार का तालमेल नहीं होने से कभी–कभार बड़ी बाधाओं और समस्याओं का सामना करना पड़ जाता है, क्योंकि इसमें नियमों के बंधनों की औपचारिकता परिस्थितियों के अनुरूप समझौता नहीं करने देती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि नियम आवश्यक तो होते हैं, परंतु परिस्थितियों के अनुरूप उनमें समझौते का गुण भी होना चाहिए था, जो कि इस नौकरशाही व्यवस्था में नहीं देखा जा रहा है।

(4) रचनात्मक अतिसमरूपता (Structural Over Conformity)– नौकरशाही व्यवस्था की आलोचना में मर्टन रचनात्मक अतिसमरूपता से निष्पन्न कमियों का उल्लेख करते हैं। नौकरशाही में नियमों का पालन कठोरता से किया जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि अधिकारियों में उद्देश्यहीनता प्रवेश कर जाती है, वे परिस्थितियों से तालमेल नहीं बैठा पाते हैं और उनमें क्रमिक तौर पर निपुणता के स्थान पर अयोग्यता का विकास होता जाता है।

(5) अकुशलता (Insufficiency)– नौकरशाही व्यवस्था में कर्मचारी यंत्रवत कार्य करते हुए अपनी कार्यकुशलता को दबा लेते हैं यानी नौकरशाही व्यक्ति की कार्यकुशलता को घटा देती है। इस व्यवस्था के अंतर्गत संबंधित अधिकारी सामान्य नियमों का जो अर्थ लगाते हैं, उसी के अनुसार कार्य करते हैं, लेकिन कुछ समय के बाद ये नियम अधिक उपयोगी नहीं सिद्ध हो पाते हैं, जबकि अधिकारी इन्हीं नियमों से स्वयं को बांधे रहते हैं। इस तरह से ऐसे नियम लक्ष्यों की प्राप्ति में बाधक बन जाते हैं और अधिकारियों को अपनी इस अकुशलता का ज्ञान भी नहीं हो पाता है। इस तरह से कहा जा सकता है कि नौकरशाही विशेष परिस्थितियों में अकुशलता पैदा करती है।

(6) अवैज्ञानिक आधार (Unscientific Base)– वेबर द्वारा प्रतिपादित नौकरशाही के सिद्धांत उनकी प्राक्कल्पना है, जिसका कोई सुस्पष्ट आधार नहीं है। वेबर ने नौकरशाही के जिस आदर्श प्रारूप का उल्लेख किया है, यदि उसको बिल्कुल उसी रूप में संगठन में अपना लिया जाए तब भी संगठन की कार्यकुशलता में अत्यधिक वृद्धि हो जाएगी, इस बात का शक ही है, क्योंकि संगठन की कार्यकुशलता का निर्धारण उसके उद्देश्य, कार्यकर्ताओं के तकनीकी स्तर तथा संगठन के सामाजिक–आर्थिक वातावरण, जैसे तत्वों पर निर्भर होता है।

(7) लालफीताशाही (Red Tapism)– वेबर की नौकरशाही व्यवस्था का एक दोष यह भी है कि इसमें अधिकारी प्रक्रिया की औपचारिकता में अत्यधिक विश्वास रखते हुए नियमों का कठोरता से पालन करते हैं, जिससे कार्यों को संपादित करने में बाधाएं आती हैं या बहुत देर होती है। नौकरशाही व्यवस्था में औपचारिकताएं इस हद तक महत्व रखती हैं कि व्यक्ति लक्ष्य को भी उपेक्षित करके साधनों पर जोर देता है। वास्तविकता तो यह है कि निश्चित व्यवस्था, प्रगति का क्रम, कार्य की निर्धारित गति, नियमों के संपादन आदि के कारण लालफीताशाही की उत्पत्ति होती है, जिसमें प्रत्येक क्रिया अत्यधिक नियमों में

जकड़ी रहती है तथा अधिकारी अपने अधीनस्थ से किसी भी प्रकार की सहायता पाने में सक्षम नहीं होता है।

(8) **विभागीकरण** (Departmentisation)– नौकरशाही व्यवस्था के अंतर्गत सरकार के कार्य अलग–अलग विभागों अथवा खण्डों में बंटे होते हैं जिसमें प्रत्येक विभाग अपने को स्वतंत्र मानते हुए अपने अधिकार क्षेत्र को अपना साम्राज्य मान लेते हैं। इस क्रम में विभाग भूल जाते हैं कि वे किसी बड़े तंत्र के खण्ड हैं। इस तरह से कहा जा सकता है कि नौकरशाही में समाज से अलग रहकर काम करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। इसका अर्थ है कि किसी भी काम को करने के लिए व्यक्ति को इन विभागों से संपर्क करना पड़ता है तथा ये विभाग अपने को श्रेष्ठ समझकर आम जनता से सामंजस्य नहीं बैठाते हैं।

(9) **साधन का महत्व** (Importance of Means)– नौकरशाही व्यवस्था में अधिकारी नियमों में इस हद तक बंध जाते हैं कि जो नियम किसी कार्य को करने के लिए साधन के तौर पर प्रयुक्त होते थे, कुछ समय के बाद ये साधन ही लक्ष्य या साध्य बन जाते हैं। इस प्रकार नियमों के बंधन के कारण साधन का महत्व अत्यधिक बढ़ना नौकरशाही की प्रमुख कमियों में से एक है।

(10) **रूढ़िवादिता** (Traditionalism)– इस व्यवस्था में नियमबद्धता और औपचारिकताएं अधिक होती हैं जिससे कार्य को परंपरागत विधि से पूरा किया जाता है। कार्यालयी प्रक्रिया, गोपनीयता, परंपराएं आदि कार्य की गति को बहुत धीमा कर देते हैं। इन कारणों से आम जनता को प्रदान की जाने वाली सेवाएं रूढ़िवादिता से ग्रसित हो जाती हैं। इसके अंतर्गत कर्मचारी और अधिकारी नवीनता और विकास के विरोधी विचार रखते हैं तथा परंपराओं के निर्वाह को अपनी आदत बना लेते हैं।

(11) **रुचि का अभाव** (Lack of Interest)– नियमों के बंधन, औपचारिकता और परंपरा का समर्थन, आदि नौकरशाही व्यवस्था के अंतर्गत व्यक्ति के जीवन और व्यवसाय में नीरसता ला देते हैं। यंत्र के समान काम करने की प्रक्रिया बहुत लंबी और धीमी हो जाती है, जिससे व्यक्ति में उत्साह तथा कार्य के प्रति नवीनता और आकर्षण, कार्य में पहल करने की क्षमता खत्म हो जाती है और व्यक्ति अपने जीवन में नीरस हो जाता है।

(12) **यंत्रवत कार्य** (Mechanical Work)– नौकरशाही की एक प्रमुख कमी यह भी है कि इसमें अधिकारी बहुत समय तक एक ही पद पर कार्य करते हुए रूढ़िवादी हो जाते हैं। उनमें नये–नये प्रयोग करने की अपेक्षा यंत्रवत कार्य करने की भावना आ जाती है। अपनी क्षमता में समयानुसार नियमों में बंधे होने के कारण कमी को लेकर अधिकारी परिवर्तित परिस्थितियों में अनुकूलन अथवा सामंजस्य करने में अक्षम सिद्ध होते हैं। ऐसे अधिकारियों के लिए केवल बनाये गये प्रशासनिक नियमों के अनुसार कार्य करना ही महत्वपूर्ण हो जाता है। इनसे किसी नये प्रयोग की अपेक्षा करना व्यर्थ है, क्योंकि ये अपनी क्षमता को खो देते हैं।

(13) **लचीलेपन का अभाव** (Lack of Flexibility)– नौकरशाही में लचीलेपन का अभाव भी इसकी प्रमुख कमियों में से एक है। इस व्यवस्था में अधिकारी को समस्याओं को हल करने के लिए जो पूर्व प्रशिक्षण दिया जाता है, वह उसी को

टिप्पणी

ध्यान में रखकर कार्यों को करता रहता है, लेकिन वास्तविकता में कभी–कभार नयी परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को बदलना पड़ता है, जबकि नौकरशाही व्यवस्था में अधिकारी अपने भूतकालीन प्रशिक्षण के आधार पर ही काम करने के लिए बाध्य होता है। इस प्रकार अधिकारियों का प्रशिक्षण ही उनकी असमर्थता बन जाता है। दूसरे शब्दों में नौकरशाही व्यवस्था के अंतर्गत अधिकारी नियमों का पालन इस हद तक करने लगता है कि परिवर्तित परिस्थितियों में वह किसी नये नियम को स्वीकार नहीं कर पाता है तथा अपने भूतकालीन प्रशिक्षण के आधार पर ही निर्णय लेने को बाध्य रहता है, जिससे उनकी कार्यकुशलता और नये प्रयोग करने की क्षमता खत्म हो जाती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि विभिन्न आधारों पर नौकरशाही की आलोचना की गयी है तथा विभिन्न विद्वानों ने इसके बारे में अपने अलग–अलग विचार भी दिये हैं। लॉर्ड हीवर्ट नौकरशाही को 'नवीन निरंकुशतावाद' का नाम देते हैं। कुछ अन्य लोगों का मानना है कि नौकरशाही एक ऐसी शक्ति है जिससे नागरिकों की स्वतंत्रता खतरे में पड़ सकती है, तो कुछ और लोगों का मानना है कि यह शक्ति की भूख है। नौकरशाही के बारे में यह एक सच्चाई है कि इसमें अत्यधिक नियमब़द्धता और औपचारिकता के कारण लोगों में नई पहल और उत्साह कम हो जाता है जिससे उनमें स्वतंत्र होकर कार्य करने की क्षमता समाप्त हो जाती है तथा वे अकुशल बनते जाते हैं।

नौकरशाही के संबंध में चाहे कितनी भी आलोचनाएं की जाएं, कमियां निकाली जाएं, लेकिन इसकी प्रकार्यात्मकता को नकारा नहीं जा सकता है। वर्तमान समय में इसने सामाजिक–आर्थिक क्षेत्रों में बहुत सहायता की है। इस व्यवस्था की जो कमियां हैं, उन्हें समाप्त करके इसे और भी प्रभावी बनाया जा सकता है, जैसे– अधिकारियों में कार्यकुशलता को प्रोत्साहित किया जाए, परिस्थितियों के अनुसार निर्णय लेने की क्षमता में वृद्धि की जाए आदि।

अंततः कहा जा सकता है कि वेबर का नौकरशाही सिद्धांत कार्यकुशलता का अनोखा प्रमाण है जिससे उनकी असाधारण बौद्धिक क्षमता का प्रमाण मिलता है। यह व्यवस्था विवेक पर आधारित है, जिसने सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और प्रशासनिक सभी क्षेत्रों में अपना योगदान दिया है। वास्तव में यह सिद्धांत देकर वेबर सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में अपने को विशेष स्थान दिलाने में समर्थ हो गये हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

1. वेबर के माता–पिता के वैवाहिक संबंध कैसे थे?

   (क) मधुर (ख) तनावग्रस्त

   (ग) खराब (घ) मध्यम

2. वेबर ने किसके संदर्भ में अपने विस्तृत सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है?

   (क) कमजोरी (ख) शक्ति

   (ग) सत्ता (घ) शक्ति और सत्ता

टिप्पणी

2.3 कार्ल मार्क्स का समाजशास्त्रीय चिंतन

कार्ल मार्क्स का जन्म 15 मई, 1818 को ट्रियर, पर्शिया में हुआ था। उनके पिता, जो एक वकील थे, उन्होंने अपने परिवार को एक ठेठ मध्यम वर्गीय परिवार का अस्तित्व प्रदान किया। उनके माता–पिता यहूदी परिवारों से थे, लेकिन व्यावसायिक कारणों से उनके पिता लुथर विचारों को मानने वालों में परिवर्तित हो गये थे।

मार्क्स ने 1841 में बर्लिन विश्वविद्यालय से दर्शन शास्त्र में डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की, जिस संस्था पर हेगेल का अत्यधिक प्रभाव था एवं युवा हेगेलियन, यद्यपि अपने गुरु के समर्थक थे, लेकिन आलोचक भी थे। मार्क्स का 'डॉक्टरेट' एक शुष्क दार्शनिक आलेख था, जो उनके बाद के मौलिकता एवं व्यावहारिकता से बहुत कम मेल खाता था। स्नातक की शिक्षा के बाद वह उदार–मौलिक विचार वाले अखबार के लेखक बन गए तथा दस माह के अंतराल में वे मुख्य संपादक बन गए। राजनीतिक कारणों से यह अखबार शीघ्र ही सरकार द्वारा बंद कर दिया गया, इस अवधि में छपे निबंधों एवं आलेखों ने कार्ल मार्क्स के लिए जीवन भर मार्गदर्शित करने वाले दृष्टिकोणों को प्रतिबिंबित किया। वे लोकतांत्रिक सिद्धान्तों, मानवतावाद एवं आदर्शवाद से भरे हुए थे। उन्होंने हेगेलिन दर्शन की अमूर्तता को, कम्यूनिस्ट आदर्शवादी सपनों को और उन आग्रहों को खारिज कर दिया जिसे उन्होंने समय से पूर्व होने वाली राजनीतिक कार्रवाई माना। इन सभी बातों को खारिज करते हुए मार्क्स ने अपने आजीवन कार्यों की नींव रखी।

मार्क्स का विवाह 1843 में हुआ और उसके बाद शीघ्र ही पेरिस के अधिक उदारवादी माहौल के कारण उन्होंने जर्मनी को छोड़ दिया। वहां उन्होंने हेगेल एवं युवा हेगेलियनों के विचारों से जूझना जारी रखा। वहां उन्हें फ्रेंच समाजवाद एवं अंग्रेजी राजनीतिक अर्थव्यवस्था का भी सामना करना पड़ा। यह एक अनूठा तरीका था जिसमें उन्होंने हेगेलवाद, समाजवाद एवं राजनीति अर्थव्यवस्था को संयुक्त किया तथा जिसने उनके बौद्धिक विन्यास को आकार प्रदान किया। इसी समय एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में उनकी मुलाकात फ्रेडरिच एंजेल्स हुई, जो उनके आजीवन मित्र, संरक्षक एवं सहयोगी बने। एंजेल्स एक वस्त्र निर्माता के पुत्र थे और श्रमिक वर्ग की परिस्थितियों के समाजवादी आलोचक बन गए थे। मार्क्स में श्रमिक वर्ग की दुखदायी स्थितियों के प्रति सहानुभूति अधिकांश रूप से एंजेल्स से मिलने एवं उनके विचारों से प्रभावित होने से आई थी। मार्क्स ने कई महत्वपूर्ण शैक्षणिक कार्य किए। कई उनके जीवनकाल में अप्रकाशित रहे। उन्होंने 1844 में 'द इकोनॉमिक एण्ड फिलोसॉफिक मैन्युस्क्रिप्ट' भी लिखी, जिसने उनकी बौद्धिक परंपराओं को एकीकृत किया जिसमें वे पूरी तरह व्यस्त रहे तथा जिसने उनके आर्थिक प्रक्षेत्रों में बढ़ती व्यस्तता को पूर्वाभासित भी किया।

यद्यपि मार्क्स और एंजेल्स एक सैद्धान्तिक अभिविन्यास साझा करते थे, फिर भी दोनों में कई तरह के अंतर थे। मार्क्स की प्रवृत्ति अत्यधिक अमूर्त विचारक थी। एंजेल्स एक व्यावहारिक विचारक एवं व्यावसायिक व्यक्ति थे।

एंजेल्स ने स्वयं को एक कनिष्ठ सहयोगी के रूप में स्पष्ट किया:

> मार्क्स मेरे बिना भी भली–भांति काम कर सकते थे। मार्क्स ने जो हासिल किया, वह मैं नहीं कर सकता था। हम सभी में मार्क्स हमेशा आगे रहे, आगे की सोच रखते

थे। वे व्यापक दृष्टिकोण रखते थे तथा शीघ्र समझने वाले थे। मार्क्स वस्तुतः प्रतिभाशाली थे। वस्तुतः, बहुत लोग यह मानते हैं कि एंजेल्स मार्क्स के बहुत से कार्यों की गूढ़ता को नहीं समझ पाए। मार्क्स की मृत्यु के पश्चात एंजेल्स मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रमुख प्रवक्ता बने तथा अनेक तरह से इन्हें विरूपित तथा अतिसरल कर दिया।

मार्क्स के कुछ लेखों ने पर्शिया की सरकार को परेशान कर दिया और (पर्शियन के अनुरोध पर) फ्रांस सरकार ने मार्क्स को निर्वासित कर दिया तथा वे ब्रूसेल्स आ गए। उनका सुधारवाद बढ़ता जा रहा था और वे एक अंतर्राष्ट्रीय क्रांतिकारी संगठन के सक्रिय सदस्य बन गए। वे कम्यूनिस्ट लीग के साथ भी जुड़े थे तथा इसके उद्देश्यों तथा विश्वासों पर (एंजेल्स के साथ) उनसे एक आलेख लिखने को कहा गया। इसका परिणाम 1848 का कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो था, जो राजनीतिक नारों से गुंजायमान था (उदाहरणार्थः 'दुनिया के मजदूरो, एक हो')।

1849 में मार्क्स लंदन चले गए तथा 1848 के राजनीतिक आंदोलन की विफलता के कारण उन्होंने स्वयं को सक्रिय क्रान्तिकारी कार्यों से अलग कर लिया। वे अब पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत श्रम करने की परिस्थितियों से संबद्ध विस्तृत एवं गंभीर शोध करने की ओर उन्मुख हुए। इन शोधों के परिणामस्वरूप कैपिटल के तीन संस्करण प्रकाशित हुए, पहला संस्करण 1867 में प्रकाशित हुआ तथा शेष दो उनके मरणोपरान्त प्रकाशित हुए। इन वर्षों में वे बहुत अभाव में रहे। अपने लेखों से हो रही थोड़ी आमदनी तथा एंजेल्स के सहयोग से उन्होंने गुजारा किया। 1863 में श्रमिकों के अन्तर्राष्ट्रीय आंदोलन इन्टरनेशनल से जुड़ कर मार्क्स पुनः राजनीतिक कार्यों में संलग्न हो गए। शीघ्र ही इस आंदोलन को उन्होंने अपने प्रभाव में ले लिया तथा वर्षों इसके लिए समर्पित रहे। उन्हें इन्टरनेशनल के नेता के रूप में तथा कैपिटल के लेखक के रूप में प्रसिद्धि मिलने लगी। लेकिन 1876 में इन्टरनेशनल के बिखराव, विभिन्न क्रांतिकारी आंदोलनों की विफलता तथा व्यक्तिगत स्वास्थ्य गिरने के कारण मार्क्स को भारी कीमत चुकानी पड़ी। उनकी पत्नी का देहान्त 1881 में तथा पुत्री का देहावसान 1882 में हुआ। स्वयं मार्क्स का देहान्त 14 मार्च, 1883 को हुआ।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

कई मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को मार्क्सवाद के कई प्रकार के सैद्धान्तिक स्रोतों के रूप में मानते हैं। मार्क्स ने कभी इस नाम का प्रयोग नहीं किया जो यह निर्दिष्ट करता है कि भौतिक बलों के कारण सामाजिक एवं आर्थिक बदलाव हुए। सामान्यतया यह समाज, अर्थशास्त्र तथा इतिहास के अध्ययन में मार्क्स की शैली के रूप में ऐतिहासिक भौतिकवाद (अथवा इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा) के रूप में देखा जाता है। इसे सामान्यतया मार्क्स द्वारा की गई दो घोषणाओं से परिभाषित किया गया है : जिसमें हेगेल के द्वन्द्ववाद को पुनः स्थापित किया गया और अभी तक के मौजूदा समाज के इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है (द कम्यूनिस्ट मेनीफेस्ट, 1848)। मूल रूप से इस सिद्धान्त के द्वारा वर्णित किया गया है कि यह इतिहास वर्ग संघर्ष की रचना है।

हेगेल का द्वन्द्ववाद मानव इतिहास की वृद्धि एवं विकास पर केन्द्रित है। उसके अनुसार सत्य इतिहास की उत्पत्ति है जो अनेक क्षणों से गुजरा है जिसमें त्रुटि या

नकारात्मकता के क्षण भी हैं और जो सत्य के विकास का हिस्सा है। हेगेल के आदर्शवाद की तुलना में, मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद यह मानता है कि इतिहास विचारधारा का परिणाम नहीं है, बल्कि सामाजिक व्यवस्था के भौतिक वर्ग संघर्ष का प्रतिफल है। इसलिए इस धारणा का आधार सामाजिक उत्तरजीविता के महत्व में है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को 'दियामत' के रूप में भी जाना जाता है। इसका सर्वाधिक उपयोग एक समाजवादी सुधारक जोसेफ डियेजेन द्वारा 1887 में किया गया, जो कार्ल मार्क्स के सम्पर्क में भी रहे। इस शब्द का औपचारिक उद्धरण 1887 में कौटस्की द्वारा रचित फ्रेडरिक एंजेल में भी मिलता है। रूसी समाजवाद के जनक जॉर्जी प्लेखानोव ने बाद में इस शब्द का प्रयोग किया और इसलिए यह मार्क्सवादी सिद्धान्त में उपयोग में आया। मार्क्स ने 'इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा' के विषय में कहा था जो बाद में एंजेल्स के द्वारा भौतिकवादी इतिहास में संक्षिप्त कर दी गई। उन्होंने अपने कार्यों में प्रकृति के द्वन्द्ववाद में 'भौतिकवादी द्वन्द्वात्मक' नहीं बल्कि 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' को उद्घाटित किया (1883)। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर चर्चा एवं विश्लेषण अनेक मार्क्सवादी विचारकों द्वारा किया गया जिसके परिणामस्वरूप सामान्य रूप से मार्क्सवादी गुटों में एवं विशेष रूप से कॉमीन्टर्न में राजनीतिक एवं सैद्धान्तिक टकराव हुआ।

मार्क्सवाद मूलरूप से भौतिकवादी दर्शन है क्योंकि यह इस विश्वास पर टिका है कि सब पदार्थ से निर्मित है तथा यही सत्य की विशेषता है। यदि अनुभवजन्य अध्ययन पदार्थ के सभी पहलुओं को पहचानने में समर्थ है, तो पदार्थ को ही सभी वास्तविकता का आदि और अंत माना जाता है। मार्क्सवादी सोच का एक महत्वपूर्ण भाग यह है कि प्राकृतिक नियमों के बनने में पदार्थ का स्वतंत्र होना है जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अलग करता है। मार्क्सवाद गति के तीन सिद्धान्तों से जुड़ा हुआ है (मूलतः यह यूनानी विचारकों द्वारा प्रस्तावित किया गया था एवं हेगेल ने इसे प्रतिपादित किया)। इन नियमों के द्वारा मार्क्सवाद प्रकृति एवं मानवता दोनों से संबद्ध समस्याओं का उत्तर देने का प्रयास करता है। साथ ही इस प्रश्न का उत्तर देने का भी प्रयास करता है कि 'प्रकृति में ऊर्जा अथवा विभिन्न गतिविधियों का स्रोत क्या है'? इस तरह के अन्य प्रश्न इस प्रकार हैं –

- प्रकृति में आकाशगंगाओं, सौर मंडल, ग्रहों, जीव–जन्तुओं और अन्य की संख्या में निरंतर यथानुपात का क्या आधार है?
- जीवन के आरंभ, प्रजातियों के आगमन एवं मस्तिष्क में जागरूकता का आरंभिक बिंदु क्या है?
- समाज में नियमन तथा यह जिस दिशा की ओर अग्रसर है, उसका आधार क्या है?
- क्या अतीत का अध्ययन इसके समापन को शामिल करता है, यदि ऐसा है तो यह क्या होगा?
- मार्क्स तथा एंजेल्स ने द्वन्द्ववाद के तीन नियमों के उपयोग द्वारा इन सभी प्रश्नों का उत्तर दिया है। किसी विकल्प को इसके लिए उपयोग करने के बजाय स्वयं प्रकृति में ही नियमों को खोजा गया।

विपरीत का नियम

मार्क्स तथा एंजेल्स ने इस धारणा को दिया कि वास्तविकता सभी विपरीत के मेल से बनी है। जिस प्रकार से विद्युत की मुख्य विशेषता धनात्मक एवं ऋणात्मक आवेश है, उसी प्रकार अणु इलेक्ट्रॉन एवं प्रोटॉन से बने होते हैं परन्तु तत्वतः ये विपरीत बल हैं। इसलिए यह कहना उपयुक्त होगा कि मनुष्य में भी विपरीत गुण यथा – विनम्रता एवं गर्व, स्वार्थ एवं परोपकारिता एवं अन्य इसी तरह से व्याप्त हैं। मार्क्सवादी निष्कर्ष यह है कि सब कुछ परस्पर दो असंगत परन्तु अनन्य तथापि उतने ही आवश्यक एवं अपरिहार्य भागों या पहलुओं से बने होते हैं। महत्वपूर्ण विचार यह है कि प्राकृतिक दुनिया में सब कुछ विपरीत के मेल से बना हुआ है तथा यह विशेषता ही प्रत्येक इकाई को प्रकृति में स्वचालित बनाती है, तथा सतत गति एवं परिवर्तन के लिए संचालित करती है। जॉर्ज विल्हेम हेगेल द्वारा इस गति का विश्लेषण किया गया तथा उन्होंने कहा कि प्रकृति में विरोधाभास ही सभी प्रकार की गति एवं जीवन का हेतु है।

प्राकृतिक जगत में यह विरोधाभास अधिकांशतया विद्यमान है। एक तारे के सभी अणु सामूहिक रूप से गुरुत्वाकर्षण शक्ति से सभी अणुओं को केन्द्र की ओर आकर्षित करते हैं, इस कारण वे अपनी जगह बने रहते हैं तथा अत्यंत उच्च तापमान अणुओं को केन्द्र से यथासंभव दूर रखने के लिए बल का प्रयोग करता है। दोनों बलों में कोई यदि पूरी तरह सफल होता है तो तारे बने नहीं रहेंगे। यदि उच्च तापमान अधिक होगा तो तारा सुपरनोवा की भांति जल जाएगा। यदि गुरुत्वाकर्षण बल अधिक होगा तो इसका अंतःविस्फोट होकर न्यूट्रॉन तारे अथवा ब्लैक होल में परिवर्तित हो जाएगा। तदनुरूप, समस्थापन बनाए रखने के लिए सजीव प्राणियों में आंतरिक एवं बाह्‌य बल प्रयास करते रहते हैं, उदाहरण के लिए अम्लीयता एवं क्षारीयता, जो विरोधाभासी शक्तियों के बीच संतुलन बनाने से अधिक कुछ नहीं है।

निषेध का नियम

वातावरण में सभी चीजों में निरंतर संख्यात्मक वृद्धि की प्रवृत्ति होती है। प्राकृतिक संसार की इसी प्रवृत्ति को समझने के लिए निषेध के नियम का निर्माण हुआ। मार्क्स एवं एंजेल्स बताते हैं कि अपने को आगे बढ़ाने अथवा बेहतर संख्या पाने के लिए प्राणी में स्वंय के खंडन की प्रवृत्ति होती है। विपरीत शक्तियों में चीजों के खंडन करने की प्रवृत्ति होती है, साथ ही परिणामस्वरूप गति देने के लिए हर हिस्से में विचलन होता है। इस प्रकार के शुरू होने और समाप्त होने के ऊर्जायुक्त क्रम के परिणामस्वरूप जीवों में निरंतर प्रगति होती है। इस नियम का सरलीकरण शोध, इसके विपर्यय एवं संश्लेषण (संकलन) के अनुक्रम में किया जाता है।

एंजेल्स अक्सर जौ के बीज के उदाहरण द्वारा दृष्टांत देते थे, जो कि प्राकृतिक रूप से अंकुरित होता है (जिसमें एक बीज का समापन अथवा खण्डन होता है) और एक पौधे को जन्म देता है, जो परिपक्व होकर पुनः बीज को जन्म देता है और खण्डित हो जाता है। इस प्रकार, प्रकृति में निरंतर आरंभ होने और अंत होने के क्रम में विकास होता है।

सामाजिक व्यवस्था में वर्ग इसका एक उदाहरण है। जिस प्रकार, कुलीन वर्ग मध्यम वर्ग के द्वारा मिटा दिए गए और सर्वहार वर्ग का निर्माण मध्यम वर्ग से हुआ।

टिप्पणी

अंततः सर्वहारा वर्ग मध्यम वर्ग को मिटा देगा। इस प्रकार यह दर्शाता है कि कभी समाप्त न होने वाला निषेध का क्रम चलते रहता है, हर वर्ग अपने को मिटा देने वाले वर्ग का निर्माण करता है, उत्तराधिकारी अपने प्रवर्तक को समाप्त करता है।

परिवर्तन का नियम

यह नियम बताता है कि वातावरण में निरंतर मात्रात्मक वृद्धि से गुणवत्ता में परिवर्तन होता है एवं परिणामस्वरूप एक नए किस्म का जीव निर्मित होता है। इस तरीके से मात्रात्मक वृद्धि से गुणात्मक परिवर्तन होता है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में गुणात्मक परिवर्तन से मात्रा में परिवर्तन होता है।

इसमें विकास के सिद्धान्त से कई समानताएं हैं। मार्क्सवादी विचारकों ने यह प्रतिपादित किया है कि जीव मात्रात्मक वृद्धि के क्रम में आवश्यक रूप से यथार्थ के नए स्तर एवं रूप ग्रहण करते हैं। इस प्रकार यह नियम दर्शाता है कि प्राकृतिक संसार लंबे समय में सुस्पष्ट परिवर्तन करता है। यह परिवर्तन मोटे तौर पर सूक्ष्म प्रक्रिया के द्वारा अतिसामान्य विकास होता है।

इसे वर्षों के दबाव बनने के कारण होने वाले ज्वालामुखी विस्फोट के उदाहरण से दर्शाया गया है। जब मैग्मा ठंडा हो जाता है तब वहां ऊपजाऊ जमीन बन जाती है, जहां अब तक कुछ नहीं उपजता था। सामाजिक संदर्भ में, समाज में विरोधी गुटों में वर्षों के तनाव होने से विप्लव का कारण बनता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का इतिहास

लेनिन का योगदान

द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी की प्रथम गूढ़ व्याख्या उनकी रचना मैटरियलिज्म एण्ड इम्पीरियो–क्रिटिसिज्म, 1908 में दर्शित है। लेनिन इस प्रकार स्वयं को ऐतिहासिक मार्क्सवादी एवं अवधार्य मार्क्सवादी के करीब स्थापित करते हैं। पदार्थ एवं भौतिकवाद पूर्ववर्ती स्थापित मूल्यों का खण्डन भौतिक शास्त्र (एक्स–रे, इलेक्ट्रॉन, क्वॉन्टम मैकेनिक्स) के नए खोजों से संभव हुआ। पदार्थ को विलुप्तप्राय समझा जा रहा था। लेनिन ने इसकी व्याख्या की।

'पदार्थ के विलोपन' का तात्पर्य है– वे ज्ञात सीमाएं जिनके अन्तर्गत पदार्थ का विलोपन होता है। उन स्थापित मूल्यों जिन्हें सम्यक, अपरिवर्तनशील एवं मूल समझा जाता था, का अवमूल्यन होता चला गया एवं क्रमशः वह प्रत्येक विशिष्ट स्तर पर परिलक्षित होने लगा। पदार्थ का गुण जिसे भौतिकवादी दर्शन से पहचाना जाता है वह वस्तुतः बुद्धि के परे एक वस्तुनिष्ठ सच्चाई का बोध है।

लेनिन ने फ्रेडरिक एंजेल्स के अवदानों की व्याख्या के क्रम में बताया कि प्रत्येक महत्वपूर्ण खोज भौतिकवाद में परिवर्तन का संचार करती है। लेनिन का मुख्य प्रयास भौतिकवाद को व्यावहारिक दर्शन के रूप में स्थापित करना था जिसे वह 'नियमित भौतिकवाद' का नाम देते हैं। उक्त विषय पर लेनिन और एंजेल्स की व्याख्या ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है जिसमें पदार्थ को मूल रूप से वस्तुनिष्ठ एवं तथ्यपरक तर्कों एवं क्रमिक खोज एवं आविष्कारों की कसौटी पर परखा गया है। सोवियत दर्शन स्वयं में भौतिकवादियों (डेबोरिन) एवं यांत्रिकों (बुखारिन) में बंट गया था।

जॉर्ज लुकास परिशिष्ट

जॉर्ज लुकास, जो अल्पकालिक हंगेरियन सोवियत गणराज्य (1919) में संस्कृति मंत्री थे, के द्वारा 'इतिहास एवं वर्ग चेतना' (हिस्ट्री एण्ड क्लास कान्शियसनेस) 1923 में प्रकाशित किया गया। इसमें कुल रूप में समाज की अवधारणा के रूप में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा सीधे तौर पर सर्वहारा वर्ग की चेतना की व्याख्या थी। प्रारंभिक अध्याय में 'रूढ़िवादी मार्क्सवाद क्या है?', में लुकास द्वारा रूढ़िवादिता की व्याख्या मार्क्सवादी पद्धति की यथार्थता के रूप में निर्दिष्ट की गयी है न कि कट्टरता के रूप में। इसलिए, रूढ़िवादी मार्क्सवाद का अर्थ यह कदापि नहीं है कि मार्क्स के शोधों के परिणामों को सीधे तौर पर स्वीकार कर लिया है, यह न तो किसी शोध पर यकीन है और न ही पवित्र ग्रंथ पर टीका–टिप्पणी ही है। रूढ़िवादिता केवल विधि या पद्धति से संबद्ध है। यह एक वैज्ञानिक धारणा है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सत्य की राह है तथा इसे केवल इसके संस्थापकों के जीवन के साथ इसकी पद्धतियों को विकसित, विस्तारित तथा मजबूत किया जा सकता है।

लुकास ने इस मार्क्सवादी विधि पर लौटने पर सुधारवादी प्रयत्नों की निंदा की है। इसी प्रकार एलथसर ने मार्क्सवाद एवं मनोविश्लेषण को प्रतिकूल विज्ञान के रूप में वर्णित किया है। लुकास सुधारवाद और राजनीतिक विभाजन को मार्क्सवादी विचार और अभ्यास से जुड़ा मानते हैं तथा उनके लिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वर्ग संघर्ष का ही परिणाम है। इस कारणवश रूढ़िवादी मार्क्सवाद का कार्य, सुधारवाद एवं आदर्शवाद पर इसकी विजय और सदा के लिए झूठी प्रवृत्तियों की पराजय नहीं हो सकता है। रूढ़िवादी मार्क्सवाद का सर्वहारा वर्ग परंपराओं का अभिभावक नहीं है, अपितु बुर्जुआ विचारधारा के इस सोच के घातक प्रभावों के विरुद्ध सदा बना रहने वाला संघर्ष है।

उन्होंने आगे भी दृढ़ता के साथ कहा कि 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' का आधार मनुष्यों की चेतना नहीं है जो उनके अस्तित्व को सुनिश्चित करती है, बल्कि इसके विपरीत उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को सुनिश्चित करता है। उनके अस्तित्व का मूल सामाजिक प्रक्रिया के रूप में प्रकट होता है, जिसे अब तक मानव कार्य के उत्पाद के रूप में ही देखा जाता था। उन्होंने मार्क्स के विचारों से सहमति जतायी जो स्वैच्छिक एवं जीवंत विषयों पर आधारित थे, इस विषय पर व्यक्तिगत बुर्जुआ विचारों पर उन्होंने असहमति जतायी। उनके द्वारा सामाजिक संबंधों पर महत्व भी दिया गया। सम्पूर्ण संसार और उत्तरजीविता मनुष्य के कार्यों का परिणाम है अतः इसे केवल तभी महसूस किया जा सकता है जब मनुष्य की जानकारी पर सामाजिक प्रगति के प्रभुत्व को स्वीकारा जाए। उनके द्वारा व्यक्ति की जागरूकता दार्शनिक अध्यात्मवाद के प्रतिफल के रूप में सूचीबद्ध की गई। लुकास सामाजिक नियतिवाद के विपरीत अपने शोध में मनुष्य की स्वतंत्रता को नियंत्रित नहीं करते हैं अपितु इसकी उत्तरजीविता विभिन्न प्रयोगों से संभाव्य होती है।

2.3.1 वर्ग संघर्ष का सिद्धांत

मार्क्स ने उस प्रक्रिया का विश्लेषण किया है जिसमें निजी सम्पत्ति मूर्त पूंजीवादी हो जाती है। उनके विचार में पूंजीवादी व्यवस्था में अन्य संरचनाओं की भांति निजी सम्पत्ति

भी श्रमिकों के श्रम से प्राप्त होती है। इस प्रकार, निजी सम्पत्ति श्रमिक का स्वंय एवं प्रकृति से अलग उत्पाद है, प्रतिफल या आवश्यक परिणाम है (मार्क्स, 1932 / 1964:117)। निजी सम्पत्ति पर श्रमिकों के नियंत्रण होने कि बजाय वे इसके नियंत्रण में आ जाते हैं। मार्क्स के कार्यों के अन्य सभी संरचनात्मक घटकों के साथ, उनकी निजी सम्पत्ति की अवधारणा सीधे तौर पर उनकी पूर्व की मानवीय संभावनाओं, कार्यों एवं राजनीतिक उद्देश्यों से संबंधित थी। अपने पूर्व के कार्यों से निजी सम्पत्ति के संबंधों के बारे में मार्क्स ने स्पष्ट किया कि यह मात्र श्रम से अलग होने का फल नहीं है, बल्कि यह उत्पाद प्रक्रिया और मनुष्य के बीच आकर इसके श्रम से अलग होने को और तीव्र बनाता है। यदि मनुष्य अपनी मानवीय क्षमता को महसूस करता है, तो वह अवश्य ही निजी सम्पत्ति के साथ–साथ पूंजीवादी व्यवस्था के सभी संरचनात्मक घटकों को उलट देगा। इस अलगाव से सबसे उत्तम यह होगा कि मनुष्य किसी धर्म, परिवार, राज्य के बगैर अपने मनुष्यत्व अर्थात सामाजिक अस्तित्व को वापस पा लेगा (मार्क्स, 1932 / 1964:136)।

वर्ग संघर्ष

मार्क्सवाद के अनुसार, यह आसानी से कहा जा सकता है : 'वर्ग है की अपेक्षा वर्ग नहीं है'। सामान्य विशेषताओं वाले मनुष्य का समुदाय वर्ग नहीं है। इस मामले में, सर्वहारा को ऐसे लोगों का समुदाय नहीं कह सकते हैं जो पूंजी के विरोध में हैं। सामाजिक व्यवस्था में, वर्ग संगठन नहीं है, किसी विशेष स्थान से संबंधित है (समाज में एक स्थान जिसे एक व्यक्ति संभवतः प्राप्त कर ले या व्यक्तियों को जोड़ दिया जाए आदि)। अनुभववादी एवं संरचनावादी मार्क्सवाद के बीच असमानता अर्थहीन है, जो वर्ग को लोगों की भीड़ या स्थान की तरह देखते हैं। अधिक बेहतर अभिव्यक्ति के लिए हमें उस व्याख्या का अध्ययन करना होगा जिसमें वर्ग को लोगों की भीड़ या स्थान को वर्ग के समाजशास्त्रीय निर्माण की तरह देखा जाता है।

मार्क्सवादियों के लिए वर्ग को 'पूंजी की तरह' सामाजिक संबंधों के जैसा माना गया है (मार्क्स, 1965,766)। यह न तो लोगों के समूह के बीच का संबंध है जिसमें खास समूह के लोगों के बीच संबंध हो सकता है अथवा स्थितियों में हो सकता है जिसमें एक समूह बना हो। ऐसे विचारों से हटकर, यह कहा जा सकता है कि 'वर्ग अपने आप में संबंध' है (जिस तरह का संबंध पूंजी एवं श्रम के बीच है), खासकर 'संघर्ष का एक संबंध' है।

इस प्रकार, सामाजिक सदंर्भ में वर्ग संघर्ष में भाग नहीं लेने वाला तंत्र है। वस्तुतः वर्ग का मूलभूत सिद्धान्त वर्ग संघर्ष है। बल्कि वर्ग संघर्ष ही स्वंय वर्ग है (मार्क्स ने कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो के आरंभ में वर्ग को इसी प्रकार स्थापित किया है)। मार्क्स ने बताया कि वर्ग संघर्ष ही वर्ग का मूलभूत है तथा 'स्वंय की उत्तरजीविता' पर बल दिया है – यह दबाव के अंदर उत्तरजीविता का संघर्ष है – यह वर्ग की उत्तरजीविता के लिए आधारभूत है।

यहां हम वर्ग की उत्पत्ति संबंध के रूप में करेंगे (संघर्ष का संबंध), जैसा कि मार्क्स के वर्ग की उत्पत्ति है। दूसरी ओर, समाजशास्त्र में निरादरपूर्वक वर्ग की उत्पत्ति इस तरह के फूहड़पन की तरह है कि पूंजीपति (बुर्जुआ) समाज के सभी व्यक्ति स्पष्ट

रूप से उस समूह के जरूरी सदस्य नहीं हैं जिन्हें 'पूंजीपति' (कैपिटलिस्ट) या 'प्रोलिटेरियन्स' का दर्जा दिया गया है।

पूंजी और श्रम के संबंध के परिणामस्वरूप जीवन किस प्रकार गुणात्मक रूप से परिलक्षित हो सकता है (संघर्ष का संबंध)? मार्क्स ने इसे 'शोषण/स्वत्वहरण' की तरह कहा है। अन्य प्रकार में इसे 'शामिल करने/बहिष्कृत करने' (फोकॉल्ट), 'समावेश/असयोग', 'विनियोग/व्यय' के अतिरिक्त 'एकरूपता/विविधता' की तरह किया गया है। यह सूची बहुत लंबी और अंतहीन है।

मार्क्सवादी एवं समाजशास्त्रीय विश्लेषणों में असमानता है। जैसा पूर्व में दर्शाया गया है कि मार्क्सवादी 'शुद्ध' श्रम की समीक्षा करते हैं, जिनकी सामाजिक स्थिति किसी प्रकार विषम या विपरीत नहीं है, किसी भी तरह से सुव्यवस्थित ढंग से लाभान्वित नहीं है और न ही 'शुद्ध' उद्योगपति ही। वे मात्र किसी प्रकार एक साथ अलग तरह से जुड़े हुए समूह में दिखते हैं। समाजशास्त्रीय अवलोकन में शुद्ध श्रम के साथ शुद्ध उद्योगपति का ख्याल व्यवस्थित खंभों की तरह किया गया है जो परवर्ती वर्ग तंत्र के बीच अनिश्चित अवस्था में हैं।

मार्क्स के अनुसार, यह असमानता महत्वपूर्ण है क्योंकि शुद्ध श्रमिक या श्रम का अस्तित्व नहीं है। यह पारंपरिक श्रमिक वर्ग के आकार में तुलनात्मक कमी के कारण नहीं है (यहां तक कि लोगों के समूहों की कल्पना भिन्न है)। वस्तुतः इसके विपरीत यह सच है कि आय का संबंध बुर्जुआ और रहस्यमय रूप है। जो कोई भी इस मानदंड के अंदर आता है, खासकर उद्योगपति जो अतिरिक्त मूल्य के निर्माता हैं, अपने साथ एक अलग जीवन जीता है। उसकी जड़ें श्रमिकों के शोषण के साथ जकड़ी रहती हैं जबकि वह एक आदर्श बुर्जुआ की सत्यता के सपने देखता है। इसलिए, वर्ग संघर्ष की शृंखला अतिरिक्त मूल्य उत्पन करने वाले व्यक्ति के साथ चलती है।

मार्क्सवादी विचारों के दोनों प्रारूपों में एक अतिरिक्त उल्लेखनीय भिन्नता है जो यह बताती है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में एक वर्गीय संबंध (विशेषकर, पूंजी–श्रमिक संबंध) होता है लेकिन समाजशास्त्रीय प्रस्ताव असंख्य संबंधों की शिनाख्त करते हैं जो सामाजिक परिवेश में संभाव्य संबंध या लोगों के समूह के बराबर हैं। इस आधार पर, समाजशास्त्री मार्क्सवादियों पर सामाजिक संबंधों को कम करने का आक्षेप लगाते हैं। वस्तुतः इस आधार पर सामाजिक संबंधों को कम करने का आक्षेप समाजशास्त्रियों पर लगता है। समाजशास्त्री प्रत्येक व्यक्ति को स्पष्ट रूप से बिना किसी शेष के अकेले या विशेष भीड़ या स्थितियों में रखना चाहते हैं।

मार्क्सवादी मूल की स्थिति समाजशास्त्रियों से अलग है – वर्ग की व्याख्या किसी की विभिन्न सामाजिक जिम्मेदारियों की अभिव्यक्ति में नहीं की गयी है। मार्क्स ने सर्वाधिक पूर्व के कार्यों 'ऑन द ज्यूइश क्वेश्चन' एवं इसके बाद किसी भी सामाजिक वातावरण की आलोचन की है जहां जिम्मेदारी का वर्गीकरण विमुख न होकर मुक्ति के रूप में पाया गया है। जिम्मेदारियों का वर्गीकरण प्रक्रियात्मक सिद्धान्त से हटकर मार्क्सवादी दृष्टिकोण वर्ग का चित्रण व्यक्ति को संघर्ष के स्थान के रूप में करता है, व्यक्तिगत संघर्ष का परिणाम 'सार्वभौमिक' नहीं होता है (जिम्मेदारी की मनोवृत्ति एवं सामूहिक रूप से), इसके अलावा 'विशेष' (अलग एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य में विविध) अनुपात में व्यक्तिगत भागीदारी है।

वर्ग की उत्पत्ति में मार्क्सवादी और समाजशास्त्री के बीच स्वाभाविक रूप से एक और असमानता राजनीतिक है। समाजशास्त्री दृष्टिकोण वर्गों या इनके अंशों के बीच गठबंधन को प्रोत्साहित करता है, इसके साथ यह शुद्ध श्रमिक वर्ग पर जोर देता है तथा इनको एक लाभान्वित – महत्वपूर्ण एवं प्रभुत्वशाली – राजनीतिक विशेषता वाला बताता हैं। मार्क्स के दृष्टिकोण में इस प्रकार के गठबंधन की असंभाव्यता होती है। 'शुद्ध' श्रमिक वर्ग (काम में लगे एक व्यक्ति की तुलना एक बेरोजगार से, अतिरिक्त मूल्य के 'प्रत्यक्ष' निर्माता की तुलना अप्रत्यक्ष निर्माता से, 'सर्वहारा' की तुलना 'निम्न सर्वहारा' से) राजनीतिक रूप से प्रक्रियात्मक लाभ देने वाली स्थिति नहीं होता है। पतन की तुलना में उदय हो रहे वर्ग को परिवर्तनवादी महत्व या शक्ति सौंपने का कोई मुद्दा नहीं है। इन शब्दों का अर्थ तभी होता है जब वर्ग को पदों या व्यक्ति के संघ के रूप में देखा जाता है। अंत में, अग्रणी राजनीतिक दल (इसके साथ कमजोर राजनीतिक दल) का विचार उल्टा हो जाता है जिस तरह 'अगड़े' एवं 'पिछड़े' वर्ग में असमानता वर्ग की समाजशास्त्रीय उत्पत्ति में मूल रूप से समाप्त हो जाती है।

यद्यपि, वर्ग संघर्ष के संबंध के अतिरिक्त लोगों या पदों का समूह नहीं है, इसलिए परिवर्तनकारी संघर्ष समूह के बीच के संघर्ष का आकार ले लेता है (यह हमेशा अनुचित या प्रदूषित तरीके से होता है) जो अनिवार्य रूप से वर्ग संघर्ष का परिणाम है। यहां यह निःसंदेह समाजशास्त्र के वर्ग जैसा नहीं प्रतीत होता है जो इसके शैक्षणिक एवं दुराग्रही सत्य में अधिक रुचि रखता है। यहां व्यक्ति किसके क्षेत्र से है की अपेक्षा किस क्षेत्र से उसका संबंध है, फिर भी यह निर्णायक प्रश्न जिम्मेदारियों या बने रहने के लिए पदों की सामूहिक प्राथमिकता नहीं है। गुणात्मकता के साथ मात्रात्मक रूप में से भी वर्ग की चारित्रिक विशेषता स्वाभाविक असंगति की है।

कोई भी यदि चाहे तो सामाजिक ज्ञान मार्क्स की हस्तलिपियों से प्राप्त कर सकता है। मार्क्स अपने राजनीतिक कार्यों में विशेष रूप से हमेशा समाजवादी नहीं थे। कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो में वर्ग की उत्पत्ति को 'दो महान शिविरों' में प्रोत्साहित किया गया। मार्क्स के वर्ग की उत्पत्ति साफ तौर पर समाजशास्त्रीय तर्कों में है। अपने आलोचकों एवं संशोधनवादियों की आलोचना करने के बहुत पूर्व मार्क्स ने यह लिख दिया था कि पूंजीवाद के विकास के साथ ही 'मध्यम वर्ग' की संख्यानुसार वृद्धि होगी। फिर भी मार्क्स ने कैपिटल नाम से एक पुस्तक लिखी जिसमें एक ही वर्ग संबंध को दर्शाया (पूंजी–श्रम का संबंध), जिसे अकादमिक रूप से 'वस्तु' संबोधित किया गया। 'मध्यम वर्ग' समाजशास्त्रीय है तथा मार्क्सवादी के रूप में कैपिटल के महत्वपूर्ण तर्कों के मूल्यांकन द्वारा इस पहेली को मात्र इस पर ध्यान देने से सुलझाया जा सकता है।

वर्ग की समाजशास्त्रीय उत्पत्ति मार्क्सवादी पहचान स्थापित करने की जरूरत में आर्थिक निर्धारक के रूप में बदल जाती है। मार्क्स के कार्यों के अनुसार वर्ग (यहां पुनः वर्ग को लोगों के स्थान या समूह के रूप में देखा जाता है) का 'उत्पादन के स्रोतों' से सार्वभौमिक संबंध के एक मात्र कारक होने के कारण ऐसा होता है। फिर भी, उत्पादन के स्रोतों से संबंध होने के साथ भी लोग वर्ग का हिस्सा होते हैं तथा राज्य से, विचारधारा से, स्थानीय चर्च आदि से जुड़े होते हैं। इसलिए, वर्ग के समाजशास्त्रीय मूल से एक पृथक सामाजिक स्तर, प्रथा अथवा दृष्टांत उत्पन्न होते हैं (ऑल्थसर) तथा इन

टिप्पणी

स्तरों के जुड़ाव के प्रश्न का समाधान करते हैं। अंतिम दृष्टांत में इसका उत्तर है कि आर्थिक गतिविधि स्वंय को दृढ़तापूर्वक आवश्यक बनाती है।

'समग्रता के दृष्टिकोण के साथ' एक नयी वर्ग राजनीति की शुरुआत की गयी। पूर्व में 'राजनीति' को एक अलग सामाजिक श्रेणी में देखा जाता था। वर्ग की अपने लिए की गयी उत्तरजीविता के मूल्यांकन की पुष्टि लगभग पारंपरिक अर्थात एक बुर्जुआ की तरह के राजनीतिक सहयोग की तरह होती है। अभी भी अग्रणी दल को एक भिन्न बुर्जुआ विचार की तरह समझा गया। फिर भी मार्क्स राजनीतिक श्रेणी तथा सामान्य सामाजिक व्यवस्था में अंतर नहीं करते हैं तथा लोगों के सामाजिक समूह को भाग लेने के लिए तत्परता को कारण मानते हैं।

वर्ग की उत्पत्ति के पूर्व वर्णित विवरण सम्पूर्णता को और न ही इसके लिए आवश्यक स्थिति को पुष्टि नहीं देते हैं जिसे बारबार कहने का प्रयास किया गया है। वे मार्क्स के वर्ग की समझ को स्पष्ट करने के इच्छुक हैं। इस समझ का मूल्यांकन करने के विचार के लिए यह मत संभवतः अनुचित हो सकता है कि वर्ग संघर्ष का एकमात्र और सम्पूर्ण संबंध 'पूंजी—श्रम संबंध' की परख है जो अपनी पूर्ति करने के लिए हमारे जीवन को बनाता है। इस बिंदु पर मार्क्स के मत को बदलने में कोई संदेह नहीं हो सकता है कि अतिरिक्त प्रकार के संबंध में (उदाहरण के लिए, लैंगिक एवं जातीय बंधन) पूरी तरह से अंश मात्र में पूंजी से संबंध की मध्यस्थता रहती है।

पूंजीवादी व्यवस्था में मार्क्स सबसे पहले समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री थे। उनमें इस व्यवस्था के प्रति एक विशेष धारणा थी कि यह मनुष्य की नियति को किस प्रकार बनाती है तथा इसका विकास किस प्रकार होता है। इस व्यवस्था के समाजशास्त्री एवं अर्थशास्त्री होने के कारण समाजशास्त्रीय मुद्दों के प्रति उनका पूंजीवादी दृष्टिकोण था। उनमें समाजवादी व्यवस्था के लिए कोई सटीक छवि नहीं थी तथा वे बारबार कहते थे कि मनुष्य अपना भविष्य पहले से नहीं जान सकता है।

1848 से जीवनपर्यन्त मार्क्स स्पष्ट रूप से दार्शनिक नहीं थे तथा समाजशास्त्री एवं अधिकांशतः अर्थशास्त्री बने रहे। उन्होंने उत्कृष्ट आर्थिक शिक्षा प्राप्त की तथा बहुत कम लोगों की तरह अपने समय के आर्थिक विचारों को जानते थे। वे सटीक रूप में अर्थशास्त्री बनना चाहते थे तथा ऐसे ही बने।

कम्यूनिस्ट घोषणापत्र एक प्रचार सामग्री है जिसमें मार्क्स एवं एंजेल्स ने संयुक्त रूप से अपने कुछ वैज्ञानिक विचारों को प्रस्तुत किया है। प्रमुख विषय वर्ग संघर्ष है। उन्होंने सभी इतिहास को – आजाद मनुष्य और गुलाम, अभिजात एवं सामान्य, सामन्त एवं दास, कुशल कारीगर एवं सामान्य कारीगर – वर्ग संघर्ष का इतिहास बताया है। संक्षेप में, शोषकर्ता एवं शोषक एक दूसरे के विरूद्ध सदा से कभी छिपकर कभी खुलकर संघर्ष में लगे रहे हैं। यह हमेशा सम्पूर्ण समाज के लिए परिवर्तनकारी रहा है अथवा प्रतिद्वन्दी के लिए विनाशकारी रहा है। मानव इतिहास की विशेषता मानव समूहों के संघर्ष की रही है, जिसकी विशेषता पहले शोषक एवं शोषित के बीच की शत्रुता रही और बाद में दो ध्रुवों के मिलने के झुकाव की रही है। सभी समाज संघर्षशील वर्गों में बंटे रहे हैं। समकालीन पूंजीवादी समाज भी अपने पहले के समाजों से भिन्न नहीं हैं। फिर भी, समकालीन शोषक वर्ग कुछ खास विशेषता प्रदर्शित करते हैं जो पूर्व से भिन्न रहे हैं।

टिप्पणी

पूंजीपति बिना स्थायी रूप से उत्पादन के उपस्करों में आमूल परिवर्तन किए अपने वर्चस्व को बनाए रखने में असमर्थ होते हैं। मार्क्स के अनुसार, पूंजीपतियों ने अपने पूर्व के समाजों की अपेक्षा उत्पादन की शक्ति को पिछले कुछ ही दशकों में अधिक विकसित कर लिया है। पूंजीपतियों ने उत्पादन के स्रोतों को क्रूर प्रतिस्पर्धा के द्वारा आमूल परिवर्तित कर दिया है। पूंजीपति वैश्विक बाजार का निर्माण कर रहे हैं। ये सामंती व्यवस्था के अवशेषों तथा पारंपरिक समुदायों को समाप्त कर रहे हैं। लेकिन जिस प्रकार उत्पादन की शक्ति ने पूंजीवादी व्यवस्था को जन्म दिया, यह सामन्ती समाज में भी इसी तरह विकसित हुआ था, इसलिए उत्पादन की शक्ति समाजवादी व्यवस्था को जन्म देगी जो आधुनिक समाज के अन्तर्गत तैयार हो रही है।

मार्क्स ने इससे इंकार नहीं किया कि पूंजीपतियों एवं सर्वहारा वर्गों के बीच अनेक समूह – कारीगरों, निम्न मध्यमवर्ग के पूंजीपतियों, व्यापारियों, किसानों और भूस्वामियों के हैं। उन्होंने कहा कि पूंजीवादी व्यवस्था के विकास के साथ ही सामाजिक संबंधों में दो समूह बनने की प्रवृत्ति होगी, एक तरफ पूंजीवादी तथा दूसरी ओर सर्वहारा वर्ग। केवल दो वर्गों के कारण एक राजनीतिक व्यवस्था और एक सामाजिक व्यवस्था के विचार की संभावना होगी। निर्णायक संघर्ष के दिन सभी या तो पूंजीवादियों या सर्वहारा वर्ग से जुड़ने के लिए कृतज्ञ होंगे। जिस दिन सर्वहारा वर्ग शक्ति अपने हाथ में ले लेंगे, इतिहास की पूर्व की सभी पद्धतियों में एक अंतिम विभाजन होगा। वस्तुतः, सभी ज्ञात समाज की शत्रुतापूर्ण प्रकृति समाप्त हो जाएगी।

मार्क्स ने राजनीति एवं राज्य को समाज में घट रही बातों की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण माना है। उन्होंने राजनीतिक शक्तियों को सामाजिक संघर्ष के प्रकट होने के रूप में बताया। राजनीतिक शक्ति वह माध्यम है जिससे शासक वर्ग, शोषक वर्ग अपने नियंत्रण एवं शोषण को रखता है। वर्ग विरोधाभासों का समापन निश्चय ही तार्किक रूप से राजनीति एवं राज्य को समाप्त करता है क्योंकि राजनीति एवं राज्य वर्ग संघर्ष के गौण–उत्पाद या अभिव्यक्ति हैं।

सभी समाज में एक महत्वपूर्ण आर्थिक आधार अथवा आधारभूत संरचना तथा अधिरचना होती है। आधारभूत संरचना मूल रूप से उत्पादन की शक्ति एवं इसके संबंधों की होती है, जबकि अधिरचना में वैधानिक एवं राजनीतिक संस्थाओं के साथ सोच का तौर–तरीका, विचारधारा और दर्शन होता है। उत्पादन की शक्ति एवं संबंधों के बीच विरोध ऐतिहासिक परिवर्तन के उपस्कर हैं। उत्पादन की शक्ति मूलतः एक समाज के उत्पादन की क्षमता होती है, एक क्षमता जो वैज्ञानिक ज्ञान, तकनीकी युक्तियों एवं संयुक्त श्रम का कार्य है। मूल रूप से उत्पादन के संबंध का अंतर संपत्ति के संबंध से किया जाता है। यद्यपि, उत्पादन के संबंध को संपत्ति के संबंध के साथ ज्ञात करने की आवश्यकता नहीं है, अथवा संपत्ति के संबंधों तथा राष्ट्रीय आय के वितरण के साथ कोई भी दर उत्पादन के संबंधों की हो (जो कमोबेश संपत्ति के संबंधों से निर्धारित होती है)।

अब, अवधारणात्मक सूत्रों से हट कर पूंजीवाद को समझते हैं। पूंजीवादी समाज में पूंजीपति उत्पादन के स्रोतों से निजी स्वामित्व के रूप में जुड़े होते हैं और इसलिए राष्ट्रीय आय के आवंटन से भी जुड़े होते हैं। दूसरी तरफ, सर्वहारा जो समाज के विपरीत ध्रुव को बनाते हैं, एक अलग सामूहिक संघ का प्रतिनिधित्व करते हैं। इतिहास में खास क्षणों में नए सामाजिक संगठन का प्रतिनिधित्व करते हैं जो पूंजीवादी संगठनों

टिप्पणी

से अधिक प्रगतिशील होंगे। यह नया संगठन इतिहास के बाद के चरणों की प्रक्रिया का प्रतीक होगा, उत्पादन की शक्ति का अधिक विकास होगा, प्रगतिशील इतिहास की ओर बढ़ने की स्थिति होगी। उत्पादन की शक्ति एवं संबंध की द्वन्द्ववात्मकता परिवर्तन के सिद्धान्त का संकेत करती है। परिवर्तन राजनीतिक आकस्मिकता नहीं है, बल्कि ऐतिहासिक आवश्यकता की अभिव्यक्ति है। परिवर्तन निर्णायक कार्य करते हैं। जब स्थिति परिपक्व हो जाती है, वे घटित होते हैं।

पूंजीवादी का उत्पादन से संबंध का विकास सर्वप्रथम सामन्ती समाज के गर्भ में हो गया था। फ्रांसीसी क्रांति तब घटित हुई जब उत्पादन का नया पूंजीवादी संबंध एक निश्चित परिपक्वता हासिल कर चुका था तथा मार्क्स ने इसी समय पूंजीवाद के समाजवाद के जैसे परिवर्तन की भविष्यवाणी की थी। उत्पादन की शक्ति अवश्य ही समाजवादी समाज में विकसित होगी। वर्तमान समाज के अन्तर्गत उत्पादन की समाजवादी शक्ति परिपक्व होगी, इसके पहले के परिवर्तन से पूर्व का इतिहास समाप्त हो जाएगा। मार्क्स ने कहा कि मानव सदा ऐसी ही समस्याओं को लेता है जिसे वह हल कर सके। मानव चेतना से सत्य निर्धारित नहीं होता है, इसके विपरीत सामाजिक सत्य ही चेतना को निर्धारित करता है। इसके परिणामस्वरूप एक नया आरंभ होता है जिसमें सामाजिक संबंधों के प्रति मनुष्य के सोचने के तरीके की व्याख्या होती है।

अंत में मार्क्स ने मानव इतिहास के स्तरों को रेखांकित किया। जिस प्रकार ऑगस्ट कॉम्टे ने मनुष्य के सोचने के तरीके के आधार पर मानव विकास के अंतर को दर्शाया, उसी तरह मार्क्स ने मानव इतिहास के विभिन्न स्तरों में उनकी आर्थिक व्यवस्था के आधार पर अंतर किया है तथा इसे उत्पादन के चार रूपों– एशियाई, प्राचीन, सामंती एवं पूंजीवादी में अभिव्यक्त किया है।

उत्पादन का एशियाई प्रकार पश्चिमी इतिहास में नहीं दिखाई देता है। उत्पादन का एशियाई प्रकार की विशेषता पश्चिम से भिन्न है। उत्पादन के एशियाई प्रकार में गुलामों, कृषिदासों या मजदूरी कमाने वालों को उत्पादन के स्रोतों पर अधिकार रखने वालों के अधीनस्थ नहीं दिखाया जाता है, परन्तु सभी श्रमिकों पर राज्य की अधीनता होती है। यदि उत्पादन के एशियाई प्रकार की यह समझ सटीक है तब सामाजिक संगठनों की विशेषता पश्चिम के वर्ग संघर्ष के जैसी नहीं होगी, बल्कि सम्पूर्ण समाज का शोषण राज्य अथवा सत्तावादी वर्ग द्वारा होगा।

2.3.2 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत

कार्ल मार्क्स के सिद्धांत का एक अहम पहलू है– अतिरिक्त मूल्य। यह वो मूल्य है जो एक मजदूर अपनी मजदूरी के अलावा पैदा करता है। मार्क्स के अनुसार, समस्या यह है कि उत्पादन के साधनों के मालिक इस अतिरिक्त मूल्य को ले लेते हैं और सर्वहारा वर्ग की कीमत पर अपने मुनाफे को अधिक से अधिक बढ़ाने में जुट जाते हैं।

मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत को समझने से पूर्व मूल्य के स्वरूप को समझना होगा। मार्क्स वस्तु के मूल्य को पैदा करने वाले दो प्रकार के आधार मानता है। प्रथम आधार उपयोगिता है और द्वितीय आधार विनिमय है।

- **उपयोगिता मूल्य** : उपयोगिता मूल्य का अर्थ है मनुष्य की इच्छा पूरी करना। जो वस्तुएं मनुष्य की इच्छाएं पूरी करती हैं वे उनके लिए उपयोगी है, अतः वे

मूल्यवान और महत्वपूर्ण हैं जो वस्तुएं उसकी इच्छाओं को पूरा नहीं करती हैं वह उनके लिए उपयोगी न होने के कारण कोई मूल्य नहीं रखती है।

जैसे अधिक भूखे व्यक्ति के लिए भोजन उपयोगी है, लेकिन भरपेट भोजन कर चुके व्यक्ति के लिए यह उपयोगी नहीं है।

- **विनिमय मूल्य** : मूल्य का दूसरा आधार विनिमय है। विनिमय मूल्य उस अनुपात को कहते हैं जिसके आधार पर किसी वस्तु को दूसरी वस्तु के बदले में दिया जाता है। जैसे एक किसान के पास अनाज अधिक है लेकिन कपड़े नहीं हैं। इसी प्रकार कपड़े के व्यापारी के पास कपड़ा है लेकिन अनाज नहीं है। आवश्यकता के अनुसार किसान और व्यापारी एक दूसरे से वस्तुओं का विनिमय करते हैं। वस्तुओं का विनिमय मूल्य श्रम के आधार पर निश्चित होता है।

  यदि एक निश्चित मात्रा में अनाज के बदले एक निश्चित मात्रा में कपड़ा दिया जाता है तो इसका कारण यह है कि दिए गए अनाज के पैदा करने में उतना ही श्रम लगता है जितना दिए गए कपड़े के उत्पन्न करने में।

  अतः किसी वस्तु का मूल्य उसमें लगाए गए श्रम के आधार पर निश्चित होता है। किंतु पूंजीपति श्रमिक को उतना ही पारिश्रमिक देता है जिससे वह जीवित रह कर अपना पेट भर सके और अपने परिवार का भरण–पोषण कर सके।

अतिरिक्त मूल्य

मार्क्स के अनुसार प्रत्येक वस्तु का मूल्य उस पर खर्च किए गए श्रम के आधार पर होता है। लेकिन बाजार में वह वस्तु ऊंचे दामों पर बेची जाती है और उसके बेचने से प्राप्त होने वाला अतिरिक्त धन पूंजीपति के जेब में जाता है। पूंजीपति द्वारा बिना श्रम के प्राप्त यह पूंजी अतिरिक्त मूल्य है।

मार्क्स के अनुसार, "अतिरिक्त मूल्य उन दो मूल्यों का अंतर है, जिसे श्रमिक पैदा करता है और वह वास्तव में पाता है।"

यह ऐसा मूल्य है जिसे पूंजीपति श्रमिक के कारण प्राप्त करता है और जिसके लिए श्रमिक को कुछ भी प्राप्त नहीं होता है।

मैक्सी के अनुसार, "यह वह मूल्य है जिसे पूंजीपति श्रमिकों के खून–पसीने की कमाई पर टोल टैक्स के रूप में वसूल करते हैं।"

उदाहरण के लिए यदि कोई पूंजीपति एक पेन बनाने की सामग्री ₹10 में खरीदा है और उसके बनाने वाले मजदूर को ₹3 देता है। इस पेन का मूल्य ₹13 होना चाहिए। लेकिन बाजार में ₹20 में बिकता है। यहां पूंजीपति ₹7 अतिरिक्त मूल्य के रूप में प्राप्त करता है जिसके लिए वह कोई परिश्रम नहीं करता है।

मार्क्स के अनुसार यह अतिरिक्त मूल्य श्रमिक को मिलना चाहिए। किंतु पूंजीपति उसके श्रम की चोरी करता है। यह चोरी उसका लाभ है। इसी से निरंतर वह पूंजी का निर्माण करता रहता है। उत्पादन की वृद्धि के साथ–साथ अतिरिक्त मूल्य भी बढ़ता रहता है। पूंजीपति का लक्ष्य अपने धन में निरंतर वृद्धि करना होता है, दूसरी ओर श्रमिक अधिक पारिश्रमिक पाने के लिए श्रमिक संघों का निर्माण करते हैं। आवश्यकता होने पर हड़ताल आदि का सहारा लेते हैं। इस प्रकार पूंजीपतियों व श्रमिकों के बीच संघर्ष प्रारंभ हो जाता है। यहीं से पूंजीवाद के विनाश की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है।

'दास कैपिटल' नामक पुस्तक में अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत का विवेचन किया गया है। इसके संबंध में लेनिन ने कहा है कि यह अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत मार्क्स की अर्थशास्त्रीय शिक्षा की आधारशिला है। मार्क्स का मानना है कि वस्तु का मूल्य उपयोगिता और विनिमय दो आधारों पर निर्धारित होता है। उपयोगिता मूल्य से अभिप्राय है कि कोई विशेष वस्तु व्यक्ति की कितनी इच्छाएं पूरी करती है और विनिमय मूल्य से अभिप्राय है कि उस वस्तु के बदले कितनी अन्य वस्तुएं पायी जा सकती हैं। इन दोनों के आधार पर ही किसी वस्तु का क्या मूल्य है, निर्धारित किया जा सकता है। मार्क्स का कहना है कि श्रम के आधार पर वस्तुओं का विनिमय मूल्य निर्धारित होता है। एक क्विंटल चावल के बराबर पांच मीटर कपड़ा यदि हम कहते हैं तो इसका अर्थ यही होगा कि एक क्विंटल चावल में जितना श्रम लगता है उतना ही श्रम पांच मीटर कपड़ा बनाने में लगता है। मार्क्स का कहना कि जब पूंजीपति मजदूरों से अधिक श्रम लेते हैं और बदले में उन्हें इतना ही देते हैं जिससे वे किसी तरह से अपना जीवनयापन कर संतानोत्पति कर सकें तो यह 'मजदूरी का लौह नियम' कहलाता है। इस व्यवस्था में पूंजीपति तो अतिरिक्त पैसे कमा लेते हैं। इसे अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत कहा जाता है। मार्क्स के शब्दों में, ''अतिरिक्त मूल्य उन दो मूल्यों का अंतर है जिसे मजदूर पैदा करते हैं और जिसे वे वास्तव में पाते हैं।'' प्राचीनकाल से ही प्रचलित है कि पूंजीपति मजदूरों का शोषण करते हैं और इस व्यवस्था का समापन तभी होगा, जब पूंजीपतियों का विनाश कर दिया जाएगा।

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत की आलोचना

मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत की कई आधारों पर आलोचना भी की जाती है, जो इस प्रकार है–

1. मार्क्स उत्पादन में केवल श्रम की लागत को ही महत्व देते हैं, जबकि कच्चा माल, मशीन, वैज्ञानिक और प्रविधिक ज्ञान, पूंजी को वे वस्तु की लागत में शामिल नहीं करते हैं। आज के परिप्रेक्ष्य में श्रम के अतिरिक्त इन सारी चीजों का प्रभाव वस्तुओं के उत्पादन पर पड़ता है।
2. मार्क्स के विचारों के संबंध में आलोचकों का कहना है कि उन्होंने शारीरिक श्रम को ही सबकुछ मान लिया है और मानसिक श्रम को महत्व नहीं दिया है, जो गलत है।
3. अतिरिक्त मूल्य संपूर्ण तौर पर लाभ नहीं माना जा सकता है, क्योंकि श्रम की लागत के अतिरिक्त अन्य खर्चे भी उत्पादन के दौरान पूंजीपति को करने पड़ते हैं।
4. 'मूल्य' और 'दाम' जैसे शब्दों को मार्क्स ने मनमाने तरीके से प्रयोग किया है। प्रबंधन, कुशलता, आदि की उपेक्षा कर मार्क्स केवल यही कहते हैं कि श्रमिक बढ़ा दो तो उत्पादन कई गुणा बढ़ जाएगा। अलेक्जेण्डर ग्रे जैसे विचारकों ने मार्क्स की इस आधार पर आलोचना की है।
5. मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत को वास्तविकता से अधिक प्रचार पर आधारित सिद्धांत माना जाता है, क्योंकि इसका उद्देश्य पूंजीवादी व्यवस्था में मजदूरों के होनेवाले शोषण का प्रचार करना था। इसी कारण यह पूंजी, श्रम, आदि की विधिवत विवेचना करने मे सफल नही हो सका है।

6. मार्क्स के इस विचार को कुछ विचारक मौलिक नहीं मानते हैं। कोकर जैसे आलोचकों का कहना है कि 19वीं सदी में विलियम पेटी ने यह विचार दिया था, जिसमें रिकार्डो और एडम स्मिथ ने संशोधन करके नवीन स्वरूप प्रदान किया था।

मार्क्स की चाहे जितनी भी आलोचना की जाए पर यह नितांत सत्य है कि आज भी जब समाज में असमानता और शोषण बढ़ता है तो मार्क्स द्वारा प्रस्तुत विचारों के ही आधार पर उसकी तुलना की जाती है और व्यवस्था को बेहतर बनाने का प्रयास किया जाता है। आर्थिक ही नहीं बल्कि सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी मार्क्स के विचारों का महत्व यथावत कायम है। मार्क्स ने जिस वर्गविहीन समाज की कल्पना की है, उसमें सबको समानता का अधिकार मिलना वास्तव में अबतक के ज्ञात इतिहास में एक अनोखी व्यवस्था होगी और वर्तमान जटिल समाजों के लिए प्रासंगिक भी होगा।

अपनी प्रगति जांचिए

3. कार्ल मार्क्स के पिता क्या थे?
   (क) वकील (ख) अध्यापक
   (ग) चिकित्सक (घ) क्लर्क
4. किस पुस्तक में अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत का विवेचन किया गया है?
   (क) 'कैपिटल' (ख) 'मूल्य के सिद्धांत'
   (ग) 'दास कैपिटल' (घ) 'उत्पादन'

2.4 थर्स्टिन वेब्लिन : प्रौद्योगिकीय परिवर्तन एवं विलासी वर्ग का सिद्धांत

थर्स्टिन बुंडे वेब्लिन (1857–1929) एक अगुआ समाजशास्त्री थे, जिनके लेखों को महान कार्य का दर्जा दिया जाता था। उन्होंने अर्थशास्त्र और उपभोक्ता व्यवहार में समाजशास्त्रीय वर्णनों के योगदान को प्रेरित किया। उन्होंने अमेरिकी उद्योगवाद की तीखी आलोचना की। उन्होंने जॉन केनेथ गालब्रेथ और सी. राइट मिल्स जैसे लोगों को विशेष रूप से प्रभावित किया। उनके माता पिता नॉर्वे के अप्रवासी थे। उन्होंने अकादमिक जगत में कई पदों का आनंद उठाया। अपने मुखर और अपारंपरिक व्यवहार के कारण, वे अपने व्यावसायिक जीवन का वैसा उपयोग नहीं कर पाए, जैसा कि कर सकते थे। उनके विलक्षण लेख व्यंग्य और भारी विडंबनाओं से भरपूर हैं। इससे उनके काम की गुणवत्ता कम हुई और उन्हें व्यक्तिगत निराशाओं का सामना करना पड़ा। वे ज्यादातर 19वीं सदी के अंतिम भाग की उद्यमी पूंजीवाद की विचारधाराओं से घिरे थे। वे विकासवाद और मूल्य सिद्धांत से भी प्रभावित थे और सामाजिक समझ के लिए उनका इस्तेमाल करते थे। उन्होंने 'द थेरी ऑफ लीजर क्लास (1899)' नामक अपनी एक मुख्य किताब के माध्यम से लोकाचार अनुरूप विकासवादी नृविज्ञान का एक चमकता चिह्न प्रदर्शित किया। अपनी किताब में उन्होंने विशिष्ट उपभोक्ता और विशिष्ट आराम वर्ग जैसी संक्षिप्त अवधारणाओं के पीछे के समाजशास्त्र का विश्लेषण किया। उन्होंने पाया कि आराम वर्ग,

आदिवासी समाजों की बर्बर जीवनशैली प्रदर्शित करता है। बर्बर जीवनशैली, सभ्य समाज में परुषों द्वारा महिलाओं के शोषण की ओर संकेत करती है।

उन्होंने उद्योग के शोषण तथा श्रमिक की आविष्कारशीलता में निहित क्रूरताओं के बारे में समझाया। उनकी किताब, 'द थेरी ऑफ द बिजनेस एंटरप्राइज' (1904) में इन सबका बखूबी वर्णन किया है। उन्होंने नव–क्लासिकल मूल्य सिद्धांतों और बाजार तंत्र की भी आलोचना की। उनके समकालीन रुडॉल्फ हिलफर्डिंग द्वारा विकसित 'धन–संबंधी व्यावसायिक हित' सिद्धांत की 'वित्त पूंजी' सिद्धांत से तुलना की गई। उन्होंने तकनीकी आधार पर मार्क्स की वैचारिक अवधारणा को खारिज कर दिया। वेब्लिन के लिए मार्क्स के विचार काल्पनिक हैं और सच्चाई से मेल नहीं खाते। दरअसल, ज्ञान के समाजशास्त्र के प्रति उनका योगदान, उपभोग और आराम के समय का विस्तृत दृश्य प्रदान करता है। उन्हें इस विषय के संबंध में स्पष्ट उत्तेजक विचारों के लिए याद किया जाता है।

तकनीकी परिवर्तन

समाज पर तकनीक के प्रभाव का ब्योरा देते हुए वेब्लिन द्वारा 'तकनीकी नियतिवाद' शब्द रचे गए। उनके अनुसार किसी भी समाज की प्रकृति उसकी तकनीकों द्वारा परिभाषित होती है। उनके हिसाब से तकनीक, समाज की संस्कृति चलाने में सहायक होती है और इसी से उस समाज के इतिहास का पथ भी रचा जाता है। उदाहरण के लिए, बारूद के तकनीकी आविष्कार के बाद युद्ध लड़े जाने के तरीके पूरी तरह बदल गए, या फिर सूचना तकनीक को ही देखा जाए, इसके आने से समाज के संचार का तरीका पर्वर्तित हो गया है।

तकनीकी नियतिवाद का विचार एक न्यूनकारी विचार है, जो तकनीक और समाज की प्रकृति के बीच संबंध स्थापित करने की कोशिश करता है। यह सिद्धांत, तकनीकी कारकों द्वारा मनुष्यों के विचारों और कार्यों पर पड़ने वाले प्रभाव की डिग्री पर प्रश्न उठाता है। वेब्लिन का, स्कमपीटर की तरह, यह भी मानना था कि तकनीक के कारण पूंजीवाद में क्रांतिकारी बदलाव आएगा और इसका एक प्रणाली के रूप में उसके भविष्य पर गंभीर निहितार्थ भी होगा।

आराम वर्ग और उपभोक्तावाद

वेब्लिन उपभोक्ता वस्तुओं को सामाजिक प्रमुखता, शक्ति, बल, प्रतिष्ठा और सम्मान के निर्माता के रूप में देखते थे। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि नया आराम वर्ग, यूरोप में उच्च वर्गों की जीवन शैली की नकल कर रहा है। जीवन शैली के अनुकरण से एक व्यक्ति की स्थिति को सामाजिक बढ़ावा मिलता है। निश्चित दावों की कमी की स्थिति में यह और भी हावी हो जाता है। यह सापेक्ष अभाव के क्षेत्र में खुद को प्रकट करता है।

उन्हें ऐसा लगता था कि सर्वाहारी सुसंस्कृत लोग हमेशा अपनी उपभोग की आदतों में बदलाव लाते रहते थे ताकि वे नये अमीरों से एक कदम आगे रह सकें। वैसे भी, ऐसा माना जाता था कि उपभोग अपनी स्तर–आवंटन विशेषताओं के लिए ज्यादा महत्वपूर्ण है। यह पदानुक्रम रूप में, व्यवस्थित सामाजिक संरचना के रूप में उभरा और अमीरों की सम्मानित उपभोग शैली पर आधारित था, विशेष रूप से सज्जन पर। एक

सज्जन के लिए अपनी मूर्खता दूर करने हेतु कुछ झुकाव विकसित करना जरूरी था, इसलिए उसके लिए यह अनिवार्य हो गया कि वह उपभोग की वस्तुओं में कुलीन और बेकार वस्तुओं का फर्क समझे।

टिप्पणी

टी वेब्लिन इस विचार से शुरुआत करते हैं कि बर्बर संस्कृति के अंतिम दौर में एक आराम वर्ग था जो औरों से दो कदम आगे रहने के लिए अपने उपभोग को रहस्यमय बनाए रखने का इरादा रखता था।

यह कई सभ्यताओं तक काम करता रहता है, जब तक एक पृथक आराम वर्ग अनुसरणीय न हो जाए। बर्बर संस्कृति एक तरह का बढ़ता हुआ मानव प्रतिरूप दिखाती है जिसमें अनिवार्य रूप से मानवता के मूल्य मौजूद नहीं थे। इस बात पर बहस करते हुए वे प्रयोजनपूर्वक उदाहरण देने लगते हैं जैसेकि सामंती जापान (एक आराम वर्ग) और पॉलिनेशी द्वीपसमूहियों (एक आराम वर्ग, लेकिन सम्मानित नहीं) से लेकर शिकारी जनजातियों (आराम वर्ग नहीं) तक।

बेशक, वेब्लिन इस बात पर जोर देते हैं कि आराम वर्ग की बुनियाद धीरे–धीरे संक्रमित हुई है, आदिम जाति से बर्बरता तक या यह कहना अधिक उचित रहेगा कि, शांतिप्रिय स्थिति से सदा युद्ध के लिए तैयार जीवन की आदत तक। आराम वर्ग के विकास के लिए महत्वपूर्ण दो परिस्थितियों का वर्णन निम्न प्रकार किया गया हैः

1. समुदाय को जीवन जीने की अति लोलुप आदत होनी चाहिए (बल द्वारा चोट पहुंचाने की आदत)।
2. उत्तरजीविता पर्याप्त रूप से सरल परिस्थितियों में सुलभ होनी चाहिए। समुदाय के बड़े भाग द्वारा स्थायी रूप से श्रम का बहिष्कार किया जाना चाहिए।

वेब्लिन के लिए, केवल तकनीक की नवीनता द्वारा, दूसरी परिस्थिति उपलब्ध की जा सकती है। यह एक ऐसा मौका बनाने के बारे में है, जो लोगों के एक वर्ग को मुक्त कर सके। इस वर्ग के लोगों के पास आराम करने के लिए समय होगा। आराम के समय वाले इस वर्ग को आराम वर्ग के नाम से वर्गीकृत किया जा सकता है। यदि एक व्यक्ति को हर समय केवल गुजर बसर की चिंता लगी रहेगी तो वह किसी निर्जन गतिविधि के लिए तब तक भुगतान नहीं करेगा, जब तक वह उत्पादक न हो। जीवित रहने के लिए मेहनत करने वालों को दूसरों से अलग करने के लिए उत्पादक गतिविधि को खारिज करना तो छोड़ दें। परिभाषित आराम वर्ग हीन समुदाय बहुत छोटे समूहों में मौजूद होते हैं, उनकी प्रकृति शांतिपूर्ण होती है और उनकी आर्थिक प्रणालियां व्यक्तिगत अधिकारों पर केंद्रित नहीं होती।

वेब्लिन का यह दावा है कि आराम वर्ग का अस्तित्व, जीवन की एक बड़ी आदत की मांग करता है। क्रूरता के शुरुआती दौर में इस बात की समझ आती है कि बिना विरोध और शत्रुता कोई अपनी वर्तमान परिस्थिति से उभर नहीं सकता था। उस दौर में विरोध साधनों के इस्तेमाल के बिना एक व्यक्ति के लिए अपने साथियों से आगे निकलना संभव नहीं था। खानाबदोश शिकारी जनजातियों के संबंध में वेब्लिन का कहना है कि कार्य में अंतर है, लेकिन उच्च वर्ग की काम से छूट उसे 'आराम वर्ग' का दर्जा देने के लिए काफी नहीं है। वेब्लिन का आगे कहना है कि विविधीकरण और

टिप्पणी

विशेषज्ञता के दौर के दौरान, औद्योगिक और गैर–औद्योगिक रोजगारों के बीच का अंतर अपना दावा करता है। गैर–औद्योगिक रोजगार के उदाहरण युद्ध, राजनीति, खेल, सीखना, धार्मिक काम आदि हैं। इनमें से कोई भी कार्य करने के लिए व्यक्ति को औद्योगिक रोजगार से छूट दे दी जाती है और यह छूट उच्च दर्जे का आर्थिक विचार है। इस अंतर का वेब्लिन के लेखों में भिन्न नामों से उल्लेख किया गया है जैसेकि आर्थिक बनाम औद्योगिक और शोषण बनाम उद्योग।

आराम वर्ग के लिए आवश्यकताओं और पालन करने के झुकाव से विरोधाभास की शुरुआत होती है। लोग अपने सम्मान और प्रतिष्ठा को व्यक्त करने के लिए अपने साथियों से अलग दिखने की इच्छा रखते हैं। यह झुकाव क्षय की ओर ले जाता है और एक मानकीकृत स्थिति बरकरार रखने हेतु, दूसरों द्वारा तत्काल पालन की मांग करता है। तथापि यदि सब लोग केवल उत्तरजीविता के पीछे ही पागल रहेंगे, तो इस 'वैर–भाव' या अनुकरण की भावना उत्पन्न होने का तो सवाल ही नहीं पैदा होता। अनुकरण का महत्व तो मूल जरूरतें पूरी होने के बाद ही सामने आता है।

वेब्लिन द्वारा अपना विरोधाभास व्यक्त करने के लिए इस्तेमाल किए गए शब्द, भेद का सुझाव प्रस्तुत करते हैं। जीविका और संरक्षण के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए उद्योग आवश्यक है, जबकि शोषण को वैर–भाव से मिलाया गया ताकि एक व्यक्ति पूरे समूह से अलग दिखाई दे। वेब्लिन का कहना है कि इस प्राचीन अंतर के तहत प्रशंसनीय अवसर वे हैं, जिन्हें शायद शोषण का नाम दिया जा सकता है। उनके द्वारा अपने इस दावे से संबंधित कोई प्रस्ताव नहीं पेश किया गया है, चाहे प्राचीन सभ्यताएं शांतिपूर्ण रही हैं, लेकिन बढ़ती आबादी के कारण जनसंख्या में वृद्धि होना तो तय है। ज्यादा लोग होने के कारण, लड़ाकू आदतें भी दिखाई देने लगती हैं। जीवन को चलता रखने के लिए शोषण जरूरी था और यही कारण था कि शोषण, काम करने का योग्य कारण बन गया। बाद की सभ्यताओं की सोच (जिसमें शोषण की वास्तविकता प्रशंसनीय मानी जाने लगी और जिस काम के लिए शोषण जरूरी नहीं था उसे दयनीय समझा जाने लगा) विस्तृत हुई और आगे चलकर वेब्लिन के समकालीनों की 'तुच्छ रोजगार' की सोच का आधार बनी। तुच्छ रोजगार में वे काम शामिल थे जिनके लिए शोषण की आवश्यकता नहीं थी। शोषण एक सचेत विकल्प है। इसके परिणामस्वरूप, जान–बूझ कर, अपमानजनक भेदों का आनंद लिया जाता है। ये भेद एक व्यक्ति की तुलना में दूसरे के पास अधिक सम्पत्ति होने का रूप लेते हैं। इस संदर्भ में, सम्पत्ति के साथ सबसे व्यापक अर्थों की श्रृंखला जुड़ी है।

वेब्लिन द्वारा आर्थिक बनाम औद्योगिक और शोषण बनाम उद्योग के जोड़े, आर्थिक एवं शोषण के बीच बंधन का ध्यान रखते हुए ही बनाए गए हैं। शोषक के स्थान पर आर्थिक शब्द इस्तेमाल करने के पीछे, वेब्लिन का शायद यह मतलब रहा होगा कि 'आर्थिक', शोषण का नकारात्मक अर्थ है। वेब्लिन द्वारा प्रस्तावित प्रत्यक्ष उपभोग और आराम वर्ग का विचार सामाजिक–सांस्कृतिक गतिशीलता में आर्थिक निहितार्थ का विश्लेषण करने के लिए बेहद उपयोगी है। इस प्रकार, उपभोग के सामाजिक महत्व को पहचानने वाले पहले समाजशास्त्री के उत्कृष्ट कार्य का श्रेय वेब्लिन को जाता है। इसका प्रभाव, सामाजिक स्तरीकरण की ठोस समझ के लिए भी उपयोगी है।

अपनी प्रगति जांचिए

5. थर्स्टिन वेब्लिन कौन थे?
   (क) समाजशास्त्री (ख) राजनीतिज्ञ
   (ग) अर्थशास्त्री (घ) इनमें से कोई नहीं
6. समाज पर तकनीक के प्रभाव का ब्यौरा देते हुए किसके द्वारा 'तकनीकी नियतिवाद' शब्द रचे गए?
   (क) वेबर (ख) मार्क्स
   (ग) दुर्खीम (घ) वेब्लिन

2.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (घ)
3. (क)
4. (ग)
5. (क)
6. (घ)

2.6 सारांश

मैक्स वेबर का जन्म 21 अप्रैल, 1864 को एरफर्ट, जर्मनी में एक मध्यम वर्गीय परिवार में हुआ था। माता–पिता के मतान्तर की वजह से उनके बौद्धिक रुझान और मनोवैज्ञानिक उत्थान पर गहरा असर पड़ा। उनके पिताजी उच्च पदस्थ नौकरशाह थे और उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक तंत्र में धीरे –धीरे अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली थी। राजनीति में अपने को स्थापित करने के लिए वे वैसे सभी कार्य करते थे, जिनमें निजी त्याग करना पड़ता था।

शुरू में उनपर अपने पिता की जीवनशैली के प्रति रुझान रहा। लेकिन कालान्तर में वे अपनी मां के प्रति आकृष्ट हुए। घर के विरोधाभासी वातावरण ने उनकी मानसिकता पर गहरा प्रभाव डाला। 18 वर्ष की अवस्था में थोड़ी अवधि के लिए वे घर से दूर हायडलबर्ग विश्वविद्यालय में पढ़ने गए। अपनी बौद्धिक परिपक्वता का परिचय उन्होंने दे दिया था। हालांकि हायडलबर्ग में वे शुरू में लोगों से मिलने में कतराते थे लेकिन जल्द ही उन्होंने अपने पिता के पुराने जानने वाले लोगों से मिलना–जुलना शुरू किया और स्थानीय बीयर बार में कुश्ती और अन्य सामयिक परिचर्चा में हिस्सा लेने लगे। हायडलबर्ग में तीन सत्र समाप्त कर वे सैन्य सेवा में चले गए। 1884 में वे अपने घर बर्लिन चले आए और बर्लिन विश्वविद्यालय में दाखिला लिया। अगले 8 सालों तक इस

विश्वविद्यालय में उन्होंने पढ़ाई की और पीएचडी की डिग्री ली। इस दौरान उनकी अभिरुचि अर्थशास्त्र, इतिहास और समाजशास्त्र में गहरी हो गयी। उन्होंने वकालत भी की और बर्लिन विश्वविद्यालय में पढ़ाने भी लगे। इन 8 सालों में वे आर्थिक रूप से अपने पिता पर निर्भर रहे।

वेबर की सत्ता की संरचना के संदर्भ में समाजशास्त्रीय अभिरुचि आंशिक रूप से राजनीतिक आधार से प्रेरित थी। वे कोई राजनीतिक परिवर्तकारी नहीं थे। वस्तुतः मार्क्स की बौद्धिक अभिरुचि से समानता होने एवं राजनीतिक बौद्धिकता में अंतर के कारण उन्हें बुर्जुआ मार्क्स कहा जाता था। वेबर आधुनिक पूंजीवाद के बारे में मार्क्स की भांति ही आलोचक थे लेकिन बड़े परिवर्तन की वकालत नहीं करते थे। वे समाज में धीमा बदलाव चाहते थे न कि अचानक हुआ बदलता। लोगों द्वारा समाज को परिवर्तित करने की क्षमता पर उन्हें कम विश्वास था।

वेबर का नौकरशाही सिद्धांत कार्यकुशलता का अनोखा प्रमाण है जिससे उनकी असाधारण बौद्धिक क्षमता का प्रमाण मिलता है। यह व्यवस्था विवेक पर आधारित है, जिसने सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और प्रशासनिक सभी क्षेत्रों में अपना योगदान दिया है। वास्तव में यह सिद्धांत देकर वेबर सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में अपने को विशेष स्थान दिलाने में समर्थ हो गये हैं।

कार्ल मार्क्स का जन्म 15 मई, 1818 को ट्रियर, पर्शिया में हुआ था। उनके पिता, जो एक वकील थे, उन्होंने अपने परिवार को एक ठेठ मध्यम वर्गीय परिवार का अस्तित्व प्रदान किया। उनके माता–पिता यहूदी परिवारों से थे, लेकिन व्यावसायिक कारणों से उनके पिता लुथर विचारों को मानने वालों में परिवर्तित हो गये थे।

मार्क्स ने 1841 में बर्लिन विश्वविद्यालय से दर्शन शास्त्र में डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की, जिस संस्था पर हेगेल का अत्यधिक प्रभाव था एवं युवा हेगेलियन, यद्यपि अपने गुरु के समर्थक थे, लेकिन आलोचक भी थे। मार्क्स का 'डॉक्टरेट' एक शुष्क दार्शनिक आलेख था, जो उनके बाद के मौलिकता एवं व्यावहारिकता से बहुत कम मेल खाता था। स्नातक की शिक्षा के बाद वह उदार–मौलिक विचार वाले अखबार के लेखक बन गए तथा दस माह के अंतराल में वे मुख्य संपादक बन गए।

मार्क्स के सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण मत है कि मानव जाति के एक बड़े अनुपात पर क्रूर गरीबी आरोपित किए बिना पूंजीवाद अस्तित्व में नहीं रह सकता है। इसमें बहुत जगह पर मार्क्स यह कहते हुए प्रतीत होते हैं कि पूंजीवाद का पतन अनिवार्य है। यह इस कारण से नहीं है कि पूंजीवाद में लोग अलग हो जाते हैं या अध्यात्मिक रूप से अपरिपूर्ण रह जाते हैं, बल्कि इस कारण कि एक सीमा के बाद पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत उत्तरजीविता के लिए आवश्यक आधारभूत परिस्थितियों के अभाव में श्रमिकों संख्या की आपूर्ति अपर्याप्त हो जाएगी।

मार्क्स की पूंजीवादी व्याख्या का एक मुख्य तत्व यह है कि यह श्रमिकों से सारा जीवन–तत्व का हरण कर विशेष तरीके से श्रम विभाजन को बढ़ाता है। मार्क्स बताते हैं कि आधुनिक पूंजीवादी विनिर्माण कार्य 'सामूहिक मजदूर' द्वारा किए जाते हैं, जिनकी

गतिविधियों को सावधानीपूर्वक तैयार किया जाता है तथा जो बहुत से पुरुषों, स्त्रियों एवं बच्चों के कार्यों का प्रतिफल हैं।

थर्स्टिन बुंडे वेब्लिन (1857–1929) एक अगुआ समजशास्त्री थे, जिनके लेखों को महान कार्य का दर्जा दिया जाता था। उन्होंने अर्थशास्त्र और उपभोक्ता व्यवहार में समाजशास्त्रीय वर्णनों के योगदान को प्रेरित किया। उन्होंने अमेरिकी उद्योगवाद की तीखी आलोचना की। उन्होंने जॉन केनेथ गालब्रेथ और सी. राइट मिल्स जैसे लोगों को विशेष रूप से प्रभावित किया।

वेब्लिन उपभोक्ता वस्तुओं को सामाजिक प्रमुखता, शक्ति, बल, प्रतिष्ठा और सम्मान के निर्माता के रूप में देखते थे। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि नया आराम वर्ग, यूरोप में उच्च वर्गों की जीवन शैली की नकल कर रहा है। जीवन शैली के अनुकरण से एक व्यक्ति की स्थिति को सामाजिक बढ़ावा मिलता है। निश्चित दावों की कमी की स्थिति में यह और भी हावी हो जाता है। यह सापेक्ष अभाव के क्षेत्र में खुद को प्रकट करता है। वेब्लिन द्वारा प्रस्तावित प्रत्यक्ष उपभोग और आराम वर्ग का विचार सामाजिक–सांस्कृतिक गतिशीलता में आर्थिक निहितार्थ का विश्लेषण करने के लिए बेहद उपयोगी है। इस प्रकार, उपभोग के सामाजिक महत्व को पहचानने वाले पहले समाजशास्त्री के उत्कृष्ट कार्य का श्रेय वेब्लिन को जाता है। इसका प्रभाव, सामाजिक स्तरीकरण की ठोस समझ के लिए भी उपयोगी है।

2.7 मुख्य शब्दावली

- **परिष्करण** : संशोधन।
- **विनष्ट** : विलुप्त।
- **प्रत्यायोजन** : अपनी शक्तियां दूसरे को सौंपना।
- **संप्रत्यय** : स्वीकृति।
- **निष्पन्न** : जिसकी उत्पत्ति हो चुकी हो।
- **पिपर्यय** : विपरीतता।
- **विप्लव** : विरोध।
- **अवदान** : उज्ज्वल कर्म।

2.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. माता–पिता के मतान्तर का वेबर पर क्या असर पड़ा?
2. 18 वर्ष की अवस्था में वेबर कहां पढ़ने गए?
3. मार्क्स ने कब और किस विश्वविद्यालय से डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की?
4. मार्क्स ने किस वजह से स्वयं को सक्रिय क्रान्तिकारी कार्यों से अलग कर लिया?
5. वेब्लिन के माता–पिता कहां के अप्रवासी थे?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. मैक्स वेबर के शक्ति के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
2. मैक्स वेबर के नौकरशाही सिद्धान्त पर प्रकाश डालिए तथा उसकी परिभाषाएं और विशेषताएं बताइए।
3. कार्ल मार्क्स के समाजशास्त्रीय चिंतन के प्रमुख बिंदुओं की विवेचना कीजिए।
4. कार्ल मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त पर प्रकाश डालिए।

2.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. आर.एन. मुखर्जी, 'समाज शास्त्रीय विचारों का इतिहास', विवेक प्रकाशन, दिल्ली।
2. मुखर्जी–अग्रवाल, 'प्रमुख समाज शास्त्रीय विचारक', शिवलाल अग्रवाल एण्ड संस, आगरा।
3. गुप्ता–शर्मा, 'प्रमुख समाज शास्त्रीय विचारक', साहित्य भवन, आगरा।
4. ध्रुव दीक्षित, 'प्रमुख समाज शास्त्रीय विचारक', शिवलाल अग्रवाल एण्ड संस, आगरा।
5. महाजन–महाजन, 'प्रमुख समाज शास्त्रीय विचारक', रामदास एण्ड सन्स, आगरा।
6. Yogendra Singh, 'Modernization of Indian Tradition'.
7. C.A. Coser, 'Masters of Sociological Thoughts'.
8. Raymond Aron, 'Main Currents in Sociological Thoughts', Vol. I & II.

टिप्पणी

इकाई 3 मर्टन, परेटो और पारसंस का समाजशास्त्रीय चिंतन

संरचना

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 आर.के. मर्टन का समाजशास्त्रीय चिंतन
3.2.1 प्रकार्यवाद का सिद्धांत और संदर्भ समूह
3.2.2 संदर्भ समूह
3.3 विल्फ्रेडो परेटो : अभिजात वर्ग का परिभ्रमण, अवशेष और व्युत्पन्न, तार्किक और गैरतार्किक कार्य
3.3.1 अभिजात वर्ग का परिभ्रमण
3.3.2 अवशेष और व्युत्पन्न
3.3.3 तार्किक और गैर–तार्किक कार्य
3.4 टॉलकॉट पारसंस का समाजशास्त्रीय चिंतन
3.4.1 सामाजिक क्रिया का सिद्धांत
3.4.2 सामाजिक व्यवस्था
3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.6 सारांश
3.7 मुख्य शब्दावली
3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

रॉबर्ट किंग मर्टन एक अमेरिकी समाजशास्त्री थे। उन्होंने ज्यादातर समय तक कोलंबिया विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया। वहां उन्होंने विश्वविद्यालय के प्रोफेसर का पद प्राप्त किया। वर्ष 1994 में उन्हें उनके योगदान के लिए राष्ट्रीय पदक से सम्मानित किया गया।

विल्फ्रेडो परेटो इटली के एक इंजीनियर, समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री, राजनीतिशास्त्री और दार्शनिक थे। इतिहास में विल्फ्रेड परेटो का नाम एक ऐसे विद्वान के रूप में दर्ज है जिसने अर्थशास्त्र को पहले गणितीय और वैज्ञानिक आधार देने की भूमिका निभाई और फिर उसे ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय अंतरदृष्टियों से संपन्न किया।

टॉलकॉट पारसंस शास्त्रीय परंपरा के एक अमेरिकी समाजशास्त्री थे। उन्हें उनके सामाजिक क्रिया सिद्धांत और संरचनात्मक कार्यात्मकता के लिए जाना जाता है। पारसंस को समाजशास्त्र की सबसे प्रभावशाली हस्तियों में शामिल किया जाता है।

इस इकाई में आर.के. मर्टन, विल्फ्रेडो परेटो व टॉलकॉट पारसंस के व्यक्तित्व एवं संरचनात्मक कार्यों की विवेचना करते हुए उनकी उपलब्धियों का अध्ययन किया गया है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

टिप्पणी

- मर्टन के समाजशास्त्रीय चिंतन से परिचित हो पाएंगे;
- प्रकार्यवाद के सिद्धांत और संदर्भ समूह से अवगत हो पाएंगे;
- प्रकार्यवाद की आलोचनाओं के बारे में जान पाएंगे;
- परेटो के अभिजात वर्ग के परिभ्रमण के बारे में समझ पाएंगे;
- पारसंस के समाजशास्त्रीय चिंतन से अवगत हो पाएंगे;
- सामाजिक क्रिया का सिद्धांत समझ पाएंगे;
- सामाजिक व्यवस्था के बारे में जान पाएंगे।

3.2 आर.के. मर्टन का समाजशास्त्रीय चिंतन

राबर्ट के. मर्टन को एक ऐसे प्रकार्यवादी विश्लेषक के रूप में देखा जाता है जो सदैव ही सामाजिक जीवन में निहित उद्देश्यों एवं अव्यक्त संबंधों से उत्पन्न समाजशास्त्रीय ज्ञान के प्रति उत्सुक रहे। उन्हें अमेरिकी समाजशास्त्र के सैद्धान्तिक विकास के प्रमुख प्रणेता के रूप में स्वीकार किया जाता है। वे पारसंस एवं सोरोकिन से प्रभावित रहे। पारसंस का प्रभाव विशेष रूप से उनकी कृतियों में पाया जाता है। यद्यपि पारसंस का प्रकार्यवादी दृष्टिकोण अत्यन्त वृहद रहा, तथापि अपने चिन्तन में वे पारसंस से अलग होते गए। उन्होंने प्रकार्यवादी विश्लेषण में अनेकानेक बदलाव एवं सुधार किए। उन्होंने पारसंस की सबको समाहित करने की प्रकार्यात्मक पद्धति का निषेध किया एवं ऐसे मध्यम मार्ग को स्वीकार किया जिसमें सीमित व्यावहारिक वस्तुस्थिति का विश्लेषण किया जा सके। इसके लिए मर्टन का तर्क यह था कि सामान्य रूप में समाजशास्त्रीय ज्ञान एवं सिद्धान्तों को समझने के लिए पारसंस का प्रयास अति महात्वाकांक्षी एवं अव्यावहारिक था।

मर्टन के अनुसार ऐसे सार्वभौमिक एवं सर्वव्यापी सिद्धान्त नितान्त अपरिपक्व होते हैं, क्योंकि इनकी पूर्ण समझ के लिए अपेक्षित सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक आधार कर्मों की पूर्ति असम्भव है। उन्होंने प्रकार्यवादी सामाजिक व्यवस्थाओं के साथ ही निष्क्रिय व्यवस्थाओं के अध्ययन पर भी बल दिया। और इस प्रकार पूर्व के कठोर प्रकार्यवादी दृष्टिकोणों का खण्डन किया। इस प्रकार मर्टन ने पारंपरिक प्रकार्यवादी सिद्धान्तों को नवीन दृष्टिकोण से समझने के लिए नए प्रतिमानों एवं विज्ञप्तियों को स्थापित किया। उन्होंने मेलिनोव्स्की (Melinowski) के इस सिद्धान्त पर भी वृहद चर्चा की कि प्रत्येक सामाजिक विषयवस्तु का कुछ सामाजिक कार्य होना ही चाहिए। मर्टन के अनुसार वर्तमान सन्दर्भ में मध्यम मार्गीय समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की अधिक आवश्यकता है, क्योंकि ऐसे सिद्धान्त न सिर्फ व्यवहारिक तथ्यों पर आधारित हैं अपितु साथ ही इनके प्रत्यय सुस्पष्ट एवं अधिक व्यवहारिक होते हैं।

टिप्पणी

3.2.1 प्रकार्यवाद का सिद्धांत और संदर्भ समूह

मर्टन के अनुसार प्रकार्यवाद का मूल उद्देश्य तथ्यों का विश्लेषण करके उन्हें वृहद संरचनाओं में आरोपित करना है। उनका प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण समाज के स्थिर स्वरूप से हटकर निरन्तर परिवर्तनशील समाज पर रहा। उनका प्रकार्यवाद कोण्ट एवं स्पेन्सर के पारंपरिक प्रकार्यवाद से पूर्णतया भिन्न रहा। साथ ही ब्राउन के सांस्कृतिक मानवशास्त्र एवं पारसंस के प्रकार्यवादी संरचनावाद से भी यह भिन्न रहा।

टैलकॉट पार्सन्स ने कहा है कि समाज की कुछ समस्याएं होती हैं, जिन्हें समाज के चलाने के लिए पूरा करना जरूरी है। इन्हें वे प्रकार्यात्मक समस्याएं भी कहते हैं। पार्सन्स ने इन्हें पूर्व आवश्यकताएं भी कहा है, यानी समाज को चलाने के लिए इन अवस्थाओं का होना जरूरी है। इनमें एक है अनुकूलन (Adaptation), अर्थात परिवेश से अपना एडजस्टमेंट करना, दूसरा है सुरक्षा, समृद्धि के लक्ष्यों को पूरा करना (Goal Attainment), तीसरा है एकीकरण (Integration) एवं चौथा है व्यक्तियों को जीवित रहने की दशा एवं तनावों को निश्चित सीमाओं में प्रबंधित करना, जिसे (Latency), कहा गया है। इन्हें पार्सन्स ने एजील (AGIL) मॉडल कहा है, जो चारों शब्दों के प्रथम अक्षरों को मिलाकर बनाया गया है। पार्सन्स ने कहा कि यदि हम यह जान लें कि कोई समाज अपनी समस्याओं का निराकरण किस प्रकार करता है, अर्थात जब उस समाज के ऊपर एजील मॉडल का प्रयोग करते हैं, तब उस समाज का सही चरित्र स्पष्ट हो जाता है।

टेलकॉट पार्सन्स के अनुसार संरचनाओं का स्तर भेद होता है। कुछ संरचनाएं अधिक महत्वपूर्ण होती हैं एवं कुछ कम महत्वपूर्ण होती हैं। पार्सन्स ने कहा कि राज्य, धर्म, परिवार आदि अधिक महत्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार कुछ सरचनाएं अपरिहार्य हैं, जिनके बिना समाज चल ही नहीं सकता है, जैसे– राज्य, परिवार इत्यादि। मर्टन ने इस विचार का विरोध किया। मर्टन के अनुसार सभी संरचनाएं बदलती हैं एवं समाप्त भी होती हैं। पार्सन्स ने संरचनात्मक सार्वभौम (Structural Universals) की अवधारणा दी। इनकी अवधारणा को प्रकार्यात्मक सार्वभौमिकता की अवधारणा भी कहते हैं।

आर.के. मर्टन (1910–2003) ने शास्त्रीय प्रकार्यवाद की काफी आलोचना की। वे स्वयं प्रकार्यवादी हैं। मर्टन ने अपने समय के प्रकार्यवाद की जो आलोचना की है, उसके तीन प्रमुख बिंदु हैं– (क) सभी संरचनाओं के प्रकार्य नहीं होते हैं, अर्थात प्रकार्यत्मक सार्वभौमिकता की धारणा सही नहीं है, (ख) समाज में प्रकार्य के आधार पर एकता नहीं होती है, अर्थात प्रकार्यत्मक एकता की मान्यता सही नहीं है, तथा (ग) कोई भी संरचना समाज में अपरिहार्य नहीं है। सभी परिवर्तित होते हैं एवं समाज में अपरिहार्य नहीं है। सभी परिवर्तित होते हैं एवं समाप्त हो सकते हैं।

मर्टन ने प्रकार्य के अलग रूपों एवं प्रकारों की चर्चा की है। प्रकार्य का अर्थ है संरचना का वह परिणाम जो समाज व्यवस्था को एकजुट रखता है। जब लोग प्रकार्य के बारे में जानते हैं और उसकी अपेक्षा करते हैं तब उसे प्रकट प्रकार्य कहा जाता है। जब लोग प्रकार्य के बारे में नहीं जानते हैं और उसकी अपेक्षा नहीं करते हैं, तब उसे अप्रकट प्रकार्य कहा जाता है। जैसे– गणतंत्र दिवस की परेड से लोगों का मनोबल बढ़ता है। यह सभी जानते हैं। यह प्रकट प्रकार्य है। उत्सव एवं त्योहार में सांस्कृतिक कार्यक्रमों से सामाजिक एकता भी उत्पन्न होती है, यह लोग नहीं जानते हैं। वह अप्रकट प्रकार्य का उदाहरण है। प्रकार्य की अवधारणा सर्वप्रथम एमिल डर्कहम ने दी थी।

टिप्पणी

मर्टन ने दुष्प्रकार्य (Dysfunction) की अवधारणा की विस्तार से चर्चा की। दुष्प्रकार्य का अर्थ है संरचना का ऐसा परिणाम जिससे समाज टूटता हो, समाज का जीवन बाधित होता हो तथा समाज का संतुलन बिगड़ता हो। मर्टन ने कहा है कि दुष्प्रकार्य भी प्रकट या अप्रकट होते हैं। उत्तर भारत में होली के समय लोग अक्सर झगड़ जाते हैं। रंग में भंग हो जाता है। यह प्रकट दुष्प्रकार्य है। धार्मिक उत्सव में मृत्यु की आशंका नहीं होती है। लेकिन, कभी–कभी ऐसा हो भी जाता है। यह अप्रकट दुष्प्रकार्य है। मर्टन ने संभवतः प्रकट एवं अप्रकट के इस भेद को सिगमंड फ्रॉयड से अपनाया था। मर्टन ने अप्रकार्य (Non-function) की भी अवधारणा दी है। इसका अर्थ है संरचना का ऐसा परिणाम जिससे संरचना न तो जुड़ती है और न टूटती है।

प्रकार्यात्मक सिद्धान्त की अवधारणा

मर्टन ने प्रकार्यात्मक सिद्धान्त को तीन अवधारणाओं के रूप में स्थापित किया–

1. प्रकार्यात्मक एकता

यह अवधारणा इस मान्यता पर आधारित थी कि सम्पूर्ण सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था एक विशिष्ट सामाजिक क्रिया का प्रयोग करती है। किन्तु ऐसा तभी सम्भव है जब कि हम पूर्णतया समायोजित तत्वों से युक्त एक समान सजातीय सामाजिक व्यवस्था की बात करें। किन्तु विभिन्न व्यवस्थाओं के व्यवहारिक तत्व निरन्तर बदलते रहते हैं। यही नहीं अपितु एक ही व्यवस्था के तत्व भी समय के साथ बदलते रहते हैं। अतः यह मान्यता कि प्रत्येक मानव समाज में किस सीमा तक एकात्मकता पायी जायेगी स्वयं में एक संदेहास्पद प्रश्न है। मर्टन के अनुसार ऐसी एकात्मकता की सीमा का सत्यापन व्यवहारिक रूप में ही सम्भव है। अतः किसी भी सामाजिक व्यवस्था में प्रकार्यात्मक एकता का स्तर वस्तुतः व्यवहारिक सत्यापन की विषयवस्तु है।

2. सार्वभौमिक प्रकार्यवाद

इसके अनुसार प्रत्येक सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रसंग किसी निश्चित सामाजिक प्रकार्य के लिए ही बने होते हैं। अतः समाज की छवि में किसी अप्रासंगिक एवं अनावश्यक तत्वों का पाया जाना असंभव है। किन्तु मर्टन के अनुसार एक वास्तविक समाज का निष्पक्ष अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि व्यवहारिक सत्यापन की अनेक सीमाएं फिर भी बनी रहती हैं।

3. प्रकार्यों की अपरिहार्यता

मानवशास्त्रियों का यह तर्क है कि यदि कोई सामाजिक, धार्मिक अथवा सांस्कृतिक रीति–रिवाज किसी समाज में विद्यमान है तो इसका अर्थ यह है कि उनके बिना समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती। मर्टन इस दृष्टिकोण का भी विरोध करते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार विविध प्रकार्यों की पूर्ति एक ही तत्व से संभव है उसी प्रकार एक ही तत्व अनेकानेक प्रकार्यों की पूर्ति भी कर सकता है।

मध्यस्तरीय सिद्धान्त

समकालीन युग के समाजशास्त्र के लिए सर्वोत्तम सैद्धान्तिक उद्देश्य के रूप में मर्टन ने मध्यस्तरीय सिद्धान्त की स्थापना की। उनके अनुसार समाजशास्त्रीय सिद्धान्त प्रतिज्ञप्तियों की ऐसी तार्किक रूप से सुसम्बन्धित व्यवस्था है जिससे व्यवहारिक एकता

स्थापित की जा सकती है। मर्टन के अनुसार मध्य स्तरीय सिद्धान्त ऐसे सिद्धान्त हैं जो बहुतायत में उपलब्ध निम्न किंतु अनिवार्य परिकल्पनाओं तथा सार्वभौमिक एकात्मक सिद्धान्त के मध्य में व्यवस्थित होते हैं। इनका उपयोग सामान्यतः व्यावहारिक अन्वेषण के लिए किया जाता है। इसके उदाहरण सन्दर्भ समूह का सिद्धान्त, सापेक्ष अभाव का सिद्धान्त एवं भूमिका निर्धारण का सिद्धान्त इत्यादि हैं। देखा जाए तो ये सभी सिद्धान्त समाजशास्त्र के किसी भी सार्वभौमिक सिद्धान्त से पूर्णतः भिन्न हैं। मर्टन ने अपने दृष्टिकोण के समर्थन में चिन्तन के इतिहास की महानतम विभूतियों जैसे कि प्लेटो, बेकन एवं मिल का सहारा लिया है। साथ ही किन्स, जिन्सबर्ग मैनहाइम एवं सोरोकिन जैसे समाजशास्त्रीय मर्टन के मध्यस्तरीय सिद्धान्तों का समर्थन करते हैं।

मध्यस्तरीय सिद्धान्त में सारांश एवं पुनर्चिन्तन, सिद्धान्तों को संहिताबद्ध करने एवं प्रतिमानों के विवेचन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

प्रकट एवं प्रच्छन्न प्रकार्य

पारसंस के ही समान मर्टन ने भी संरचना प्रकार्यवाद को प्रकार्यात्मक विश्लेषण में परिवर्तित कर दिया एवं इस प्रकार न केवल प्रकार्यात्मक विश्लेषण को प्रधान पटल पर स्थापित किया अपितु इसे प्रामाणिक–सैद्धान्तिक स्तर पर भी ला दिया। मर्टन के अनुसार सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की कुछ समान सामाजिक क्रियाएं होती हैं– ये सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रकार्य समस्त सामाजिक कार्यों की पूर्ति करते हैं एवं इन्हें नकारा नहीं जा सकता।

अपनी प्रथम मान्यता में मर्टन किंग्सले डेविस एवं विलवर्ट मूस की आलोचना करते हुए कहते हैं कि इन चिन्तकों ने समाज में धर्म की एकीकरण की भूमिका को आवश्यकता से अधिक महत्व प्रदान किया है। मर्टन के अनुसार मानव समाज के वास्तविक इतिहास में धर्म के विभाजन करने के कार्य को समुचित रूप से प्रदर्शित नहीं किया गया। निरक्षर समाजों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि परिवर्तनहीन परम्पराओं, सिद्धान्तों एवं रिति–रिवाजों के निर्वाह के कारण ही ऐसे दोष उत्पन्न होते हैं। साथ ही मर्टन का यह मानना है कि ऐसे तत्वों की प्रकार्यात्मक अनिवार्यता को समाज में अन्य प्रकार्यात्मक विकल्पों की खोज करके समाप्त किया जा सकता है। मर्टन के अनुसार, प्रायः समाजशास्त्री हमारी सचेतन अभिप्रेरणाओं तथा हमारे व्यवहार के वस्तुनिष्ठ परिणामों को एक ही मान लेते हैं, जिससे असमंजस उत्पन्न होता है। इस संदर्भ में मर्टन प्रकट एवं प्रच्छन्न प्रकार्य (Manifest & latent Functions) में स्पष्ट विभेद करते हैं। प्रत्येक विशिष्ट इकाई जैसे कि व्यक्ति, उपसमूह, सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था के कुछ निरपेक्ष परिणाम होते हैं। ये परिणाम ऐसी इकाई का वातावरण के साथ समायोजन स्थापित करते हैं एवं इन्हें ही प्रकट प्रकार्य कहा जाता है। दूसरी तरफ प्रच्छन्न कार्य ऐसे अप्रत्याशित एवं अमान्य परिणाम होते हैं जिन्हें व्यवस्था ने निर्दिष्ट नहीं किया होता। मर्टन का आरोप है कि सभी समाजशास्त्री इस विभेद को जानते हैं किन्तु कभी इस पर गम्भीर चिन्तन नहीं करते।

विसंगति का सिद्धान्त

एक प्रकार्यवादी के दृष्टिकोण से मर्टन ने अपने प्रपत्र (Social Structure & ANOMIE 1938) में यह माना कि सत्यापन ही नहीं अपितु विचलन भी सामाजिक संरचनाओं का

टिप्पणी

विशेष हिस्सा होते हैं। दुर्खीम एवं फ्रायड की तरह व्यक्ति को सामाजिक संरचना का विरोधी मानने की जगह मर्टन ने यह प्रदर्शित किया कि प्रत्येक संरचना की एक सक्रिय भूमिका होती है एवं यह ऐसी अभिप्रेरणाएं उत्पन्न कर सकता है जो ज्ञान से प्राप्त नहीं हो सकतीं। अतः ऐसा अभिप्रेरक व्यवहार जो असामाजिक व्यक्तित्व से नहीं अपितु सामान्य सामाजिक संरचनाओं से उत्पन्न हो, 'विचलन' कहा जाता है। इस प्रकार मर्टन ने प्रकार्यात्मक विश्लेषण को सामाजिक संरचना के अध्ययन से हटकर सामाजिक परिवर्तन की ओर मोड़ दिया।

मर्टन का मूल उद्देश्य यह जानना है कि किस प्रकार कुछ विशिष्ट सामाजिक संरचनाएं व्यक्तियों को स्वीकार्य ही नहीं अपितु अस्वीकार्य आचरण के लिए भी प्रेरित करती हैं। इस संदर्भ में वे समाज के सांस्कृतिक लक्ष्यों एवं संस्थागत नियमों में विभेद करते हैं। तकनीकी रूप से प्रभावी साधनों एवं सांस्कृतिक रूप से वैध साधनों में भेद होता है। ऐसा समाज स्थायी होता है जिसमें ये दोनों ही अनुरूप हों। किन्तु यदि दोनों में अनुरूपता न हो तो समाज अस्थायी हो जाता है एवं सिंगति की स्थिति बन जाती है।

किसी भी क्रियाशील समाजशास्त्रीय सिद्धान्त में प्रकार्यवादी मूल्य तभी स्थापित हो सकते हैं, जब समाज के समस्त सदस्यों के मूल्य समान हों। चूंकि सामाजिक व्यवस्था में कर्ताओं की स्थिति भिन्न होती है अतः स्वाभाविक है कि उनकी वर्गीय स्थिति भी भिन्न होगी। ऐसे में विविध रूप से अवस्थित कर्ताओं के मूल्य भी समान नहीं हो सकते। उन्होंने अमरीकन समाज को अपने अध्ययन का केंद्र बनाते हुए यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया कि यद्यपि प्रत्येक अमरीकी के मूल्य समान होते हैं, किन्तु उनकी उपलब्धियां भिन्न होती हैं। ऐसे अमरीकी समाज में भौतिक सम्पत्ति ही सफलता का एकमात्र मापक होती है। अमरीका में शैक्षिक योग्यता से उत्पन्न योग्यता, श्रम, संकल्प को सफलता प्राप्त करने का आदर्श मापदण्ड माना जाता है। तथापि यह एक असंतुलित समाज है, क्योंकि यहां सांस्कृतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कोई भी मूल्य स्थापित नहीं किए गए। अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए लोग नियमों को बदल लेते हैं। ऐसे में जब लोग नियमों का उचित रूप में पालन नहीं करते, तो 'विसंगति' की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस विसंगति की स्थिति में अमरीकी पांच अलग तरीकों से अपनी प्रतिक्रिया देते हैं। इस संदर्भ में आर. के. मर्टन ने निम्नलिखित रूप में 'व्यक्तिगत अनुकूलन के प्रकार' (Typology of Individual Adaptatics) निर्धारित किए–

क्रम सं.	अनुकूलन के तरीके	सांस्कृतिक लक्ष्य (साध्य)	संस्थागत साधन
1.	अनुरूपता	+	–
2.	नवाचार	+	–
3.	विधिवाद	–	+
4.	वापसी	–	–
5.	विद्रोह	±	±

स्मरण रहे कि यह विभाजन व्यवहार के संदर्भ में है, व्यक्तित्व के संदर्भ में नहीं। क्योंकि एक ही व्यक्ति भिन्न परिस्थितियों में अनुकूलन के भिन्न तरीकों का प्रयोग कर सकता है।

1. इनमें से 'अनुरूपता' सबसे सामान्य किन्तु सबसे अधिक बिखरा हुआ तरीका है, जिससे अनुकूलन स्थापित किया जा सकता है। इसके अभाव में समाज अस्थिर हो जाता है। यह स्वीकार्य साधनों के प्रयोग से सफलता प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त होता है।
2. दूसरा 'नवाचार' नियामक साधनों को त्यागकर असंगत साधनों के माध्यम से सफलता प्राप्त करने का प्रयास करता है। इसका उपयुक्त उदाहरण 'अपराध' है। मर्टन के अनुसार, समाज के निम्नस्तर पर सफलता प्राप्त करने के लिए इसका सर्वाधिक उपयोग किया जाता है। यह वह स्तर है जहां पारंपरिक तरीकों से सफलता प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है एवं इस स्तर पर अत्यधिक दबाव बना रहता है।
3. तीसरी प्रतिक्रिया को मर्टन 'विधिवाद' कहते हैं। ऐसा तब होता है जब कोई व्यक्ति आर्थिक सफलता की की 'चूहा–दौड़ से तो बाहर निकल जाता है, किन्तु सामाजिक नियमों के अनुसार चलता रहता है। ऐसा प्रायः निम्न–मध्य वर्ग में पाया जाता है और यही वर्ग विधिवाद का सर्वाधिक पालन करता है।
4. मर्टन के अनुसार चौथा एवं सबसे कम प्रचलित तरीका 'वापसी' है। इसमें लक्ष्य और नियमों की अवहेलना कर दी जाती है। इस तरीके का अनुसरण प्रायः असामाजिक व्यक्ति ही करते हैं, जैसे कि मनोरोगी, परित्यक्त, अनाथ, खानाबदोश, शराबी इत्यादि।
5. पांचवां एवं अन्तिम तरीका 'विद्रोह' का होता है। इसमें पुरातन संरचना के लक्ष्य एवं नियमों का परित्याग करके नवीन लक्ष्य एवं नियमों को स्वीकार कर लिया जाता है एवं उन्हीं के अनुसार कार्य किया जाता है। ऐसे व्यक्ति जो नवीन समाज का निर्माण करने की अभिलाषा रखते हैं, वे ही इस तरीके को अपनाते हैं। उदाहरण के लिए, पश्चिमी यूरोप में 'गुरिल्ला लड़ाके' अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ऐसे तरीके का सहारा लेते हैं।

मर्टन के अनुसार प्रायः समाज के निम्न वर्ग ही ऐसे विसंगत तरीकों का सहारा लेते हैं, जबकि उच्च वर्ग ऐसे तरीकों से बचते हैं एवं विधिक–सर्वस्वीकार्य नियमों से ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयास करते हैं।

इस प्रकार मर्टन प्रदर्शित करते हैं कि समाज के स्थापित संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक नियम ही विसंगति को भी जन्म देते हैं। अतः मर्टन विसंगति के लिए व्यक्ति को नहीं, अपितु समाज को ही उत्तरदायी ठहराते हैं।

प्रकार्यवाद की आलोचनाएं

संरचना प्रकार्यवाद की एक प्रमुख आलोचना यह है कि यह सिद्धान्त भ्रामक एवं अस्पष्ट है। सामाजिक व्यवस्था की वास्तविक संरचना एवं भूमिका क्या है? इसके अवयव एक–दूसरे से एवं वृहद सामाजिक व्यवस्था से किस प्रकार संबंध स्थापित करते हैं? इनके कार्य भी अस्पष्ट हैं। ये अमूर्त सामाजिक व्यवस्था की चर्चा तो करते हैं, किन्तु

वास्तविक समाज की नहीं। इसी प्रकार एबर्ले एवं उनके सहकर्मियों (1950 / 1967) के द्वारा दिया गया 'प्रकार्यवादी पूर्वापेक्षाओं' का सिद्धान्त वास्तविक समाज पर नहीं, अपितु उच्च स्तर के अमूर्तिकरण पर आधारित है।

टिप्पणी

एक अन्य आलोचना यह भी है कि यद्यपि कोई भी एक वृहद सिद्धान्त सभी प्रकार के समाजों के विश्लेषण के लिए ऐतिहासिक रूप से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता (मिल्स, 1959) तथापि तकरीबन सभी संरचना प्रकार्यवादी इस मान्यता से प्रेरित रहे कि मात्र एक सिद्धान्त अथवा वैचारिक वर्गों की एक व्यवस्था ही समस्त समाजों के विश्लेषण के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार के वृहद सिद्धान्तों में आस्था पारसंस की विभिन्न कृतियों में, एबर्ले एवं उनके सहकर्मियों (1950–67) की प्रकार्यवादी पूर्वापेक्षाओं में तथा डेविस मूर (1945) के स्तरीकरण के सिद्धान्त में स्पष्टतः परिलक्षित होती है। अनेक आलोचकों ने इस वृहद सिद्धान्त को एक भ्रम माना है। इन आलोचकों के अनुसार विद्यमान विकल्पों में से सर्वाधिक उपयुक्त एवं अधिकतम रूप से ऐतिहासिक सन्दर्भों से युक्त सिद्धान्त सम्भवतः मर्टन का मध्यस्तरीय सिद्धान्त (1968) ही है।

एक और पद्धतिमूलक आलोचना यह है कि क्या ऐसे अध्ययन के लिए पर्याप्त पद्धतियां उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए, पर्सी कोहेन (1968) ने ऐसे उपकरणों पर विचार किया जिनके द्वारा किसी एक अवयव के समग्र व्यवस्था पर प्रभाव का मापदण्ड स्थापित किया जा सके। एक अन्य आलोचना यह भी है कि संरचना प्रकार्यवाद में तुलनात्मक अध्ययन करना अत्यन्त कठिन है। यदि यह माना जाए कि किसी भी अवयव की सार्थकता उस विशेष सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में ही स्थापित कर सकते हैं, तो हम उसकी तुलना अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं के अवयवों से भला कैसे कर सकते हैं? कोहेन के अनुसार, "यदि एक अंग्रेज परिवार की सार्थकता अंग्रेज समाज के संदर्भ में ही पायी जाती है, तो ऐसे में हम फ्रांसीसी परिवार के साथ उसकी तुलना भला कैसे कर सकते हैं?

एक अन्य आलोचना यह भी है कि तर्कशास्त्रीय रूप से यह सिद्धांत मात्र एक पुनरुक्ति है। स्मरण रहे कि पुनरुक्ति कथन वे होते हैं जिनका निष्कर्ष उनके आधार वाक्यों में ही छिपा होता है, अर्थात ये मात्र दिए गए आधारवाक्य पर पुनर्कथन देते हैं। समग्र व्यवस्था को अवयवों के माध्यम से एवं अवयवों को समग्र व्यवस्था के माध्यम से परिभाषित कर संरचना प्रकार्यवादी ऐसे ही चक्रक तार्किक दोष को उत्पन्न करता है। इस प्रकार तो समग्रता अथवा आंशिकता किसी की भी परिभाषा संभव ही न हो पायेगी।

3.2.2 संदर्भ समूह

संदर्भ समूह का प्रयोग सबसे पहले हर्बर्ट हाइमन (Herbert Hyman) ने 1942 में किया था। इसका उपयोग उन्होंने स्कूल के बच्चों के एक अध्ययन के संदर्भ में किया था। इस अध्ययन में उन्होंने पाया कि निम्नवर्ग से आने वाले बच्चों का व्यवहार उच्चवर्ग से आने वाले बच्चों से मिलता–जुलता था। निम्नवर्ग के बच्चे अपने समूह के अनुरूप व्यवहार नहीं करके एक ऐसे समूह के अनुरूप व्यवहार कर रहे थे, जिसके वे स्वयं सदस्य नहीं थे। हाइमन के अनुसार उच्चवर्ग वाले बच्चों का समूह निम्नवर्ग के बच्चों के लिए संदर्भ समूह का कार्य कर रहा था। हाइमन के शब्दों में निम्नवर्ग के बच्चों के लिए उच्चवर्ग संदर्भ समूह हुआ।

टिप्पणी

संदर्भ समूह की अवधारणा

'संदर्भ समूह' की अवधारणा को परिभाषित करते हुए श्री एवं श्रीमती शेरिफ ने कहा है कि– "संदर्भ समूह वे समूह हैं जिनसे व्यक्ति अपने आपको उनके एक अंग के रूप में जोड़ लेता है अथवा मनोवैज्ञानिक रूप से वह उनसे जुड़ने की इच्छा रखता है" अर्थात किसी व्यक्ति का संदर्भ समूह वे समस्त समूह हैं, जिसका कि वह अपने–आपको हिस्सा मानता है या जिसके साथ वह अपने को मानसिक रूप से जोड़ता है एवं जिन समूहों की सदस्यता की चाह उसमें होती है। इस परिभाषा के अनुसार ही ऊपर दिये गए उदाहरण में उस निम्न आर्थिक वर्ग के लड़के के लिए उच्च आर्थिक वर्ग एक संदर्भ समूह कहलाता है।

जॉनसन ने संदर्भ को परिभाषित करते हुए इसकी दो–तीन ऐसी महत्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख किया है, जिनकी चर्चा श्री एवं श्रीमती शेरिफ के द्वारा दी गयी परिभाषा में नहीं की गयी है। जॉनसन (1983; 39) के ही शब्दों में, "कोई भी समूह एक व्यक्ति के लिए संदर्भ समूह हो सकता है– वह समूह जिसका वह सदस्य है या जिसका वह सदस्य नहीं है; एक अंतःक्रिया समूह, स्थिति समूह या एक समूह, जिसके सदस्य दूसरों पर अपने प्रभावों के बारे में जानते हैं या ऐसे समूह भी जिसके सदस्यों को इस बात की जानकारी नहीं है; या एक सांख्यिकीय समूह; एक वास्तविक समूह या यहां तक कि एक काल्पनिक समूह भी।"

इस परिभाषा से दो बातें बिलकुल स्पष्ट होती हैं। प्रथम तो यह कि संदर्भ–समूह से हमारा तात्पर्य सिर्फ किसी व्यक्ति के गैर–सदस्यता समूह से नहीं है, बल्कि व्यक्ति के सदस्यता समूह से है। वह भी उसका संदर्भ–समूह हो सकता है। दूसरी बात यह है कि कभी–कभी वास्तविक समूह के अतिरिक्त कोई काल्पनिक समूह भी संदर्भ समूह हो सकता है। उदाहरणस्वरूप, मार्क्स की वर्गहीन समाज की अवधारणा एक काल्पनिक समाज की अवधारणा है। एक कट्टर मार्क्सवादी के लिए यह वर्गहीन समाज की अवधारणा जीवन का लक्ष्य हो सकता है।

संदर्भ समूह की अवधारणा से संबंधित निम्न तथ्यों की चर्चा की जा सकती है–

1. किसी व्यक्ति के लिए कोई भी समूह, चाहे वह उसका सदस्यता समूह हो या गैर–सदस्यता समूह, संदर्भ समूह बन सकता है। कभी–कभी कोई व्यक्ति भी संदर्भ व्यक्ति हो सकता है।
2. किसी समूह या व्यक्ति को संदर्भ समूह या संदर्भ व्यक्ति कहे जाने के लिए सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वह समूह उस व्यक्ति विशेष के लिए कोई संदर्भ फ्रेम (Frame of Reference) अवश्य प्रदान करे, जिसके आधार पर व्यक्ति अपना या दूसरों का मूल्यांकन कर सके।
3. एक काल्पनिक समूह भी किसी व्यक्ति के संदर्भ समूह बन सकता है।
4. संदर्भ समूह के प्रभावों के आधार पर उसे सकारात्मक या नकारात्मक संदर्भ समूह कहा जा सकता है।
5. जिस प्रकार एक समूह के विभिन्न सदस्यों का संदर्भ समूह भिन्न–भिन्न हो सकता है, उसी प्रकार विभिन्न समूहों का संदर्भ समूह कभी–कभी एक भी हो सकता है।

6. व्यक्तियों के जीवन में संदर्भ समूह स्थिर नहीं होता है, बल्कि उसकी स्थिति, रुचि, मनोवृत्ति आदि में परिवर्तन के साथ–साथ व्यक्ति के संदर्भ समूह में भी परिवर्तन होता है।

टिप्पणी

संदर्भ समूह के प्रकार

संदर्भ समूह निम्नलिखित प्रकार के हो सकते हैं–

1. **सकारात्मक एवं नकारात्मक संदर्भ समूह** (Positive and Negative Reference Groups): प्रसिद्ध अमेरिकी सामाजिक मनोवैज्ञानिक न्यूकॉम (T. Newcomb) ने संदर्भ समूह सिद्धांत के क्षेत्र में सकारात्मक एवं नकारात्मक संदर्भ समूह जैसी अवधारणाओं का प्रतिपादित कर इस सिद्धांत को औरभी समृद्ध बनाया है। संक्षेप में, किसी व्यक्ति का सकारात्मक संदर्भ समूह (Positive Reference Group) वह समूह है, जिसके प्रचलित नियम, कानून, मूल्य आदि को वह सही मानता है और उसके अनुरूप अपने व्यक्तित्व को ढालने की कोशिश करता है। दूसरी ओर नकारात्मक संदर्भ समूह (Negative Reference Group) किसी व्यक्ति के लिए वह संदर्भ समूह है, जिसके प्रचलित नियम, कानून एवं मूल्य को वह न सिर्फ अस्वीकार करता है, बल्कि प्रायः उस समूह के प्रचलित नियम एवं मूल्यों के विपरीत नियम तथा मूल्यों को स्वयं मानता है या अपने समूह में उसको प्रचारित करता है।

   प्रजातीय अंतःसंबंधों (Racial Inter-relation) के अध्ययन के क्रम में न्यूकॉम ने कहा है कि अमेरिका में गोरे लोगों की सामाजिक स्थिति काले (The Negro) लोगों की अपेक्षा ऊंची होती है। परिणामस्वरूप, नीग्रो लोग अचेतन रूप से गोरे लोगों के मूल्यों को अपनाना चाहते हैं और इसीलिए नीग्रो लोग अपने बच्चों का समाजीकरण गोरे लोगों की तरह ही करते हैं। अतः गोरे लोगों के सामाजिक मूल्य नीग्रो के लिए सकारात्मक संदर्भ समूह का कार्य करते हैं। इसके विपरीत, गोरे व्यक्ति नीग्रो से एक प्रकार की सामाजिक दूरी बनाये रखना चाहते हैं और नीग्रो को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। ऐसी स्थिति में नीग्रो गोरे व्यक्तियों के लिए नकारात्मक संदर्भ समूह का कार्य करते हैं।

2. **परस्पर विरोधी और एक–दूसरे के पूरक संदर्भ समूह** (Conflicting Refrence Group and Mutually Sustaning Reference Group): मर्टन ने परस्पर विरोधी संदर्भ समूह और एक–दूसरे के पूरक संदर्भ समूह की चर्चा की है। कभी–कभी हम अपनी अभिलाषाओं आदि के प्रभाव में आकर कुछ ऐसे संदर्भ समूहों की ओर आकृष्ट होते हैं, जो आपस में विरोधी होते हैं। इसके विपरीत कुछ संदर्भ समूह व्यक्ति के लिए आपस में पूरक के रूप में कार्य करते हैं। समान आयु–समूह और समान सामाजिक–आर्थिक स्थिति वाले समूह संदर्भ समूह के रूप में एक–दूसरे के पूरक होते हैं।

3. **तुलनात्मक एवं मानवीय संदर्भ–समूह** (Comparative and Normative Reference Group): तुलनात्मक संदर्भ समूह उन समूहों को कहते हैं, जिनसे हम अपने समूह की तुलना करते हैं और तब यह निष्कर्ष निकालते हैं कि हमारे समूह में कौन–सा मूल्य ऐसा है, जो अन्य समूहों की तुलना करते हैं और तब यह

निष्कर्ष निकालते हैं कि हमारे समूह में कौन–सा मूल्य ऐसा है, जो अन्य समूहों में है। मानवीय संदर्भ समूह उन समूहों को कहते हैं, जिनके मानदंडों एवं मूल्यों को हम आदर्श कानते हैं एवं यह समझते हैं कि हमें इन्हें अपनाना चाहिए।

टिप्पणी

संदर्भ समूह के चयन में अनेक तथ्यों का समावेश होता है। एक व्यक्ति इन तथ्यों को ध्यान में रखकर ही संदर्भ समूह का चुनाव करता है। मर्टन ने निम्नलिखित तथ्यों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है–

- समूह की प्रकृति खुली है या बंद।
- स्तरण की प्रकृति।
- समूह के नियमों से विचलित व्यवहार के प्रति सहनशीलता और उन नियमों के प्रति अपेक्षित समरूपता।
- सदस्य किस सीमा तक अपने आपको समूह के साथ संबद्ध रखते हैं।
- समूह का तुलनात्मक शक्ति।
- तुलनात्मक रूप से समूह की कितनी प्रतिष्ठा है।
- समूह के स्थायित्व की संभावना।
- सामाजिक नियंत्रण के अभिकरण की प्रकृति कैसी है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. मर्टन ने प्रकार्यवाद के सिद्धांत को कितनी अवधारणाओं के रूप में स्थापित किया?

   (क) तीन (ख) चार

   (ग) पांच (घ) छह

2. मर्टन विसंगति के लिए किसे उत्तरदायी ठहराते हैं?

   (क) व्यक्ति को (ख) समाज को

   (ग) धर्म को (घ) सरकार को

3.3 विल्फ्रेडो परेटो : अभिजात वर्ग का परिभ्रमण, अवशेष और व्युत्पन्न, तार्किक और गैरतार्किक कार्य

परेटो द्वारा दिए गए अभिजात वर्ग के परिभ्रमण की अवधारणा क्या है और यह कैसे काम करती है इसका अध्ययन हम आगे करेंगे–

3.3.1 अभिजात वर्ग का परिभ्रमण

अभिजात वर्ग का परिभ्रमण शासन परिवर्तन का एक सिद्धांत है। यह सिद्धांत परेटो द्वारा प्रस्तुत किया गया था और अब तक उनके समाजशास्त्र की सबसे दिलचस्प अवधारणाओं में से एक है। परेटो के अनुसार, शासन परिवर्तन या क्रांति तब हुई जब एक अभिजात वर्ग को दूसरे द्वारा प्रतिस्थापित किया गया था, न कि जब शासकों को उखाड़ फेंका

टिप्पणी

गया था। परेटो का मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति अलग–अलग क्षमताओं के साथ पैदा हुआ है और इसलिए अलग–अलग अवधारणाओं, कौषल, अभिरुचि और दृष्टिकोण प्राप्त करता है। परेटो के अनुसार, वर्ग हर समाज में मौजूद थे और इसलिए प्रत्येक समाज विशम था। परेटो का यह भी मानना था कि समाज में विषमता नैतिक, मानसिक, शारीरिक और सांस्कृतिक कारणों से होती है। समाज में सामाजिक संतुलन और संगठन बनाए रखने के लिए समाज में विषमता महत्वपूर्ण थी। परेटो का यह भी मानना था कि लोग बौद्धिक और नैतिक रूप से भी अलग थे। उनका मानना था कि कुछ लोगों में दूसरों की तुलना में अधिक क्षमता थी और जो समूह में सबसे अधिक सक्षम थे उन्हें अभिजात वर्ग कहा जाता था। परेटो अभिजात वर्ग को 'उनकी गतिविधि की शाखा में उच्चतम सूचकांक वाले लोगों के एक वर्ग' के रूप में परिभाषित करता है। परेटो के अनुसार अभिजात वर्ग के उदाहरण सफल व्यवसायी, प्रोफेसर, कलाकार और सफल लेखक हैं। परेटो ने लोगों के अभिजात वर्ग को दो व्यापक श्रेणियों में विभाजित किया। ये थे–

- शासक अभिजात वर्ग एक ऐसा व्यक्ति था जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सरकार और इसके कामकाज में कुछ महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था।
- गैर–शासक अभिजात वर्ग बाकी व्यक्ति थे।

परेटो की चर्चा मुख्य रूप से शासक अभिजात पर आधारित थी और उन्होंने शासक अभिजात के आधार पर Circulation of Elites के अपने सिद्धांत को विकसित किया। परेटो के अनुसार, शासन करने वाले अभिजात लोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रशासन से सम्बद्ध थे। उन्होंने समाज में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और समाज में प्रतिष्ठित स्थानों और पदों पर भी रहे। गैर–शासक अभिजात वर्ग प्रशासन में भाग लेने या सरकार चलाने में शामिल नहीं था, लेकिन एक ऐसी स्थिति में था कि प्रशासन और इसके कार्यों को प्रभावित करता था।

परेटो ने अभिजात वर्ग की निम्नलिखित विशेषताओं को सूचीबद्ध किया–

- अभिजात वर्ग एक सार्वभौमिक अवधारणा और एक सतत प्रक्रिया है।
- जो व्यक्ति शासक अभिजात या गैर–शासक अभिजात से संबंधित नहीं थे, उन्हें गैर–अभिजात कहा जाता था।
- अभिजात वर्ग में राजनीतिक शक्ति को प्रकट या गुप्त रूप से बदल पाने की शक्ति थी।
- अभिजात दूसरों पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने की शक्ति भी रखते थे।
- अभिजातों ने हमेशा कोशिश की और यह सुनिश्चित किया कि गैर–अभिजात, समाज को किसी भी तरह से प्रभावित न करें चाहे वह आर्थिक रूप से हो या राजनीतिक रूप से
- गैर–अभिजात लोगों ने केवल उन अभिजातों का सम्मान किया जिनके पास उदार दृष्टिकोण और नजरिया था।
- अभिजात और गैर–अभिजात सदस्य ऊपर या नीचे की तरफ हमेशा परिभ्रमण दिखाते हैं।

परेटो का यह भी मानना था कि हर समाज में विभिन्न प्रकार के अभिजात समूह होते हैं और चूंकि ये अभिजात श्रेष्ठ या उत्कृष्ट थे, इसलिए उनकी संख्या कुछ कम थी।

टिप्पणी

हालांकि यह अल्पसंख्यक समूह, अभिजात वर्ग, समाज के विकास और प्रगति को प्रभावित कर सकता है। परेटो ने निष्कर्ष निकाला कि अभिजात वर्ग का परिभ्रमण अभिजात और गैर–अभिजात वर्ग के बीच या शासक और गैर–शासक अभिजात वर्ग के बीच था। इसका मतलब था कि एक व्यक्ति अभिजात वर्ग और गैर–अभिजात वर्ग के बीच परिभ्रमण कर सकता है। परेटो के अनुसार, प्रतिस्थापन की यह प्रक्रिया निरंतर थी और दो तरीकों से हो सकती थी; या तो धीरे–धीरे घुसपैठ की प्रक्रिया से या फिर हिंसक क्रांति द्वारा। परेटो ने आगे अभिजात वर्ग के साथ–साथ गैर–अभिजात के मनोवैज्ञानिक विषेशताओं में परिवर्तन के संदर्भ में परिभ्रमण की व्याख्या की। परेटो के अनुसार, जब एक अभिजात के पास स्वयं को सत्ता में रखने के लिए आवश्यक विषेशताएं और शक्ति नहीं होती है, तो उस अभिजात वर्ग को बदल दिया जाता है। यह प्रतिस्थापन स्वयं अभिजात वर्ग द्वारा किया जा सकता है जो अगले अभिजात वर्ग को गैर–अभिजात वर्ग में से चुनता है जो कि अब शक्ति और आवश्यक विशेषताओं से युक्त हैं। दूसरी ओर, जब एक अभिजात वर्ग कमजोर हो जाता है, तो एक गैर–अभिजात, जिसके पास अब शक्ति है, वह सत्ता पर नियंत्रण करने के लिए अभिजात को हिंसक रूप से उखाड़ फेंक सकता है।

परेटो के अनुसार, अभिजात वर्गों का परिभ्रमण अभिजात वर्ग के विभिन्न वर्गों के बीच भी हो सकता है। कुछ व्यक्ति अभिजात वर्ग से गैर–अभिजात वर्ग में शामिल हो सकते हैं, जबकि अन्य गैर–अभिजात बन सकते हैं। परेटो ने यह भी कहा कि अभिजात वर्ग के समूहों की संख्या में गिरावट हो सकती है। विभिन्न कारकों के कारण यह गिरावट या तो संख्या में या अभिजात वर्ग के समूह की गुणवत्ता और महत्व में हो सकती है। जब यह गिरावट होती है, तो अभिजात लोग गैर–अभिजात हो जाते हैं और गैर–अभिजात वर्ग के समूह में आते हैं। इसका उल्टा भी हो सकता है। जब गैर–अभिजात समूहों के कुछ सदस्य उत्कृष्टता प्राप्त करते हैं या विशेष शक्तियां हासिल करते हैं, तो वे किसी एक या दूसरे अभिजात वर्ग में शामिल होते हैं। परेटो ने इस तथ्य का भी दावा किया कि अभिजात वर्ग की संख्या और शक्ति के साथ–साथ गैर–अभिजातों की वृद्धि या कमी समाज का ही एक हिस्सा है और एक प्रमुख नींव है जिस पर समाज चलता है। परेटो का यह भी अवलोकन है कि एक मुक्त समाज में, अभिजातों का परिभ्रमण स्थिर और स्वतंत्र होगा। लेकिन एक स्वतंत्र और आदर्श समाज में अपूर्णताएं विद्यमान होती हैं और इसलिए हम जिस समाज में रहते हैं, वहां पर अभिजातों का परिभ्रमण शायद ही कभी स्वतंत्र रूप से होता है। परेटो के अनुसार, अभिजातों का परिभ्रमण एक ऐसा सिद्धांत है जिसे हर समाज में लागू किया जा सकता है और अभिजातों का परिभ्रमण ऊपर या नीचे हमेशा होता रहता है। हालांकि, परेटो का यह भी मत था कि सबसे ऊपर वाले अभिजात वर्ग तथा शासक अभिजात वर्ग वाले समाज ज्यादा नहीं टिकते। परेटो को उद्धृत करने के लिए, 'इतिहास अभिजातों का कब्रिस्तान है'। परेटो के अनुसार, अभिजात वर्ग उभरता है, हावी होता है, पतन में गिर जाता है और अंत में गैर–विखंडित अभिजातों द्वारा प्रतिस्थापित किया जाता है। यह प्रक्रिया इतिहास में पीढ़ियों से चली आ रही है। परेटो के अनुसार अभिजात वर्ग की मृत्यु निश्चित है। इसका कारण यह है कि अभिजात वर्ग ऐतिहासिक युद्धों में शामिल थे, जो अभिजात वर्ग के पतन के लिए अग्रणी थे। परेटो का यह भी मानना था कि अभिजात वर्ग के उत्तराधिकारियों के पास जरूरी नहीं कि वे सभी गुण हों जिनकी वजह से उनके पूर्वज शासन कर पाए। वे विरासत में मिली स्थिति के

कारण शासन करते हैं, लेकिन उनके पास आवश्यक कौशल, ज्ञान और शासन करने की क्षमता नहीं हो सकती है और इस प्रकार उनका पतन होता है और इस तरह अभिजात वर्गों का साम्राज्य आखिरकार गिर जाता है।

टिप्पणी

परेटो के अनुसार, शासक अभिजात वर्ग हमेशा निरंतर और धीमी गति से परिवर्तन की स्थिति में रहता है। अपने शासन के दौरान, शासक अभिजात वर्ग कुछ समस्याओं और हिंसक गड़बड़ियों का सामना कर सकता है और एक नए अभिजात वर्ग द्वारा प्रतिस्थापित किया जाता है। यह नया अभिजात वर्ग तब परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू करता है। परेटो के सर्कुलेशन ऑफ एलीट्स के सिद्धांत को हालांकि, कुछ आलोचनाओं का सामना करना पड़ा। मुख्य आलोचना इस तथ्य के कारण आती है कि परेटो अभिजात वर्ग के बेहतर गुणों को मापने और परिभाषित करने की एक विधि प्रदान करने में असमर्थ था। परेटो केवल इस तथ्य को मानता है कि अभिजात वर्ग के गुण गैर–अभिजात वर्ग की तुलना में बेहतर हैं जो हर मामले में हमेशा सही नहीं हो सकता है।

परेटो ने सामाजिक व्यवस्था को अपने विशिष्ट या अभिजात वर्ग के परिभ्रमण सिद्धांत द्वारा स्पष्ट किया है। अभिजात वर्ग के परिभ्रमण के सिद्धांत को स्पष्ट करने के पूर्व हमें 'एलीट' शब्द के अर्थ को समझना आवश्यक है। परेटो ने एलीट शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है–बृहत्तर एवं संकीर्ण अर्थें में। बृहत्तर अर्थ में विशिष्ट वर्ग समाज के विभिन्न क्षेत्रों में पाए जाते हैं। जो कोई भी व्यक्ति किसी क्षेत्र में समाज में सबसे आगे है, उसे परेटो ने अभिजात वर्ग की श्रेणी में रखा है, जैसे कुशल या विख्यात लेखक, कलाकार, डॉक्टर, वकील, प्रोफेसर, वैज्ञानिक, व्यापारी, अव्वल दर्जे का चोर व ठग इत्यादि।

संकीर्ण अर्थ में विशिष्ट वर्ग से परेटो का तात्पर्य मात्र शासी या शासक विशिष्ट वर्ग से हैं, जो एलीट का एक प्रकार है। मोटे तौर पर अभिजात वर्ग को उन्होंने दो भागों में बांटा है–शासी (शासक) अभिजात वर्ग एवं गैर–शासी (शासक) अभिजात वर्ग।

शासक अभिजात वर्ग में वे लोग आते हैं, जो सरकार या प्रशासन में हैं। प्रशासन के बाहर समाज के विभिन्न क्षेत्रों में दक्षता या लोकप्रियता प्राप्त विशिष्ट लोग गैर–शासित अभिजात वर्ग की श्रेणी में आते हैं। शासक अभिजात वर्ग की अवधारणा परेटो के पहले उनके समकालीन विद्वान मोस्का ने प्रस्तुत की थी।

अभिजात वर्ग के परिभ्रमण के विश्लेषण के संदर्भ में काफी भ्रांतियां उत्पन्न हो गयी हैं। बहुत सारे भारतीय लेखकों ने अपनी पुस्तकों में यह लिख रखा है कि परिभ्रमण की प्रक्रिया, अभिजात वर्ग एवं गैर–अभिजात वर्ग के बीच होती है। इस तथ्य को नकारा नहीं जा रहा है कि समाज में परिभ्रमण अभिजात एवं गैर–अभिजात वर्ग के बीच भी होता है। लेकिन परेटो ने अपने परिभ्रमण के सिद्धांत का विश्लेषण शासक अभिजात वर्ग एवं गैर–शासक अभिजात वर्ग के संदर्भ में दिया था। इसे किनलॉक ने भी स्पष्ट शब्दों में बताया है कि परिभ्रमण हमेशा इन्हीं के बीच होता है।

परेटो ने बताया है कि अभिजात वर्ग को वैयक्तिक गुणों के आधार पर दो भागों में बांटा जा सकता है, जैसे–शेर एवं लोमड़ी। उनके अनुसार शेर में द्वितीय श्रेणी के प्रेरक समूह के स्थायित्व के विशिष्ट चालक की प्रधानता होती है। जिन लोगों में इस प्रेरक की प्रधानता होती है, अनुदार, बेअनुदार एवं रूढ़िवादी विचारधारा के लोग होते

टिप्पणी

हैं। ऐसे लोगों में परिवार जाति, कबीले, नगर एवं राष्ट्र के प्रति बहुत वफादारी की भावना पायी जाती है। चूंकि वे लोग बहुत देशभक्त एवं रूढ़िवादी होते हैं, इसलिए आवश्यकता पड़ने पर वे लोग काफी कठोर भी हो जाते हैं। वे तलवार की नोंक पर शासन करने का दम रखते हैं।

लोमड़ियों के बारे में उन्होंने बताया है कि उनमें प्रथम श्रेणी के प्रेरकों, संयोजन के विशिष्ट चालक की प्रधानता होती है। जिन लोगों में वैसे प्रेरकों की प्रधानता होती है, वे लोग योजना बनाने, जोड़–तोड़ करने में काफी निपुण होते हैं। वे लोग समाज में परिवर्तन, परीक्षण और नवीन प्रक्रिया शुरू करने का गुण रखते हैं। वैसे लोग कभी उदार एवं वफादार नहीं हो सकते हैं। वे लोग समझा–बुझाकर या झूठे वादे तथा धोखाधड़ी के सहारे शासन करने की कोशिश करते हैं। वे लोग काफी घूसखोर भी होते हैं। बहुत सारे भारतीय नेताओं को उस श्रेणी में रखा जा सकता है।

परेटो का मत है कि शासी अभिजात वर्ग में दोनों श्रेणियों के गुणों की आवश्यकता है, लेकिन ऐसा लंबे समय तक संभव नहीं हो पाता है। बहुत दिनों तक शासन में रहने से इन गुणों में कमी आ जाती है। वे उतने क्रूर एवं जुझारू नहीं रह पाते हैं। आलसीपन एवं अय्याशी प्रवृत्ति के कारण उनके शासन की क्षमता में कमी आ जाती है। वे लोग शासी अभिजात वर्ग से गैर–शासी अभिजात वर्ग की श्रेणी में आ जाते हैं।

परेटो का मानना है कि लोगों का शासी अभिजात वर्ग से गैर–शासी अभिजात और गैर–शासी अभिजात वर्ग से शासी अभिजात वर्ग में जाना एक अवश्यंभावी प्रक्रिया है। परिभ्रमण की गति और मात्रा हर समाज में अलग–अलग समय में अलग–अलग पायी जाती है। पर परिभ्रमण एक ऐतिहासिक यथार्थ है।

परेटो के अनुसार, शासक अभिजात वर्गों का परिभ्रमण एक अनिवार्य और निश्चित सामाजिक प्रक्रिया है, क्योंकि शासक अभिजात वर्ग में कभी प्रथम श्रेणी के प्रेरक कारकों की प्रधानता होती है तो कभी द्वितीय श्रेणी के प्रेरक कारकों की। इन्हीं दो प्रेरकों की प्रधानता में बदलाव के कारण समाज में परिवर्तन चलता रहता है।

परेटो का मत है कि शासक अभिजात वर्ग में खुलापन होना चाहिए। शासक–वर्ग में नए लोगों के आने से शासक–वर्ग को एक नए किस्म की शक्ति मिलती है। कुछ लोगों को भले ही इस प्रक्रिया से घाटा हो, लेकिन समस्त शासक समूह के लिए सामाजिक गतिशीलता लाभकारी है। बंद विशिष्ट शासक–वर्ग को पतन का हमेशा खतरा होता है, क्योंकि समय बीतने के साथ शासक–वर्ग में बहुत प्रकार की त्राुटियां उत्पन्न होने लगती हैं और इन त्राुटियों से उनका विनाश हो जाता है।

इस बात की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि जब भारत में वर्ण एवं जाति व्यवस्था एक बंद व्यवस्था के रूप में परिणत हुई और ब्राह्मणवादी व्यवस्था को बढ़ावा मिला, तो समाज में काफी कुरीतियों का विकास हुआ। इसका इतना विरोध हुआ कि धीरे–धीरे भारतीय समाज का पतन होने लगा। आज भारतीय राजनीति में निम्न एवं मध्य जाति के लोग उच्च जाति के लोगों को दबाकर अपना वर्चस्व कायम करना चाहते हैं। यदि ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था एक बंद व्यवस्था में परिवर्तित नहीं होती, तो आज ब्राह्मणवादी व्यवस्था को समाज में कोई खतरा नहीं होता और वह व्यवस्था पूर्ववत समाज में अपना वर्चस्व कायम रखती।

टिप्पणी

आर्थिक क्षेत्र में भी लोमड़ी और शेर अभिजात वर्ग में पाए जाते हैं। उन्होंने शेर को निश्चित आय वाला व्यक्ति माना है, क्योंकि वे लोग संपत्ति बढ़ाने के लिए कोई जोखिम नहीं लेना चाहते और एक निश्चित आय के आधार पर वे चैन की जिंदगी जीना चाहते हैं। दूसरी तरफ, लोमड़ियों को सटोरिया कहा है। वे लोग अपने–आपको बड़े–बड़े उद्योगों में लगाते हैं। अधिक–से–अधिक आमदनी के लिए कोई भी अनैतिक काम करने को तत्पर रहते हैं। बहुत सारे जोखिम उठाकर वे आगे बढ़ना चाहते हैं। पर यहां भी जब प्रथम एवं द्वितीय प्रेरक कारकों का चढ़ाव–उतार होता है, तो चक्रीय प्रवाह शुरू हो जाता है।

अभिजात वर्ग के परिभ्रमण का विश्लेषण एक बृहत स्तर पर भी किया जा सकता है। परेटो की अवधारणा को ध्यान में रखते हुए हम समाज को दो वर्गों में बांट सकते हैं–अभिजात वर्ग एवं गैर–अभिजात वर्ग। समाज में परिभ्रमण उच्च एवं निम्न स्तरण के बीच भी चलता रहता है। जो समाज के निचले तबके में रहकर जीवन में काफी सफलता प्राप्त कर चुके हैं, वे अभिजात वर्ग में जा मिलने की कोशिश करते हैं। दूसरी तरफ, जो अभिजात वर्ग के हैं, वे अपनी क्षमता की कमी के कारण अभिजात वर्ग से पदच्युत होकर नीचे चले जाने को बाध्य हो जाते हैं। कभी–कभी अभिजात वर्ग के लोग समय के साथ मिट जाते हैं, तो उस रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए भी गैर–विशिष्ट लोग ऊपर उठने की कोशिश करते हैं। इस तरह गैर–अभिजात वर्ग से अभिजात वर्ग एवं अभिजात वर्ग से गैर–अभिजात वर्ग में जाने की प्रक्रिया समाज में चलती रहती है। ऐसा होना स्वाभाविक इसलिए है कि समाज के निचले हिस्से के लोगों में शेर और लोमड़ी के गुण पाए जाते हैं।

परिभ्रमण की प्रक्रिया सहज नहीं है। अभिजात वर्ग के लोग इसका भरपूर विरोध करते हैं। इस विरोध में गैर–अभिजात वर्ग को कभी जान भी गंवानी पड़ती है, तो कभी जेल भी जाना पड़ता है और कभी–कभी गैर–अभिजात वर्ग के प्रमुख नेताओं को अभिजात वर्ग में शरण देकर उनके शेष लोगों को रौंद दिया जाता है। अर्थात अभिजात वर्ग के लोग विभिन्न किस्म के तरीकों को अपनाकर परिभ्रमण की प्रक्रिया को रोकना चाहते हैं। इस विरोध की स्थिति में अभिजात वर्ग को जान भी गंवानी पड़ती है।

परेटो अभिजात वर्ग के हितों के समर्थक और गैर–अभिजात वर्ग के विरोधी थे, इसलिए उन्हें बुर्जुआजी का कार्ल मार्क्स कहा जाता है। अर्थात जिस प्रकार मार्क्स सर्वहारा के कट्टर समर्थक थे, उसी प्रकार परेटो बर्जुआजी के समर्थक थे। वे प्रजातंत्र के विरोधी और तानाशाही के घोर समर्थक थे।

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत के संदर्भ में परेटो ने भविष्यवाणी की थी कि जहां कहीं भी अभिजात लोगों का शासन है या जहां कहीं भी संसदीय प्रजातंत्र है, उसका पतन होना निश्चित है। उसकी जगह पर निम्न वर्ग के अभद्र, शक्तिशाली एवं सामरिक अभिजात वर्ग के शासन की स्थापना होगी। वैसे नये प्रकार के अभिजात वर्ग के लोगों को उन्होंने 'लियन एलीट' कहा है। चूंकि पहले ऐसा हुआ है, इसलिए भविष्य में इसे दोहराए जाने की पूरी संभावना है।

3.3.2 अवशेष और व्युत्पन्न

समाजशास्त्र के अपने अध्ययन में, परेटो ने हमेशा गैर–वैज्ञानिक सिद्धांतों और विश्वास प्रणालियों से पर्दा हटाने की कोशिश की। ऐसा करने के अपने प्रयास में, उन्होंने उन

बदलते तत्वों के बीच अंतर किया जो किसी तरह इन सिद्धांतों के लिए जिम्मेदार थे और उन्होंने इन बदलते तत्वों को 'व्युत्पत्ति' (Derivations) नाम दिया जबकि स्थायी तत्वों को 'अवशेष' (Residue) कहा।

टिप्पणी

परेटो के अनुसार, अधिकांश मानव व्यवहार अतार्किक था। हालांकि, मानव यही मानता है कि उनका व्यवहार तर्कसंगत है और इस तथ्य को स्वीकार नहीं करना चाहता कि व्यवहार भावनाओं द्वारा संचालित और निर्धारित होता है। इस प्रकार, एक इंसान अपने विचारों और व्यवहारों को तर्कसंगत बनाने के लिए तार्किक कारण देता है। इस प्रकार, उन्होंने सिद्धांत तक पहुंचने के लिए दो अलग–अलग तत्वों का अवलोकन किया। ये विचार के तहत घटना के निरंतर तत्व थे और कई सरल सिद्धांत हैं जो मनुष्य अपने कार्यों को तर्कसंगत बनाने के लिए उपयोग करते हैं। परेटो ने निरंतर तत्वों को अवशेष और सरल सिद्धांतों को व्युत्पत्ति का नाम दिया।

यह प्रमाणित करने के लिए कि समाज में तार्किक कार्यों की तुलना में गैर–तार्किक क्रियाएं अधिक महत्वपूर्ण हैं, परेटो ने अवशेषों और व्युत्पत्तियों के सिद्धांत को विकसित किया। अवशेषों और व्युत्पत्तियों के बीच के अंतर पर पहुंचने के लिए, परेटो ने निम्नलिखित विधि का इस्तेमाल किया।

परेटो ने उन सिद्धांतों की जांच की जो क्रियाओं से जुड़े थे। इन सिद्धांतों से, परेटो ने उन तत्वों को अलग किया जो तर्क और विज्ञान के अनुरूप थे। परेटो ने फिर शेष गैर–वैज्ञानिक तत्वों को स्थिरांक और चर में अलग कर दिया। उन्होंने स्थिरांक को अवशेष और चर को व्युत्पन्न कहा। परेटो के अनुसार, व्युत्पत्ति या चर तभी उत्पन्न होते थे जब विचार, औचित्य और तर्क–वितर्क होते थे। परेटो ने यह भी माना कि इन व्युत्पत्तियों की उपस्थिति में, अंतर्निहित स्थिर तत्वों (अवशेषों) का विश्लेषण करना संभव था। परेटो इस तथ्य का भी दावा करते हैं कि अनंत संख्या में व्युत्पत्तियों का उपयोग मनुष्यों द्वारा अपने कार्यों को तार्किक साबित करने के लिए किया जाता है लेकिन अवशेष स्थिर रहते हैं। परेटो ने छह अवशेषों को सूचीबद्ध किया, जिनके बारे में उनका मानना था कि वे पूरे पश्चिमी विश्व में स्थिर बने हुए हैं। परेटो का यह भी दावा है कि अवशेषों के ये वर्ग मानवीय प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से निकटता से जुड़े हैं। इसमें शामिल है–

- संयोजन के लिए वृत्ति
- समूह की दृढ़ता/अटलता/सातत्य
- कार्यों और बाहरी अभिव्यक्तियों के माध्यम से भावनाओं को दिखाने की क्षमता
- समाज पर सत्ता थोपने की शक्ति
- व्यक्तिगत ईमानदारी का अवशेष
- सेक्स का अवशेष।

परेटो ने यह दिखाया है कि अवशेषों का एक ही सेट विभिन्न प्रकार की विश्वास प्रणालियों और व्युत्पत्तियों को जन्म दे सकता है। उन्होंने यह भी दावा किया कि पुरुष खुद को धोखा देते हैं जब वे एक सिद्धांत के आधार पर कुछ कार्रवाई करते हैं जिसमें वे विश्वास करते हैं। हालांकि, कार्रवाई या व्यवहार का असली कारण अंतर्निहित अवशेष में पाया जा सकता है। ज्यादातर मामलों में, व्यक्तिगत सत्यनिष्ठा के अवशेष मनुष्यों के व्यवहार और उनके द्वारा किए जाने वाले कार्यों के बारे में बताते हैं।

परेटो ने व्युत्पत्तियों के चार अलग–अलग वर्गों को नामित किया है। इसमें शामिल है–

टिप्पणी

- कथनों की व्युत्पत्तियों में ऐसे कथन शामिल हैं जो स्वभाव से हठधर्मी हैं।
- अधिकार की व्युत्पत्तियों में ऐसी अवधारणाएं शामिल हैं जो समाज में उच्च सम्मान के साथ देखी जाती हैं।
- सामान्य सिद्धांतों और भावनाओं के साथ समझौते में व्युत्पन्न मौखिक प्रमाण की व्युत्पत्ति जो शाब्दिक जंजाल, रूपकों आदि पर निर्भर करती है।

परेटो के अनुसार, यह व्युत्पत्ति थी जो कि वास्तविक सामग्री थी और जिसने स्वयं ही विचारधारा का गठन किया।

अवशेष और व्युत्पत्तियों की आलोचना

परेटो के अवशेषों और व्युत्पत्तियों के सिद्धांत की आलोचना की गई है। परेटो ने अवशेषों को अभियान (ड्राइव) के रूप में इस्तेमाल किया लेकिन उन्होंने कभी भी अवशेषों की प्रकृति को स्पष्ट नहीं किया। परेटो स्पष्ट रूप से यह नहीं कह पा रहे थे कि अवशेष प्राकृतिक थे या भौतिक बल या तथ्य या वे किसी सामाजिक–ऐतिहासिक प्रक्रिया के परिणाम थे।

एक और आलोचना यह है कि परेटो कभी भी अवशेषों की वास्तविक प्रकृति और अलग–अलग अवशेषों के बीच जो संबंध मौजूद थे उन का वर्णन करने में सक्षम नहीं थे। बोगार्डस द्वारा एक अन्य आलोचना में कहा गया है कि अवशेषों का वर्गीकरण अस्पष्ट था और ये केवल एक मानव प्रवृत्ति और भावनाओं का एक अलग तरीके से नाम था।

एक और आलोचना इस तथ्य की है कि अवशेषों को इस अर्थ में अच्छी तरह से परिभाषित नहीं किया गया है कि ये वृत्ति को दिया जाने वाला केवल एक सजावटी नाम है। सिद्धांत की यह आलोचना भी की जाती है क्योंकि यह माना जाता है कि अवशेष और व्युत्पन्न सभी परिस्थितियों में उचित नहीं हैं। सोरोकिन के अनुसार, व्युत्पन्न एक मौसम के मुर्गे की तरह होते हैं और ये हवा की दिशा के अनुसार बदल जाते हैं और अंतर्निहित अवशेष स्थिर होने पर भी समान नहीं होते हैं। सिद्धांत की इसलिए भी आलोचना की जाती है क्योंकि अवशेषों और व्युत्पत्तियों का उपयोग कभी–कभी गलत धारणाओं को जन्म दे सकता है।

अवशेषों और व्युत्पन्नों का परेटो का सिद्धांत सामाजिक आंदोलनों, समाज की संरचना और समाज के इतिहास को समझाने में सहायक है।

3.3.3 तार्किक और गैर–तार्किक कार्य

अर्थशास्त्र का अध्ययन करते समय, परेटो ने निष्कर्ष निकाला कि अर्थशास्त्र मानव कार्रवाई के केवल एक पहलू तक सीमित था– कार्रवाई जो तर्कसंगत और तार्किक थी और सीमित संसाधनों का अधिग्रहण करने हेतु प्रयत्न करना जिसका उद्देश्य था। परेटो, हालांकि, यह मानते थे कि मानवीय व्यवहार तार्किक रूप से व्यक्तिपरक और साथ ही वस्तुनिष्ठ भी थे। उनके अनुसार कोई कार्रवाई तार्किक है यदि संसाधनों को प्राप्त करने के लिए नियोजित साधन वस्तुनिष्ठ रूप से एकजुट हों और लक्ष्य को वस्तुनिष्ठ रूप से प्राप्त किया जाता है। परेतो भी इस तथ्य के प्रति आश्वस्त थे कि सच्ची तार्किक

कार्रवाई बहुत कम ही की जाती थी। वह समाजशास्त्र की ओर मुड़ गया जब वह इस तथ्य के बारे में आश्वस्त हो गया कि मानव मामलों को गैर–तार्किक और गैर–तर्कसंगत कार्यों द्वारा निर्देशित किया गया था।

टिप्पणी

परेटो ने सभी कार्यों को दो व्यापक श्रेणियों में विभाजित कियारू व्यक्तिगत और सामाजिक। उन्होंने आगे कहा कि सभी कार्यों या सामाजिक घटनाओं के दो पहलू थे– स्वरूप और वास्तविकता। स्वरूप वह तरीका है जिसमें सामाजिक घटना स्वयं को मानव मन के सामने प्रस्तुत करती है और कुछ व्यक्तिपरक होती है। दूसरी ओर, वास्तविकता में चीजों का वास्तविक अस्तित्व शामिल है और यह पूरी तरह से वस्तुनिष्ठ है। परेटो ने यह भी दावा किया कि सभी व्यक्तिगत और सामाजिक कार्यों के दो भाग थे– लक्ष्य और साधन। क्रियाओं के मूल लक्षणों का उपयोग करते हुए, परेटो ने अंत में क्रियाओं को तार्किक क्रियाओं और गैर–तार्किक कार्यों के रूप में विभाजित किया।

परेटो ने कहा कि मनुष्यों की प्रत्येक सामाजिक या व्यक्तिगत क्रिया तार्किक क्रियाओं या गैर–तार्किक क्रियाओं पर आधारित थी। तार्किक क्रियाएं वे क्रियाएं हैं जो तर्क और प्रयोग पर आधारित होती हैं। ये क्रियायें हैं जिनमें साधन और लक्ष्य जुड़े हुए हैं।

तार्किक क्रिया

एक तार्किक क्रिया वह होती है जिसमें साधन और लक्ष्यों के बीच तार्किक संबंध उस व्यक्ति के दिमाग में मौजूद होता है जो क्रिया करता है और वस्तुगत सच्चाई में मौजूद होता है। तार्किक कार्रवाई इस प्रकार शुद्ध तर्कसंगत कार्रवाई है। एक तार्किक कार्रवाई में, साधन और लक्ष्य के बीच तार्किक संबंध को उस व्यक्ति द्वारा अनुमोदित किया जाना चाहिए जो कार्रवाई करता है और उन अन्य लोगों द्वारा भी जिन्हें इस तथ्य का पर्याप्त ज्ञान है कि, की जा रही कार्रवाई वास्तविक है या नहीं। इस प्रकार, एक तार्किक कार्रवाई व्यक्तिपरक और वस्तुनिष्ठ दोनों है। परेटो ने कहा कि एक तार्किक कार्रवाई व्यक्तिपरक है क्योंकि यह कुछ लोगों द्वारा व्यक्तिगत कारणों से पसंद की जाती है। एक तार्किक कार्रवाई वस्तुनिष्ठ है क्योंकि प्राप्त अंतिम परिणाम की भविष्यवाणी कुछ अवलोकनों के आधार पर की गई है। इस प्रकार, परेटो ने तार्किक कार्यों की निम्नलिखित विशेषताओं को सूचीबद्ध किया–

- तार्किक क्रियाएं तर्क और प्रयोग पर आधारित हैं।
- सभी व्यक्तिगत या सामाजिक क्रियाएं जिनके साधन ओर लक्ष्य के बीच समायोजन है, वे तार्किक क्रियाएं हैं।
- तार्किक क्रियाएं वास्तविक हैं।
- तार्किक क्रियाएं वस्तुनिष्ठ हैं।
- तार्किक कार्रवाई को क्रिया करने वाले ने स्वीकार करना चाहिए और इसे वस्तुनिष्ठ रूप से परिभाषित किया जाना चाहिए।
- तार्किक क्रियाओं के लिए, लक्ष्य और साधन वैज्ञानिक और उचित होने चाहिए।
- पूर्वाग्रहों और कल्पनाओं में तार्किक कार्यों के लिए कोई जगह नहीं है।

टिप्पणी

- यदि तार्किक कार्य न्यायसंगत हैं तो इस औचित्य के पीछे सामाजिक स्वीकृति होनी चाहिए।
- क्रिया के तार्किक होने के लिए, उपयोग किए गए साधनों और लक्ष्य के बीच एक तार्किक संबंध होना चाहिए।
- तार्किक कार्य तर्क द्वारा प्रेरित होने चाहिए।
- तार्किक क्रियाएं तर्कसंगत होनी चाहिए।

गैर–तार्किक कार्य

गैर–तार्किक क्रियाएं वे सभी मानवीय क्रियाएं हैं जो तार्किक कार्यों के दायरे में नहीं आती हैं। परेटो का कहना है कि चूंकि ये क्रियाएं गैर–तार्किक हैं, इसका मतलब यह नहीं है कि वे अतार्किक हैं। गैर–तार्किक कार्यों को भावनाओं और अन्य गैर–तार्किक कारकों द्वारा निर्देशित किया जाता है। गैर तार्किक क्रियाएं वे सभी क्रियाएं हैं जो न तो व्यक्तिपरक और ना ही वस्तुनिष्ठ रूप से साधनों और लक्ष्यों के बीच कोई तार्किक संबंध दिखाती हैं। गैर–तार्किक कार्यों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

- no – no श्रेणी जिसमें क्रियाएं तर्कसंगत नहीं हैं। लक्ष्यों और साधनों में कोई संबंध नहीं है और लगाए गए साधन ऐसा कोई परिणाम नहीं देते जो तार्किक हो।
- no – yes श्रेणी वह श्रेणी है जिसमें कोई कार्रवाई करने पर प्राप्त होने वाला परिणाम तार्किक रूप से निष्पादित कार्रवाई से जुड़ा नहीं होता है। हालांकि, इस तरह के कार्यों में, कार्य करने वाला गलत तरीके से मानता है कि उसने जिस साधन को लागू किया है, वो वह परिणाम देगा जो वह चाहता है।
- yes – no श्रेणी की कार्रवाई लागू किए गए साधनों के आधार पर तार्किक परिणाम देती है, लेकिन कार्य करने वाले के दिमाग में लक्ष्यों और साधनों के बीच कोई तार्किक संबंध नहीं होता है।
- yes – yes श्रेणी लागू किए गए साधनों के आधार पर तार्किक परिणाम देती है, तथा लक्ष्य और साधन व्यक्तिपरक रूप से जुड़े होते हैं किन्तु वस्तुनिष्ठ परिणाम व्यक्तिपरक अनुक्रम का पालन नहीं करता है।

गैर–तार्किक कार्यों के लक्षण

गैर–तार्किक कार्य

गैर–तार्किक क्रियाएं वे सभी मानवीय क्रियाएं हैं जो तार्किक कार्यों के दायरे में नहीं आती हैं। परेटो का कहना है कि चूंकि ये क्रियाएं गैर–तार्किक हैं, इसका मतलब यह नहीं है कि वे अतार्किक हैं। गैर–तार्किक कार्यों को भावनाओं और अन्य गैर–तार्किक कारकों द्वारा निर्देशित किया जाता है। गैर तार्किक क्रियाएं वे सभी क्रियाएं हैं जो न तो व्यक्तिपरक और ना ही वस्तुनिष्ठ रूप से साधनों और लक्ष्यों के बीच कोई तार्किक संबंध दिखाती हैं। गैर–तार्किक कार्यों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

- no – no श्रेणी जिसमें क्रियाएं तर्कसंगत नहीं हैं। लक्ष्यों और साधनों में कोई संबंध नहीं है और लगाए गए साधन ऐसा कोई परिणाम नहीं देते जो तार्किक हो।
- no – yes श्रेणी वह श्रेणी है जिसमें कोई कार्रवाई करने पर प्राप्त होने वाला परिणाम तार्किक रूप से निष्पादित कार्रवाई से जुड़ा नहीं होता है। हालांकि, इस तरह के कार्यों में, कार्य करने वाला गलत तरीके से मानता है कि उसने जिस साधन को लागू किया है, वो वह परिणाम देगा जो वह चाहता है।
- yes – no श्रेणी की कार्रवाई लागू किए गए साधनों के आधार पर तार्किक परिणाम देती है, लेकिन कार्य करने वाले के दिमाग में लक्ष्यों और साधनों के बीच कोई तार्किक संबंध नहीं होता है।
- yes – yes श्रेणी लागू किए गए साधनों के आधार पर तार्किक परिणाम देती है, तथा लक्ष्य और साधन व्यक्तिपरक रूप से जुड़े होते हैं किन्तु वस्तुनिष्ठ परिणाम व्यक्तिपरक अनुक्रम का पालन नहीं करता है।

गैर–तार्किक कार्यों के लक्षण

- गैर–तार्किक क्रियाएं मूल रूप से व्यक्तिपरक कारकों द्वारा निर्धारित की जाती हैं।
- गैर–तार्किक कार्य वस्तुनिष्ठ प्रयोग या अवलोकन द्वारा सिद्ध नहीं किए जा सकते।
- गैर–तार्किक कार्यों को तर्क से नहीं बल्कि आवेगों द्वारा निर्देशित किया जाता है।
- गैर–तार्किक कार्य वास्तविकता द्वारा निर्धारित नहीं किए जा सकते हैं।
- गैर–तार्किक क्रियाएं कुछ हद तक भावनाओं से प्रेरित होती हैं।

परेटो की चर्चा के अनुसार तार्किक और गैर–तार्किक कार्यों की कुछ आलोचना भी होती है। इस सिद्धांत की प्रमुख आलोचनाओं में से एक यह तथ्य है कि कार्यों के बीच अंतर करना और यह बताना बहुत मुश्किल है कि कौन सी कार्रवाई तार्किक है और कौन सी कार्रवाई गैर–तार्किक है। एक और आलोचना यह है कि एक क्रिया से संबंधित साधनों और लक्ष्यों के बीच अंतर करना भी मुश्किल है। एक और आलोचना यह है कि तार्किक कार्यों की तुलना में गैर–तार्किक कार्यों की संख्या अधिक है। ऐसा इसलिए है क्योंकि मनुष्य कल्पना, भावनाओं और सोच द्वारा निर्देशित किसी भी कार्य को करना चाहते हैं। इसके अलावा मनुष्य यह साबित करना चाहते हैं कि गैर–तार्किक क्रियाएं बहुत तार्किक हैं क्योंकि वे ऐसा सोचते हैं और किसी भी तरह वांछित लक्ष्य को प्राप्त करने में सक्षम हैं।

परेटो ने तर्क के माध्यम से उनके संबंध के आधार पर क्रियाओं का अध्ययन किया। दूसरे शब्दों में, परेतो का मानना था कि प्रत्येक क्रिया तर्क पर आधारित थी और मानव ने अपने कार्यों के माध्यम से और अपने तरीके से हर क्रिया को तार्किक साबित करने की कोशिश की। दूसरे शब्दों में, मनुष्य अक्सर तार्किक कार्रवाई करने में विफल होते हैं लेकिन वे हमेशा अपनी सोच को तार्किक दिखाना चाहते हैं। यह बदले में मनुष्यों को वांछित लक्ष्य को प्राप्त करने में मदद करता है जो कि वस्तुनिष्ठ रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता है या उस क्रिया द्वारा वांछित रूप में नहीं प्राप्त किया जा सकता था जब कि यह क्रिया की गयी थी।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

3. परेटो ने किस शब्द का प्रयोग बृहत्तर एवं संकीर्ण अर्थों में किया है?
   (क) डिलाइट (ख) लाइट
   (ग) एलीट (घ) सनलाइट
4. परेटो को बुर्जुआजी का क्या कहा जाता है?
   (क) मैक्स वेबर (ख) इमाइल दुर्खीम
   (ग) थर्स्टिन वेब्लिन (घ) कार्ल मार्क्स

3.4 टॉलकॉट पारसंस का समाजशास्त्रीय चिंतन

टॉलकॉट पारसंस ने सामाजिक जगत को व्यक्तियों के विचारों, विशेषकर नियम और मूल्यों के संदर्भ में समझने का प्रयास किया। नियम वे सामाजिक विधियां हैं जिनका प्रयोग व्यक्ति अपने निर्णयों के चुनाव में करते हैं, जबकि मूल्य जगत के विषय में व्यक्तियों के ऐसे विश्वास हैं जो उनके कार्यों पर प्रभाव डालते हैं। पारसंस के अनुसार सर्वप्रमुख सामाजिक प्रक्रिया अर्थ, प्रतीकों एवं सूचनाओं का सम्प्रेषण है। उन्होंने 'सार्वभौमिक दृष्टिकोणों' एवं 'वैयक्तिक दृष्टिकोणों' का समायोजन करते हुए वैयक्तिक कार्यों को सामूहिक कार्यों में अभिनिहित करने की व्यवस्था पर बल दिया।

सामाजिक जीवन की अवधारणा को 'विभिन्न अवयवों की एक व्यवस्था' के रूप में समझना एवं उसके संरचनात्मक स्वरूप पर बल देना ही पारसंस का प्रमुख कार्य रहा। जैविक तंत्र के साथ इसकी साम्यता इसके प्रकार्यवादी स्वरूप की व्याख्या करती है। यदि हम मानव शरीर को एक तंत्र के रूप में स्वीकार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी विविध प्रकार की आवश्यकताएं होती हैं, जैसे कि– भोजन एवं उससे संबंधित अनेक परस्पर संबंधित अवयव (पाचन तंत्र, उदर, आंत आदि)। ये अवयव भोजन की पूर्ति के लिए आवश्यक कार्यों का निर्वहन करते हैं। इसी प्रकार पारसंस ने सामाजिक क्रियाओं की व्यवस्था को आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनिवार्य तंत्र के रूप में स्वीकार किया है। कोई भी व्यवस्था/तंत्र ऐसे अवयवों से मिलकर बना होता है जिसके अपने विशिष्ट कार्य होते हैं। प्रत्येक सजीव तंत्र अपने विभिन्न घटकों के मध्य स्थिर–संतुलित संबंध बनाये रखने, साम्यावस्था स्थापित करने एवं उसे अन्य तंत्रों से विलग रखने के लिए कार्य करता है।

पारसंस ने न सिर्फ 'स्थिरता' एवं 'व्यवस्था' पर बल दिया अपितु अपने सामाजिक सिद्धान्त को इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए प्रयुक्त किया कि 'सामाजिक व्यवस्था किस प्रकार स्थापित की जा सकती है?'

यह ऐसी समस्या है जिसे सामान्यतया टॉमस हॉब्स नामक दार्शनिक के साथ जोड़कर देखा जाता है। हॉब्स ने ही इसे सर्वप्रथम स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया था। उनके सिद्धान्त की पूर्वमान्यता रही कि अपनी 'प्राकृतिक अवस्था' में मानवजाति पूर्णतः स्व–केन्द्रित एवं स्वार्थपरक रही है और सम्भवतः इसीलिए सामाजिक संस्थाएं सदैव ही उनकी प्राकृतिक प्रवृत्तियों को सीमित करने एवं गढ़ने का प्रयास करती हैं।

3.4.1 सामाजिक क्रिया का सिद्धांत

पारसंस के प्राथमिक मार्गदर्शन इस पूर्व मान्यता पर आधारित रहे हैं कि समाजशास्त्र की एकमात्र विषयवस्तु सामाजिक क्रिया है। यह दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से मैक्स वीबर एवं आंशिक रूप से टॉमस हॉब्स के प्रभाव को दर्शाता है। अपनी पुस्तक 'The Structure of Social Action' में पारसंस ने 'सामाजिक क्रिया' के अत्यन्त जटिल सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। इस सामाजिक क्रिया को उन्होंने 'ऐच्छिक व्यवहार' माना है एवं यह विश्लेषण मुख्य रूप से साध्य–साधन संबंध पर आधारित है। सामाजिक क्रिया सिद्धान्त का ऐसा जटिल प्रस्तुतीकरण पारसंस के द्वारा वीबर, दुर्खीम, परेटो एवं अल्फ्रेड मार्शल के सिद्धान्तों की परस्पर दो विपरीत परम्पराओं से निगमित होता है:

1. भाववादी उपयोगितावाद की परम्परा
2. आदर्शवाद की परम्परा

पारसंस के अनुसार कोई भी क्रिया पूर्णतः स्वतंत्र रूप से उत्पन्न नहीं हो सकती। उसे एक कर्ता, एक परिस्थिति एवं उस परिस्थिति के प्रति कर्ता के झुकाव की आवश्यकता होती ही है। पारसंस के अनुसार यह क्रिया की अवधारणा एक जीव के रूप में मानव मात्र के व्यवहार से निगमित होती है। अतः सामाजिक क्रिया को हम ऐसे व्यवहार के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जिसके द्वारा कोई भी व्यक्ति बाह्य शक्तियों को भलीभांति समझकर प्रतिक्रिया दे सके। इसकी प्रेरणा कर्ता द्वारा प्राप्त बाह्य जगत के अभिप्रायों में ही निहित होती है। अतः सामाजिक क्रिया का अनिवार्य गुण अन्य व्यक्तियों एवं वस्तुओं के प्रति कर्ता की संवेदनशीलता में निहित है। कोई भी व्यवहार तभी क्रिया बनता है जबकि–

(क) वह विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु निर्धारित किया जाए।

(ख) विशिष्ट परिस्थितियों में उत्पन्न हो।

(ग) समाज के नियमों एवं मूल्यों से निर्धारित हो।

(घ) जिसमें समुचित ऊर्जा, प्रेरणा अथवा प्रयास का निवेष किया जाए।

अतः क्रिया निर्धारण के संबंध में पारसंस दो आयामों की चर्चा करते हैं–

1. प्रेरणापरक निर्धारण,
2. मूल्यपरक निर्धारण।

प्रेरणापरक निर्धारण– किसी भी सामाजिक क्रिया के सम्पादन के लिए तीन तत्त्वों को स्वीकार किया जाता है–

1. **संज्ञानात्मक**– इसमें कोई भी कर्ता परिस्थितियों को अपनी आवश्यकताओं के संदर्भ में समझने का प्रयास करता है।
2. **मानसिक**– इसमें कर्ता किसी भी विषयवस्तु के भावनात्मक अथवा संवेगात्मक पक्ष को समझने का प्रयास करता है।
3. **मूल्यांकन**– इसमें कर्ता अपने चुनाव के कारणों एवं कारकों को समझने का प्रयास करता है।

मूल्यपरक निर्धारण– दूसरी ओर प्रेरणापरक निर्धारण के विपरीत मूल्यपरक निर्धारण उन बिन्दुओं की ओर संकेत करता है जो विशिष्ट सामाजिक नियमों अथवा मापदण्डों पर आश्रित होते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं–

टिप्पणी

1. निर्णयों की नैतिक वैधता का संज्ञानात्मक निर्धारण
2. स्थितियों की अनुकूलता
3. उद्देश्य के प्रति कर्ता की निष्ठा पर आधारित नैतिक निर्धारण।

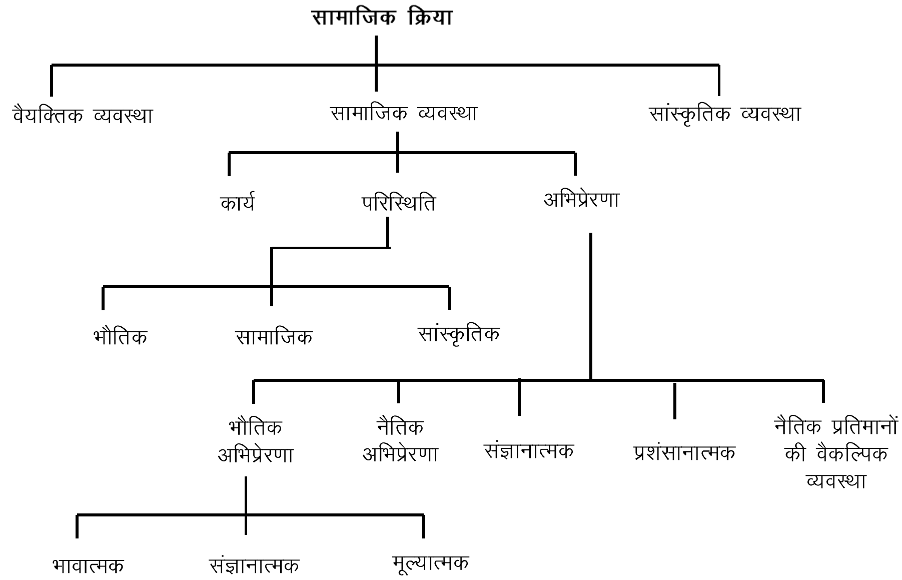

उपर्युक्त तीनों विश्लेषणात्मक व्यवस्थाएं– चारित्रिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था एवं सांस्कृतिक व्यवस्था पारसंस की पद्धति को दर्शाती हैं। अतः यह स्पष्ट है कि कर्ता के भूमिका निर्वहन के व्यावहारिक एवं सांस्कृतिक पक्ष उसके प्रेरणापरक एवं मूल्यपरक दृष्टिकोण पर ही आश्रित होते हैं।

प्रतिमान चर (पैटर्न वैरिएबल्स)

प्रतिमान चरों को प्रथमदृष्ट्या ऐसी वैचारिक पद्धति के रूप में स्थापित किया गया जिनके माध्यम से सामाजिक व्यवस्था में विभिन्न भूमिकाओं को प्रतिपादित किया जाए। कुछ समय पश्चात इस पद्धति में संशोधन भी किया गया एवं इसकी प्रासंगिकता को भूमिका की विवेचना से विस्तारित कर समस्त प्रकार की सामाजिक क्रियाओं की विवेचना के लिए प्रयोग किए जाने लगा। पारसंस के शब्दों मे ''प्रतिमान चरों की यह पद्धति सुस्पष्ट विभेदों की व्यवस्था को परिभाषित करती है। एक कर्ता के द्वारा उत्पन्न कोई भी क्रिया निम्न पांच विकल्प व्यवस्थाओं के आधार पर चुनाव के प्रतिमान स्थापित करती है।'' एवं ''एक प्रतिमान चर ऐसे विभेद को प्रदर्शित करता है जिसमें किसी एक पक्ष का चुनाव करना किसी भी कर्ता के लिए अनिवार्य है ताकि वह परिस्थिति विशेष में कार्य कर सके।''

इस संदर्भ में एक विशिष्ट व्यवस्था का निर्माण करने के लिए सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त से निम्न पांच प्रतिमान चर निगमित होते हैं। इन प्रतिमान चरों की सहायता

टिप्पणी

से कोई भी व्यक्ति व्यक्तित्व के प्रकार, सांस्कृतिक मूल्यों एवं सामाजिक व्यवस्था के आदर्श ढांचों का निर्धारण कर सकता है।

1. **भावात्मकता/भावात्मक उदासीनता**– इसका संबंध किसी भी अंतःक्रिया की दशा में भावात्मकता की उचित मात्रा से है। उदाहरणतः कोई भी व्यक्ति किसी विशेष परिस्थिति में हंस सकता है, रो सकता है, आवेश में आकर चिल्ला सकता है अथवा अन्य किसी प्रकार की संवेगात्मक गतिविधि कर सकता है। किन्तु यह भी संभव है कि वह परिस्थितियों के प्रति तटस्थ हो जाए एवं अपने संवेगों को दबा दे।
2. **स्व–निर्देशन/सामूहिक निर्देशन**– प्रत्येक कार्य की एक विशिष्ट दिशा एवं उद्देश्य होता है। कोई भी क्रिया किस सीमा तक ऐसे वैयक्तिक अथवा सामूहिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रभावी होती है– यह कर्ता के स्व–निर्देशन अथवा सामूहिक निर्देशन से निर्धारित होता है। उदाहरणतः किसी भी सिपाही द्वारा युद्ध के समय किया गया प्रदर्शन उसकी वैयक्तिक प्रेरणा का भी परिणाम हो सकता है एवं सामूहिक अभिप्रेरणा का भी।
3. **सर्वव्यापकता/पृथगात्मकता**– इसका संबंध इस दुविधा से होता है कि अन्तरसंबंध की दशा में सभी कर्ताओं पर समान सर्वव्यापक नियमों (मूल्यों) का निध ारिण उचित है अथवा पृथक व्यक्तियों के लिए पृथक नियमों का आरोपण। उदाहरणतः सभी नागरिकों पर समान प्रजातांत्रिक एवं संवैधानिक नियमों को लागू करना चाहिए अथवा धर्म, क्षेत्र, आय के आधार पर विशिष्ट नियम लागू होने चाहिए।
4. **उपलब्धि/आरोपण**– इस दुविधा में समस्या यह उठती है कि किसी भी अंतरसंबंध की दशा में कर्ता का मूल्यांकन जन्मजात लक्षण (रंग, जाति, लिंग, परिवार की पहुंच) के आधार पर किया जाए अथवा उसकी स्वयं अर्जित उपलब्धियों (योग्यता, भुजबल, सामर्थ्य) के आधार पर। इनमें से पहला पैमाना 'प्रदत्त' है जबकि दूसरा 'अर्जित'।
5. **विसरण/विशिष्टता**– अंतरसंबंध की दशा में यह दुविधा तब उत्पन्न होती है जब कर्ता यह देखता है कि कोई मुद्दा विशिष्ट है अथवा वृहद है। इससे यह भी निर्धारित होता है कि क्रिया का उद्देश्य तात्कालिक है अथवा दूरदृष्ट। उदाहरणतः चिकित्सा विज्ञान में हम प्रायः सामान्य चिकित्सक एवं हृदय विशेषज्ञ में विभेद करते हैं।

अतः दुविधा की दशा में चुनाव के अतिरिक्त प्रतिमान चरों को मूल्य–प्रतिमानों की विशेषता एवं मूल्य–प्रतिमानों के स्थापन की विशिष्ट पद्धति के रूप में भी परिभाषित किया जाता है। ये प्रतिमान–चर मूल्य–व्यवस्था की व्याख्या एवं वर्गीकरण, भूमिका निर्वहन के महत्वपूर्ण अवयव, व्यक्तित्व अथवा सामाजिक व्यवस्था के व्यावहारिक विभेद के गुण के रूप में भी स्वीकार किए जाते हैं। पारम्परिक मूल्य निर्धारण के अंतरनिहित प्रतिमान में निहित होते है। प्रत्येक प्रतिमान–चर अपने पारम्परिक स्वरूप में एक 'आवश्यकता' है एवं सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में विशेष 'भूमिका का निर्वहन' है।

प्रतिमान–चरों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में पारसंस कहते हैं कि उपर्युक्त में से प्रथम तीन के निर्धारण निश्चित वरीयता–क्रम से निगमित होते हैं जबकि अन्तिम दो के अनिश्चित वस्तुस्थिति से। पारसंस के अनुसार ये प्रतिमान–चर सभी प्रकार के

सामाजिक सम्बन्धों की व्याख्या करने में समर्थ हैं। उदाहरण के लिए, 'व्यावसायिक सम्बन्ध' एवं 'पारिवारिक सम्बन्ध' दो विपरीत ध्रुवों के समान हैं और इसीलिए इनके प्रतिमान–चर भी पूर्णतया भिन्न होंगे। जहां एक ओर व्यावसायिक सम्बन्ध भावात्मक तटस्थता, विशिष्टता, सर्वव्यापकता, स्वनिर्देशिता एवं प्रदर्शन की आकांक्षा से युक्त होता है, वहीं पारिवारिक सम्बन्ध भावात्मकता, विसरण, पृथगात्मकता, गुणवत्ता एवं सर्वव्यापकता से युक्त माना जाता है।

3.4.2 सामाजिक व्यवस्था

सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा पारसंस की प्रारम्भिक पुस्तक 'The Structures of Social Actions' से सम्बन्धित है। इस सामाजिक व्यवस्था में उनका केंद्रबिन्दु एक व्यावहारिक पद्धति रहा है। मैक्स वीबर के प्रारूपीकरण (Typological Approach) से प्रेरित होकर पारसंस कर्ता को परिस्थिति विशेष उद्देश्यों से निर्धारित मानते हैं। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था एक वैचारिक योजना को व्यवस्थित एवं सामान्य स्वरूप प्रदान करने का प्रयास मात्र हैं।

यहां पर पारसंस ऐसे कर्ता की अवधारणा को स्थापित करते हैं जो कि उपलब्ध साधनों एवं परिस्थितियों के सन्दर्भ में विशेष प्रयोजन के अनुसार अपने कार्य को सम्पादित करता है। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति परिस्थितियों के साथ कुछ इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करता है जिससे पूर्णतः वैज्ञानिक सन्दर्भो में पद्धति का सरलतम विश्लेषण प्रस्तुत किया जा सके। पारसंस की सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा विभिन्न भौगोलिक स्थानों के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। वे सामाजिक व्यवस्था को परस्पर सम्बन्धित वैयक्तिक कर्ताओं के समुदाय के रूप में परिभाषित करते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो सामाजिक व्यवस्था व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो कि अधिकतम आनंद के भाव में प्रेरित होकर कार्य करते हैं।

व्यक्तियों का संबंध पारम्परिक संरचना एवं प्रतिमान चरों पर आश्रित परिस्थितियों से भी होता है। उनके प्रयोजन निम्न तीन प्रकार के हो सकते हैं–

1. संज्ञानात्मक,
2. मानसिक,
3. मूल्यात्मक।

इस सन्दर्भ में तीन समरूपी मूल्य सम्भव हैं–

1. संज्ञानात्मक,
2. गुणात्मक,
3. नैतिक।

अपने समग्र स्वरूप में किसी भी कार्य निर्धारण के लिए तीन तत्व अनिवार्य हैं–

1. **उपकरणात्मक**– ये ऐसे कार्य हैं जो किसी स्पष्ट प्रयोजन को प्रभावी रूप से प्राप्त करने में सहायक होते हैं।
2. **भावनात्मक**– ये ऐसे कार्य हैं जो भावनात्मक संतुष्टि की प्राप्ति के लिए उत्प्रेरित होते हैं।

टिप्पणी

3. **नैतिक**– ये ऐसे कार्य हैं जो उचित एवं अनुचित के मानदण्डों के अनुसार कार्य करते हैं। अतः ऐसी न्यूनतम इकाई (यूनिट एक्ट्स) अभिप्रेरणात्मक एवं मूल्यात्मक होती है एवं कर्ता में मूल्य एवं प्रयोजन का उचित सन्तुलन विद्यमान रखती है।

पारसंस के अनुसार विविध प्रकार से अभिप्रेरित कर्ता जब परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो ऐसी सहमति एवं अंतरसंबंध के स्थायी प्रतिमानों को जन्म देते हैं जो कि आदर्श होते हैं। ऐसे आदर्श प्रतिमानों को ही सामाजिक व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया जाता है। प्रत्येक कार्य तीन प्रकार की परस्पर सम्बन्धित क्रिया व्यवस्थाओं के समायोजन का परिणाम होते हैं– (1) सांस्कृतिक, (2) सामाजिक, (3) वैयक्तिक।

दुर्खीम एवं रेडक्लिफ–ब्राउन का अनुसरण करते हुए पारसंस भी उपर्युक्त क्रिया व्यवस्था को जीवन्त बने रहने के अनिवार्य तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं।

जहां एक ओर पारसंस सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं वहीं दूसरी ओर सामाजिक व्यवस्था एवं सांस्कृतिक प्रतिमानों के अंतरसंबंध पर भी बल देते हैं। साथ ही सामाजिक व्यवस्था एवं वैयक्तिक व्यवस्था के सम्बन्ध को भी अनिवार्य मानते हैं। इसके लिए दो प्रकार्यात्मक अपेक्षाएं अनिवार्य हैं–

1. किसी भी सामाजिक व्यवस्था में पर्याप्त मात्रा में ऐसे अभिप्रेरित कर्ताओं की उपस्थिति जो कि व्यवस्था के अनुकूल भूमिका का निर्वहन कर सकें।
2. प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था को किसी भी ऐसे सांस्कृतिक प्रतिमान के प्रति कटिबद्ध नहीं होना चाहिए जो व्यवस्था के अनुरूप न हों, असम्भव मांगें रखें अथवा द्वन्द्व की सम्भावनाएं उत्पन्न करें।

इस प्रकार पारसंस सांस्कृतिक व्यवस्था के महत्व को उसी सीमा तक स्वीकार करते हैं, जब तक कि वे सामाजिक एवं वैयक्तिक व्यवस्था के लिए सकारात्मक भूमिका निभा सकें। अतः प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था ऐसे 'क्रिया तत्वों' का सुव्यवस्थित संगठन है जो कि वैयक्तिक कर्ताओं में परस्पर संबंध स्थापित कर सकें। प्रथमतः क्रिया सामाजिक व्यवस्था की ही एक इकाई मात्र है और यह इकाई तभी तक स्वीकार्य है जब तक कि वह कर्ताओं में अंतरसंबंध स्थापित कर सके। द्वितीयतः सामाजिक व्यवस्था के वृहद आकलन करने पर हम क्रिया से भी उच्च इकाई को प्राप्त करते हैं जिसे हम 'भूमिका–निर्वहन' कहकर बुलाते हैं।

पारसंस के अनुसार एक सामाजिक व्यवस्था में सभी कर्ता अन्य कर्ताओं के साथ अनेकानेक प्रकार के सम्बन्धों में लिप्त रहते हैं एवं इस प्रकार प्रकार्यवाद के अत्यन्त जटिल तंत्र का विकास होता है। अनेकानेक सम्बन्धों से युक्त व्यवस्थित प्रतिमानों में कर्ता की सहभागिता किसी भी सामाजिक व्यवस्था की सबसे महत्वपूर्ण इकाई है। इस प्रकार की सहभागिता के दो प्रमुख पक्ष हैं–

1. 'स्थितीय पक्ष' जहां व्यवस्था में कर्ता का दर्जा महत्वपूर्ण होता है एवं
2. 'विधीय पक्ष' जहां व्यक्ति के कार्य का महत्वपूर्ण होते हैं।

इसे ही हम भूमिका (Role) कहते हैं। अतः भूमिका एवं दर्जा कर्ता के सामान्य गुण नहीं अपितु सामाजिक व्यवस्था की इकाइयां हैं। एक कर्ता भी स्वयं में सामाजिक व्यवस्था की ऐसी इकाई मात्र है जिसका अपना विशेष दर्जा एवं अपनी विशेष भूमिका होती है। इस प्रकार किसी भी सामाजिक व्यवस्था की तीन भिन्न इकाइयां होती हैं–

टिप्पणी

1. सामाजिक क्रिया जिसका सम्पादन कोई एक कर्ता करे किन्तु जिसका निर्धारण अनेक कर्ताओं एवं वस्तु स्थितियों पर आश्रित हो।
2. कर्ता की भूमिका एवं दर्जा।
3. एक सामाजिक इकाई के रूप में स्वयं कर्ता।

AGIL

वास्तव में सामाजिक व्यवस्था जैसी कोई यथार्थ वस्तु नहीं होती अपितु यह तो अध्ययन की एक विधि मात्र है। जब हमें किसी विषय का अध्ययन करना होता है तो हम उसे विषय से जुड़े तत्वों के आधार पर ही परिभाषित करते हैं। पारसंस ने ऐसी व्यवस्था के लिए चार प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताओं का वर्णन किया है। ये ऐसे प्रकार्यात्मक तत्वों का समूह है जो व्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अनिवार्य होता है–

सांस्कृतिक व्यवस्था (Cultural System)	**सामाजिक व्यवस्था** (Social System)
व्यावहारिक व्यवस्था (Behaviourl System)	**वैयक्तिक व्यवस्था** (Personality System)

सामान्य क्रिया व्यवस्था की संरचना

उपर्युक्त चित्रण में सांस्कृतिक व्यवस्था का निहित कार्य कर्ता के लिए ऐसे नियम व मूल्य प्रदान करना है जो उसे कार्य करने के लिए प्रेरित कर सके। सामाजिक व्यवस्था का कार्य प्रबन्धात्मक है जिसमें समस्त अवयवों में एकीकरण (Intergration) स्थापित किया जाता है। व्यावहारिक व्यवस्था का कार्य कर्ता को बाह्य जगत के अनुसार रूपांतरण एवं अनुकूलन प्रदान करना है। वैयक्तिक व्यवस्था का कार्य उद्देश्यों एवं संसाधनों को ध्यान में रखते हुए लक्ष्य प्राप्ति के प्रयासों में निहित है।

पारसंस के अनुसार इन सामाजिक व्यवस्थाओं की प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएं निम्न हैं–

1. **अनुकूलन** (Adaptation)– व्यवस्था एवं उसके वातावरण में अंतरसंबंध बनाए रखने के लिए यह तत्व अनिवार्य है। किसी भी व्यवस्था को जीवित रखने के लिए अनुकूलन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रही है। साथ ही वातावरण में नवीन परिवर्तन के अनुपात में व्यवस्था के परिवर्तन अनुकूलन का ही प्रतीक है।
2. **लक्ष्य–प्राप्ति** (Goal Attainment)– यह तत्व लक्ष्य के निर्धारण एवं लक्ष्य प्राप्ति की प्रेरणा उत्पन्न करने के लिए अनिवार्य है। साथ ही यह सदस्यों को लक्ष्य की ओर अपनी ऊर्जा केन्द्रित करने के लिए प्रोत्साहित भी करता है। वरीयता के आधार पर लक्ष्यों का निर्धारण किसी भी राजनैतिक व्यवस्था के लिए अनिवार्य है।
3. **एकीकरण** (Integration)– इस तत्व का प्राथमिक उद्देश्य विरोधाभासों में सामंजस्य स्थापित करना है। विभिन्न सामाजिक इकाइयों में समन्वय एवं अंतरसंबंध स्थापित करना ही एकीकरण है। उदाहरण के लिए, विधिक संस्थाओं का प्रमुख उद्देश्य व्यक्तियों एवं अन्य संस्थाओं के मध्य एकीकरण स्थापित करना है। यही कारण है कि विवादों का समाधान न्यायालय में होता है, जिसके कारण सामाजिक व्यवस्था विखण्डित होने से बच जाती है।

4. **यथास्थिति** (Latency)– यह तत्व तनाव का प्रबन्धन करने एवं व्यवस्था की यथास्थिति को बनाए रखने के लिए अनिवार्य है। यह तत्व अन्य सभी तत्वों की प्रेरणा एवं ऊर्जा में सुव्यवस्था एवं यथास्थिति बनाए दखने का प्रयास करता है। उदाहरण के लिए परिवार, विद्यालय एवं धर्म सामाजिक व्यवस्था में तनाव–प्रबन्धन ही नहीं करते अपितु यथास्थिति भी बनाए रखते हैं।

उपर्युक्त चार प्रकार्यवादी पूर्व आवश्यकताओं (अनुकूलन, लक्ष्य–प्राप्ति, एकीकरण एवं यथास्थिति) को हम AGIL के नाम से जानते हैं। हमारा केन्द्रबिन्दु संरचनाओं के विश्लेषण से प्रकार्यों के विश्लेषण की ओर ले जाता है। पारसंस के अनुसार इन तत्वों में पूर्ण विभेद नहीं है अपितु ये कभी–कभी मिले–जुले स्वरूप में भी पाए जाते हैं। इन्हीं के कारण समाज को एक गतिमान साम्यावस्था (Moving Equilibrium) भी कहा जाता है।

पारसंस का क्रिया–सिद्धान्त

पारसंस के इस सिद्धान्त का आधार उनकी चार क्रिया व्यवस्थाओं में ही निहित है। उनकी क्रिया व्यवस्थाओं की पूर्व मान्यताओं में हम क्रमबद्धता की समस्या पाते हैं जो स्वयं पारसंस के लिए भी चिन्ता का विषय रही है एवं यही उनके सिद्धान्तों की प्रमुख आलोचना भी रही है (श्वान एंड बर्ग)। हॉब्स के द्वारा सर्वप्रथम प्रस्तुत की गई यह क्रमबद्धता की समस्या (सभी के विरुद्ध, सभी के द्वारा सामाजिक युद्ध का निरोध) का पूर्व के दार्शनिकों द्वारा दिया गया समाधान (1937) पारसंस के लिए संतुष्टिजनक नहीं था। उनके अनुसार इस समस्या का स्पष्ट समाधान उनके संरचनावादी प्रकार्यवाद में मिलता है। यह निम्न पूर्व मान्यताओं के अनुसार कार्य करता है–

(क) घटकों की क्रमबद्धता एवं पारस्परिकता का अधिकार व्यवस्था में ही निहित होता है।

(ख) प्रत्येक व्यवस्था एक सामंजस्य अथवा स्व–आरोपित क्रमबद्धता की ओर प्रवृत्त होती है।

(ग) एक व्यवस्था नित्यता अथवा क्रमबद्ध परिवर्तनशीलता के अनुसार कार्य करती है।

(घ) व्यवस्था के किसी भी एक अवयव की प्रकृति का स्पष्ट प्रभाव अन्य अवयवों पर भी पड़ता है।

(ङ) प्रत्येक व्यवस्था अपने वातावरण के सन्दर्भ में सीमाएं निर्धारित करती है।

किसी भी व्यवस्था में साम्यावस्था विद्यमान रखने के लिए आवंटन एवं समाकलन (Allocation & Integreetion) आधारभूत प्रक्रियाएं हैं। प्रत्येक व्यवस्था सीमाओं एवं विभिन्न अवयवों के परस्पर सम्बन्ध, पर्यावरणीय चरों के नियंत्रण एवं आंतरिक प्रभावों पर नियंत्रण के द्वारा स्वयं को अनुशासित एवं जीवन्त बनाए रखती है।

उपर्युक्त पूर्व मान्यताएं पारसंस को समाज की क्रमबद्ध संरचना के विश्लेषण के लिए प्रेरित करती हैं।

पारसंस का सामाजिक व्यवस्था सिद्धान्त

पारसंस की सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा अपने सूक्ष्मतम स्तर पर अहं एवं पराहम् के पारस्परिक संवाद से प्रदर्शित होती है। यद्यपि इस सूक्ष्मतम स्तर पर पारसंस ने वृहद विवेचना नहीं की तथापि उन्होंने यह स्वीकारा कि यह पारस्परिक

सम्बन्ध अपने क्लिष्ट स्वरूप में पाया जाता है। पारसंस ने सामाजिक व्यवस्था की निम्न परिभाषा प्रदान की, 'एक सामाजिक व्यवस्था अनेकानेक वैयक्तिक कर्ताओं के परस्पर सम्बन्ध की ऐसी व्यवस्था है जिसके भौतिक एवं प्राकृतिक आयाम होते हैं।' इस व्यवस्था में प्रत्येक कर्ता अधिकाधिक सुख–प्राप्ति (Optimization of Gratification) की प्रवृत्ति से प्रेरित होता है एवं उनके सम्बन्ध पारम्परिक एवं पारस्परिक प्रतीकों से परिभाषित होते हैं।

टिप्पणी

ये परिभाषा पारसंस के विविध कुंजी तथ्यों को भी परिभाषित करती है– यथा कर्ता, पारस्परिक सम्बन्ध, प्रकृति, अधिकाधिक सुख प्राप्ति एवं संस्कृति।

इस पारस्परिक सम्बन्ध को महत्वपूर्ण मानते हुए भी पारसंस ने इसे सामाजिक व्यवस्था की आधारभूत इकाई नहीं माना। वस्तुतः यह सामाजिक व्यवस्था का संरचनात्मक अवयव मात्र है। इसमें स्तर (Status) का आशय सामाजिक व्यवस्था में विशिष्ट संरचनात्मक स्थिति एवं कर्ता की भूमिका पर निर्भर करता है। इस प्रकार कर्ता मात्र विचारों एवं कार्यों से नहीं पहचाना जाता अपितु किसी भी सामाजिक व्यवस्था में वह विविध स्तरों एवं भूमिकाओं का योग मात्र है।

पारसंस सामाजिक व्यवस्था के संरचनात्मक अवयवों के अध्ययन में अतिरुचि लेते हैं। स्तर एवं भूमिका के अध्ययन के साथ ही पारसंस समग्रता, नियम एवं मूल्यों जैसे वृहद सामाजिक अवयवों के अध्ययन में भी रुचि दिखाते हैं। वस्तुतः पारसंस एक संरचनावादी ही नहीं एक प्रकार्यवादी भी हैं। अतः वे सामाजिक व्यवस्था की अनेकानेक प्रकार्यवादी पूर्व मान्यताओं का विवरण देते हैं–

1. किसी भी सामाजिक व्यवस्था की संरचना इस प्रकार होनी चाहिए कि वह अन्य व्यवस्थाओं के साथ काम कर सकें।
2. कोई भी व्यवस्था अपने कर्ताओं की आवश्यकताओं को सार्थक अनुपात में पूर्ण करे।
3. किसी भी व्यवस्था में उसके सदस्यों की पर्याप्त सहभागिता हो।
4. सम्भावित विघटनकारी व्यवहार को नियंत्रित करने की व्यवस्था विद्यमान हो।
5. यदि विवाद विखण्डन की सम्भावनाएं प्रस्तुत करे तो उसे नियंत्रित किया जाए।
6. अंततः किसी भी सामाजिक व्यवस्था को जीवन्त बने रहने के लिए भाषा की आवश्यकता होती है।

पारसंस ने मूल्यों एवं आवश्यकताओं के सम्बन्ध को समाजशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है। नियमों एवं मूल्यों को आत्मसात करके ही कोई कर्ता सामाजिक बन सकता है। अतः स्वयं के हितों की पूर्ति के लिए भी सामाजिक व्यवस्था के हितों को स्वीकारना कर्ता के लिए अनिवार्य है।

एक संरचना–प्रकार्यवादी के रूप में पारसंस ने चार संरचनाओं अथवा समाज की उपव्यवस्थाओं को उनके कार्यों के अनुसार स्वीकार किया (AGIL)। जैसे कि अर्थशास्त्र ऐसी उपव्यवस्था है जो कि उत्पादन एवं वित'रण का कार्य करती है एवं इस प्रकार बाह्य सत्ताओं के प्रति समाज को अनुकूल बनाती है, इसी प्रकार राजनीति लक्ष्य प्राप्ति के लिए निर्धारण, निर्देशन एवं अभिप्रेरणा का कार्य करती है। इसी प्रकार

टिप्पणी

शैक्षिक व्यवस्था एवं समाकलन के द्वारा यथास्थिति के कार्य का सम्पादन किया जाता है।

इसी प्रकार उत्तरदायित्व की व्यवस्था (जैसे कि परिवार एवं विद्यालय, संस्कृति, नियम एवं मूल्य) के हस्तांतरण एवं समाकलन के द्वारा यथास्थिति के कार्य का सम्पादन करते किया जाता है। अतः विभिन्न सामाजिक समुदाय (जैसे कि विधि) विभिन्न अवयवों में सामंजस्य स्थापित करके समाकलन की भूमिका का निर्वहन करते हैं।

शैक्षिक व्यवस्था (Fiduciary System)	**सामाजिक व्यवस्था** (Societal Community)
अर्थ व्यवस्था (Economy)	**राजनीतिक व्यवस्था** (Polity)

प्रकार्यवादी आदेश : समाज एवं उसकी उप–व्यवस्थाएं

सांस्कृतिक व्यवस्था– पारसंस ने संस्कृति को क्रिया व्यवस्था अथवा समाज के विभिन्न तत्वों को बांधने वाले प्रमुख तत्व के रूप में स्वीकार किया। जहां एक ओर सामाजिक व्यवस्थाओं में यह संस्कृति मूल्यों तथा नियमों में परिणित हो जाती है। वहीं वैयक्तिक व्यवस्था में इसे आत्मसात कर लिया जाता है। किन्तु यह सांस्कृतिक व्यवस्था अन्य व्यवस्थाओं का अंश मात्र ही नहीं है अपितु ज्ञान प्रतीकों एवं विचारों के सामाजिक समुच्चय के रूप में इसका अलग अस्तित्व है। सांस्कृतिक व्यवस्था के ये आयाम सामाजिक एवं वैयक्तिक व्यवस्था में उपलब्ध तो होते हैं किन्तु ये उनके अवयव नहीं होते (पारसंस व शिल्स)।

पारसंस ने अपनी अन्य क्रिया व्यवस्थाओं के समान ही सांस्कृतिक व्यवस्था को भी इसकी भूमिका के संदर्भ में परिभाषित किया है। अतः संस्कृति ऐसे प्रतीकों की क्रमिक व्यवस्था है जो कर्ता को अभिप्रेरित करती है, वैयक्तिक व्यवस्था में आत्मसात होते हैं एवं सामाजिक व्यवस्था के संस्थागत स्वरूपों को अभिव्यक्त करते हैं। अपने प्रतीकात्मक एवं व्यक्तिनिष्ठ स्वरूप के कारण संस्कृति का एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था में प्रसार आसानी से हो जाता है। यही कारण है कि इसका फैलाव एक सामाजिक व्यवस्था से दूसरी में एवं शिक्षा तथा समाजीकरण द्वारा एक वैयक्तिक व्यवस्था से दूसरी में हो जाता है। तथापि इसके प्रतीकात्मक–व्यक्तिनिष्ठ स्वरूप के कारण यह अन्य क्रिया व्यवस्थाओं पर नियंत्रण रखने में भी समर्थ होती है। यही कारण है कि पारसंस स्वयं को एक सांस्कृतिक नियतिवादी के रूप में स्वीकार करते हैं।

वैयक्तिक व्यवस्था– वैयक्तिक व्यवस्था न सिर्फ सांस्कृतिक व्यवस्था है अपितु सामाजिक व्यवस्था से भी नियंत्रित रहती है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वैयक्तिक व्यवस्था में समुचित स्वतंत्रता को स्थान नहीं देते।

पारसंस ने व्यक्तित्व (Personality) को क्रिया की प्रेरणा एवं निर्देशन की संगठित व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया। व्यक्तित्व का आधारभूत अवयव आवश्यकता पूर्ति की प्रवृत्ति (Need Disposition) होता है। पारसंस एवं शिल्स ने इस आवश्यकता पूर्ति की प्रवृत्ति को किसी भी कार्य की सर्वाधिक जन्मजात प्रकृति में उत्पन्न आवश्यकता पूर्ति की प्रवृत्ति एवं शारीरिक अभिप्रेरणा से आवश्यकता पूर्ति की प्रवृत्ति को पूर्णतया भिन्न माना है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह प्रवृत्ति जन्मजात नहीं

होती अपितु कार्य पूर्ति की प्रक्रिया में प्राप्त होती है, ये ऐसी मानवीय प्रकृति है जिसका आकार सामाजिक विन्यास से निर्धारित होता है। पारसंस ने तीन आधारभूत आवश्यकता, प्रवृत्तियों की चर्चा की है–

टिप्पणी

1. पहली वे जो सामाजिक सम्बन्धों से प्रेम अथवा अनुमोदन की अपेक्षा रखती हैं,
2. दूसरी वे जो विविध सांस्कृतिक मापकों के आधार पर आत्मसात करने योग्य मूल्यों की अपेक्षा रखती हैं एवं
3. तीसरी वे जो प्रमुख कर्ता की भूमिका एवं उससे उत्पन्न समुचित प्रतिक्रिया की अपेक्षा रखती हैं।

व्यावहारिक जीव– यद्यपि पारसंस ने व्यावहारिक जीव को चार क्रिया व्यवस्थाओं में से एक माना है किन्तु इसके विषय में उन्होंने बहुत कम कहा है। वस्तुतः इसे स्वीकार ही इसीलिए किया गया क्योंकि यह अन्य व्यवस्थाओं के लिए ऊर्जा का स्रोत है। यद्यपि यह अनुवांशिक संरचना पर आधारित होता है किन्तु इसकी संरचना व्यक्तिगत जीवन में विद्यमान समायोजन एवं शिक्षा से भी निर्धारित होता है। पारसंस के सिद्धान्त व्यावहारिक जीवन की अवधारणा की स्पष्टतः एक अवशिष्ट व्यवस्था मात्र है, किन्तु इसे समाजशास्त्र का अंग स्वीकारने के लिए बधाई के पात्र हैं। कारण यह है कि इनके द्वारा पारसंस ने समाजशास्त्र से सामाजिक जीव के महत्व को स्वीकार किया।

अपनी प्रगति जांचिए

5. समाजशास्त्र की एकमात्र विषयवस्तु क्या है?
   (क) असामाजिक क्रिया (ख) सामाजिक क्रिया
   (ग) क्रिया (घ) प्रक्रिया
6. पारसंस ने किसे क्रिया व्यवस्था अथवा समाज के विभिन्न तत्वों को बांधने वाले प्रमुख तत्व के रूप में स्वीकार किया?
   (क) अर्थव्यवस्था को (ख) राजनीति को
   (ग) संस्कृति को (घ) शिक्षा को

3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ख)
3. (ग)
4. (घ)
5. (ख)
6. (ग)

टिप्पणी

3.6 सारांश

मर्टन के अनुसार प्रकार्यवाद का मूल उद्देश्य तथ्यों का विश्लेषण करके उन्हें वृहद संरचनाओं में आरोपित करना है। उनका प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण समाज के स्थिर स्वरूप से हटकर निरन्तर परिवर्तनशील समाज पर रहा। उनका प्रकार्यवाद कोण्ट एवं स्पेन्सर के पारंपरिक प्रकार्यवाद से पूर्णतया भिन्न रहा।

पारसंस के ही समान मर्टन ने भी संरचना प्रकार्यवाद को प्रकार्यात्मक विश्लेषण में परिवर्तित कर दिया एवं इस प्रकार न केवल प्रकार्यात्मक विश्लेषण को प्रधान पटल पर स्थापित किया अपितु इसे प्रामाणिक–सैद्धान्तिक स्तर पर भी ला दिया। मर्टन के अनुसार सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की कुछ समान सामाजिक क्रियाएं होती हैं– ये सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रकार्य समस्त सामाजिक कार्यों की पूर्ति करते हैं एवं इन्हें नकारा नहीं जा सकता।

मर्टन का मूल उद्देश्य यह जानना है कि किस प्रकार कुछ विशिष्ट सामाजिक संरचनाएं व्यक्तियों को स्वीकार्य ही नहीं अपितु अस्वीकार्य आचरण के लिए भी प्रेरित करती हैं। इस संदर्भ में वे समाज के सांस्कृतिक लक्ष्यों एवं संस्थागत नियमों में विभेद करते हैं। तकनीकी रूप से प्रभावी साधनों एवं सांस्कृतिक रूप से वैध साधनों में भेद होता है। ऐसा समाज स्थायी होता है जिसमें ये दोनों ही अनुरूप हों। किन्तु यदि दोनों में अनुरूपता न हो तो समाज अस्थायी हो जाता है एवं सिंगति की स्थिति बन जाती है।

पारसंस के प्राथमिक मार्गदर्शन इस पूर्व मान्यता पर आधारित रहे हैं कि समाजशास्त्र की एकमात्र विषयवस्तु सामाजिक क्रिया है। यह दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से मैक्स वीबर एवं आंशिक रूप से टॉमस हॉब्स के प्रभाव को दर्शाता है। अपनी पुस्तक 'The Structure of Social Action' में पारसंस ने 'सामाजिक क्रिया' के अत्यन्त जटिल सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। इस सामाजिक क्रिया को उन्होंने 'ऐच्छिक व्यवहार' माना है एवं यह विश्लेषण मुख्य रूप से साध्य–साधन संबंध पर आधारित है।

पारसंस की सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा अपने सूक्ष्मतम स्तर पर अहं एवं पराहम् के पारस्परिक संवाद से प्रदर्शित होती है। यद्यपि इस सूक्ष्मतम स्तर पर पारसंस ने वृहद विवेचना नहीं की तथापि उन्होंने यह स्वीकारा कि यह पारस्परिक सम्बन्ध अपने क्लिष्ट स्वरूप में पाया जाता है। पारसंस ने सामाजिक व्यवस्था की निम्न परिभाषा प्रदान की, 'एक सामाजिक व्यवस्था अनेकानेक वैयक्तिक कर्ताओं के परस्पर सम्बन्ध की ऐसी व्यवस्था है जिसके भौतिक एवं प्राकृतिक आयाम होते हैं।' इस व्यवस्था में प्रत्येक कर्ता अधिकाधिक सुख–प्राप्ति (Optimization of Gratification) की प्रवृत्ति से प्रेरित होता है एवं उनके संबंध पारम्परिक एवं पारस्परिक प्रतीकों से परिभाषित होते हैं।

3.7 मुख्य शब्दावली

- **सार्वभौमिक** : सारी पृथ्वी पर फैला हुआ।
- **अन्वेषण** : अनुसंधान।

टिप्पणी

- **प्रच्छन्न** : छिपा हुआ।
- **दुष्कर** : कठिन।
- **खानाबदोश** : जिसका कोई घर, ठिकाना न हो।
- **विसरण** : फैलना।

3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. मर्टन को कैसे प्रकार्यवादी विश्लेषक के रूप में देखा जाता है?
2. मर्टन के अनुसार प्रकार्यवाद का मूल उद्देश्य क्या है?
3. परेटो ने किन व्यक्तियों को अभिजात वर्ग की श्रेणी में रखा है?
4. परेटो के सिद्धांत के बारे में आलोचकों का क्या कहना है?
5. अपनी किस पुस्तक में पारसंस ने 'सामाजिक क्रिया' के अत्यंत जटिल सिद्धांत को प्रस्तुत किया?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. मर्टन के मध्यस्तरीय सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
2. प्रकार्यवाद की आलोचनाओं पर प्रकाश डालिए।
3. परेटो के अभिजात वर्ग के परिभ्रमण सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
4. चार प्रकार्यवादी पूर्व आवश्यकताओं यानी AGIL की समीक्षा कीजिए।
5. पारसंस के सामाजिक व्यवस्था सिद्धांत की मुख्य बातों की समीक्षा कीजिए।

3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. आर.एन. मुखर्जी, 'समाज शास्त्रीय विचारों का इतिहास', विवेक प्रकाशन, दिल्ली।
2. मुखर्जी–अग्रवाल, 'प्रमुख समाज शास्त्रीय विचारक', शिवलाल अग्रवाल एण्ड संस, आगरा।
3. गुप्ता–शर्मा, 'प्रमुख समाज शास्त्रीय विचारक', साहित्य भवन, आगरा।
4. ध्रुव दीक्षित, 'प्रमुख समाज शास्त्रीय विचारक', शिवलाल अग्रवाल एण्ड संस, आगरा।
5. महाजन–महाजन, 'प्रमुख समाज शास्त्रीय विचारक', रामदास एण्ड सन्स, आगरा।
6. Yogendra Singh, 'Modernization of Indian Tradition'.
7. C.A. Coser, 'Masters of Sociological Thoughts'.
8. Raymond Aron, 'Main Currents in Sociological Thoughts', Vol. I & II.

इकाई 4 गांधी, राधाकमल मुखर्जी और अंबेडकर का समाजशास्त्रीय चिंतन

संरचना

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 महात्मा गांधी का समाजशास्त्रीय चिंतन
4.2.1 अहिंसा और सत्याग्रह
4.2.2 संरक्षकता अथवा ट्रस्टीशिप
4.3 राधाकमल मुखर्जी का मूल्यों का समाजशास्त्र
4.4 डॉ. बी.आर. अंबेडकर का समाजशास्त्रीय चिंतन
4.4.1 सामाजिक न्याय
4.4.2 जातिविहीन समतामूलक समाज
4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.6 सारांश
4.7 मुख्य शब्दावली
4.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.9 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

मोहनदास करमचंद गांधी भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सबसे महान नेता थे। 'अहिंसा' और 'सत्याग्रह' के सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हुए गांधी जी ने न सिर्फ अंग्रेजों से भारत को आजादी दिलाई, बल्कि उनके विचारों और नीतियों ने दूसरे देशों को भी स्वतंत्रता के लिए प्रेरित किया। दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी को सत्य और अहिंसा के पुजारी के रूप में जाना गया। स्वतंत्रता संग्राम में भारत के नेतृत्व के लिए गांधी जी को राष्ट्रपिता कहा जाता है। समाजशास्त्र सहित अनेक विषयों पर गांधी जी ने सार्थक लेखन किया।

राधाकमल मुखर्जी का जन्म पश्चिम बंगाल के मुर्शिदाबाद जनपद के छोटे से कसबे बहरामपुर में हुआ था। उच्च शिक्षा हेतु उनहोंने कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कॉलेज में प्रवेश लिया। शिक्षक बनने का लक्ष्य बनाकर उन्होंने समाजशास्त्र एवं अर्थशास्त्र विषयों का चयन करके कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। वे कलकत्ता विश्वविद्यालय से समाजशास्त्र व अर्थशास्त्र की स्नातकोत्तर उपाधि पाने वाले छात्रों के प्रथम समूह में थे।

भीमराव अंबेडकर ने आधुनिक भारत के सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक जीवन पर अमिट छाप छोड़ी। भारत के संविधान निर्माण में उनकी प्रमुख भूमिका थी। वे अस्पृश्यता के उन्मूलन के संघर्ष के लिए भी याद किए जाते हैं। वे स्वतंत्र भारत के प्रथम कानून मंत्री थे। 1990 में उन्हें मरणोपरांत भारत रत्न से सम्मानित किया गया। उन्हें आधुनिक मनु भी कहा जाता है।

इस इकाई में महात्मा गांधी, राधाकमल मुखर्जी व भीमराव अंबेडकर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की चर्चा करते हुए उनके समाजशास्त्रीय चिंतन का समीक्षात्मक अध्ययन किया गया है।

टिप्पणी

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- महात्मा गांधी के समाजशास्त्रीय चिंतन को समझ पाएंगे;
- अहिंसा और सत्याग्रह का मर्म समझ पाएंगे;
- संरक्षकता या ट्रस्टीशिप से अवगत हो पाएंगे;
- राधाकमल मुखर्जी का मूल्यों का समाजशास्त्र समझ पाएंगे;
- डॉ. अंबेडकर के समाजशास्त्रीय चिंतन से परिचित हो पाएंगे;
- सामाजिक न्याय के बारे में जान पाएंगे;
- जातिविहीन समतामूलक समाज की समीक्षा कर पाएंगे।

4.2 महात्मा गांधी का समाजशास्त्रीय चिंतन

महात्मा गांधी ने किसी भी 'वाद' की शुरुआत नहीं की। उन्होंने समय–समय पर राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक विषयों पर अपने विचारों को अभिव्यक्त किया। आगे चलकर विभिन्न लोगों ने इन विचारों को इकट्ठा किया और उसे 'गांधीवाद' का नाम दे दिया। गांधीवाद सिद्धांतों का ढोंग, नियमों या नीतियों, रोक या संकोच का संग्रह नहीं है, बल्कि जीवन का एक रास्ता है। यह जीवन के विषयों के प्रति एक नया नजरिया पेश करता है तथा आधुनिक समस्याओं के लिए प्राचीन निदान उपलब्ध कराता है। महात्मा गांधी के कुछ मूल विचार निम्नानुसार हैं–

1. **कोई राजनीतिक पंथ नहीं, बल्कि शाश्वत सत्य का प्रयोग**– 1936 में, महात्मा गांधी ने कहा था, "गांधीवाद जैसी कोई चीज नहीं है, और मैं अपने बाद कोई पंथ छोड़कर नहीं जाना चाहता। मैं यह दावा नहीं करना चाहता कि मैंने कोई नया सिद्धांत या मत दिया है। मैंने इतना भर प्रयास किया है कि शाश्वत सत्य को हमारे दैनिक जीवन और उसकी समस्याओं पर कैसे लागू किया जाए। इसलिए मेरे द्वारा किसी प्रकार की संहिता छोड़ जाने का प्रश्न नहीं है, जैसे कि मनु संहिता थी।"

   गांधी के विचार रस्किन, थोरो और टॉल्स्टॉय से प्रभावित थे। उनके राजनीतिक विचारों में धार्मिक सिद्धांतों को भी शामिल किया गया था। गांधी मानते थे कि वेदों, भगवद् गीता, बाइबल, कुरान और अन्य शास्त्रों ने उनके विचारों को प्रभावित किया है। गांधीवादी विचारों की नींव सत्य पर रखी गई थी। गांधी के अनुसार, "सत्य मेरे लिए संप्रभु सिद्धांत हैं, जिसमें कई अन्य सिद्धांत शामिल हैं, तथा हमारी संकल्पना का आधार सापेक्षिक सत्य नहीं है, बल्कि संपूर्ण सत्य है और वह शाश्वत सिद्धांत है, जिसे ईश्वर कहते हैं। ईश्वर की कई परिभाषाएं

हैं, क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति असंख्य रूप में होती है। वे मुझे आश्चर्य और विस्मय से अभिभूत कर देते हैं और कुछ पलों के लिए तो मुझे सन्न कर देते हैं। लेकिन मैं ईश्वर को सिर्फ सत्य के रूप में ही पूजता हूं।" इस प्रकार, गांधी के विचारों में सत्य को एक महास्थान प्राप्त है। गांधी का सत्य कोई विशिष्ट या गैर–परंपरागत अवधारणा नहीं थी, उन्होंने बस इस शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया कि सबसे आम आदमी और ज्यादातर मुख्य धारा के दार्शनिक भी उसे सहजता से स्वीकार कर सकें। सत्य का इस्तेमाल सरल रूप में यथार्थ के लिए किया जाता है, और हमारे तथा इसके बीच एक अनुकूलता का संबंध होता है। इसलिए एक विश्वास तब तक सत्य होता है जब तक वह यथार्थ के अनुरूप होता है। 'सत्य ही ईश्वर है' क्योंकि यह उच्चतम अच्छाई है, जो हमारे अस्तित्व का स्वाभाविक लक्ष्य होता है। गांधीवादी दर्शन के मुताबिक, मनुष्य अनिवार्य रूप से सत्य की तलाश करने वाले होते हैं। यह हमारा स्वतंत्र विवेक होता है – यथार्थ से संगत विश्वासों को ग्रहण करने की हमारी क्षमता होती है तथा अपने व्यवहारों को मानदंड पर कसे गए सिद्धांतों के अनुरूप ढालने की क्षमता होती है, जिससे हमारे जीवन को मायने मिलते हैं और जिन्हें नैतिकता पर आधारित होना चाहिए।

2. **राजनीति का अध्यात्मीकरण**– अकसर राजनीतिक विचारकों और इतिहासकारों में इस बात को लेकर बहस छिड़ी कि क्या गांधी राजनीतिज्ञों के बीच एक संत थे या संतों के बीच एक राजनीतिज्ञ। इसके बावजूद, यह कहा जा सकता है कि गांधी उस प्रकार के नेता नहीं थे जैसा कि सामान्य रूप से नेताओं के बारे में सोचा–समझा जाता है। उन्होंने अपने अहिंसात्मक आंदोलन की शुरुआत के समय उसके लिए अपनाए जाने वाले तौर–तरीकों को चुनने में असामान्य चातुर्य और बुद्धि का परिचय दिया। इसी ने उन्हें उन सारे राजनीतिज्ञों का आदर्श बना दिया, जो भारत की स्वतंत्रता के संघर्ष में शामिल थे।

   एक बार गांधी ने कहा था कि नेताओं को त्याग और सेवा की भावना से प्रेरित होना चाहिए। उन्होंने साधनों के इस्तेमाल पर जोर देते हुए कहा था कि सही और न्यायपूर्ण साध्य की प्राप्ति के लिए उचित और न्यायपूर्ण रास्तों को ही अपनाना चाहिए। इस प्रकार उनके मुताबिक, चाहे किसी भी दृष्टिकोण से देखा जाए साधन और साध्य दोनों एक ही हैं। गांधी ने अपने पूरे जीवन में राजनीति में नैतिक मूल्यों को शामिल किये जाने पर जोर दिया ताकि इसे भौतिकवाद के मूल्यों से मुक्त रखा जाए। इस प्रकार उन्होंने राजनीति में 'अध्यात्मिक' मूल्यों का समावेश किया।

3. **राज्य एक निष्प्राण मशीन है जो व्यक्तित्व को नष्ट कर देता है**– अहिंसा और दार्शनिक अराजकतावाद के समर्थक गांधी, राज्य के खिलाफ थे। उनके राज्य विरोधी दृष्टिकोण को ऐतिहासिक, नैतिक और आर्थिक आधारों पर जायज ठहराया गया था। गांधी के अनुसार, राज्य ताकत का प्रयोग करता है और उसके अस्तित्व को नैतिक आधारों पर सही नहीं ठहराया जा सकता है। ताकत के प्रयोग से राज्य किसी व्यक्ति के कार्य को नैतिक मूल्यों से विहीन कर देता है। व्यक्ति के अंदर एक आत्मा होती है, लेकिन राज्य चूंकि एक निष्प्राण

मशीन है इसलिए, 'इसे उस हिंसा से कभी अलग नहीं किया जा सकता जिसके कारण उसका अस्तित्व है।' राज्य व्यक्तित्व को नुकसान पहुंचाकर प्रगति में बाधक बनता है और शक्ति पर अपनी बहुत ज्यादा निर्भरता से यह बेहद नुकसानदेह साबित होता है। गांधी एक राज्य विहीन लोकतंत्र को आदर्श मानते थे, जिसमें ग्रामीण समुदायों का एक संघ हो, जो स्वैच्छिक सहयोग से कार्य करते हों और जिनका शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व हो। गांधी ने लिखा, 'इस प्रकार प्रत्येक गांव एक गणतंत्र या पंचायत होगा जिसके पास पूरे अधिकार होंगे।' इस प्रकार, इसके मुताबिक प्रत्येक गांव को आत्मनिर्भर और अपने मामले खुद निपटाने में सक्षम होना होगा, यहां तक कि पूरे विश्व के सामने अपनी रक्षा की आवश्यकता हो तो वह भी कर सके। इस प्रकार का समाज अधिकाधिक रूप से सुसंस्कृत होता है जहां प्रत्येक पुरुष या स्त्री को यह ज्ञान होता है कि उसे क्या चाहिए और क्या जरूरत से ज्यादा है। वे यह भी जानते हैं कि किसी को भी इतनी इच्छा रखने का अधिकार नहीं है कि समान श्रम से दूसरे लोग उसे प्राप्त न कर सकें।

4. **विकेंद्रीकरण, भोजन, श्रम और वर्ग–विहीन समाज**– किसी भी लोकतंत्र में जो अस्तित्व में है, वहां काफी हद तक केंद्रीकरण और असमानता होती है, जबकि गांधीवाद ने ज्यादा जोर विकेंद्रीकरण और समानता पर दिया है। गांध ी ने लिखा है, "यदि सभी किसी दूसरी चीज की बजाय अपने अपने भोजन के लिए श्रम करें तो सभी के लिए पर्याप्त खाना और पर्याप्त आराम का समय होगा। फिर न अधिक जनसंख्या की चीख–पुकार मचेगी, न बीमारी होगी और न ही ऐसी गरीबी जो हम अपने आसपास देखते हैं। कोई अमीर नहीं होगा, कोई गरीब नहीं रहेगा, न कोई ऊंचा होगा न नीचा, न स्पृश्य और न ही अस्पृश्य।"

   गांधीवाद इस बात को मानता है कि राज्य जिस रूप में अभी है, उसमें व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो जाता है, जबकि राज्यविहीन लोकतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को सर्वाधिक स्वतंत्रता दी जाती है ताकि वह स्वयं को अपने कौशल और क्षमता के अनुसार समाज सेवा में लगा सके। एक आलोचक के मुताबिक, "गांधी वर्ग–विहीन, समतावादी समाज में विश्वास करते थे जहां अमीर और गरीब, ऊंचा और नीचा का कोई भेद नहीं होगा। कुछ मामलों में, वह रूढ़िवादी समाजवादियों से भी यहां तक आगे निकल गए कि वह किसी को भी अनिवार्य रूप से समाज के लाभदायक सशरीर–श्रम से मुक्त करने को तैयार नहीं थे।"

   गांधी व्यापक रूप से केंद्रीकृत उत्पादन के भी खिलाफ थे, और वह चाहते थे कि भारत में विकेंद्रीकृत उत्पादन को अपनाया जाए। इसके पीछे मशीनरी को पूरी तरह से हटाने का विचार नहीं था, बल्कि सत्ता को कुछ लोगों के हाथों में जाने से रोकना था। गांधीवादी अर्थव्यवस्था की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएं इस प्रकार हैं–

   - मशीनी, बड़े पैमाने की या सामूहिक खेती की बजाय गहन, लघु और सहकारी खेती;
   - कुटीर उद्योगों का विकास;

टिप्पणी

- निजी स्वामित्व, बशर्ते उससे समाज का फायदा हो;
- पशु, मनुष्य और पौधों के जीवन में व्यवस्थित संतुलन;
- सामाजिक न्याय तथा सभी को समान आर्थिक अवसरों का प्रावधान;
- विकेंद्रीकरण के माध्यम से अर्थव्यवस्था और ग्राम पंचायतों का संगठन।

5. **अहिंसा**– महात्मा गांधी विचारों, शब्दों और कर्मों से हिंसा के विरुद्ध थे। महात्मा गांधी के अनुसार, "अहिंसा इतनी असभ्य चीज नहीं है जैसा कि इसे बना दिया गया है। इसमें कोई शक नहीं कि किसी जीवित वस्तु को चोट न पहुंचाना अहिंसा है, लेकिन यह इसका सबसे संक्षिप्त वर्णन है। अहिंसा का सिद्धांत यह कहता है कि किसी से झूठ बोलकर, नफरत से व्यवहार करना या उसे नुकसान पहुंचाने की बात सोचना भी हिंसा है। इसका उल्लंघन इस प्रकार भी होता है कि विश्व को जिसकी आवश्यकता है उसे हम अपने कब्जे में कर लें।"

6. **संपत्ति भरोसे का न कि शोषण का औजार हो**– गांधी संपत्ति का इस्तेमाल शोषण के औजार के रूप में किये जाने के खिलाफ थे। गांधी के अनुसार, पूंजीवाद और शोषण को अहिंसात्मक उपायों से हटाया जाना चाहिए। न्यासिता के गांधी जी के सिद्धांत ने निजी और गैर–निजी संपत्ति में कोई भेद नहीं किया। गांधी के लिए, सारी संपत्ति ट्रस्ट के नियंत्रण में होनी चाहिए। फिर चाहे उसका स्वामी कोई भी हो या फिर उसकी मात्रा और प्रकृति कैसी भी हो। इसका अर्थ है कि समाज की वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था को समतावादी समाज की व्यवस्था में बदला जाए। संपत्ति को मुनाफे का साधन नहीं बल्कि लोगों के कल्याण का साधन होना चाहिए। गांधी ने कहा था, "किसी के पास उसकी जरूरत से ज्यादा संपत्ति नहीं होनी चाहिए।"

7. **अच्छा साध्य और अच्छे साधन**– गांधी जी अच्छे साध्य और अच्छे साधन के पक्ष में थे। उनके अनुसार, साध्य कभी भी साधन को सही नहीं ठहरा सकता है। गांधीवादी राज्य की स्थापना के लिए, सिर्फ न्यायोचित साधनों का इस्तेमाल होना चाहिए। अहिंसा और सत्य गांधी की तकनीकों की आत्मा है। गांधी ने एक बार कहा था, "साधनों की तुलना बीजों से, साध्य की वृक्ष से की जानी चाहिए और तब यह देखा जा सकता है कि जैसा पवित्र रिश्ता साधन और साध्य का है, वैसा ही बीज और वृक्ष का भी होता है।" इस प्रकार, साध्य और साधन हर हाल में अच्छे होने चाहिए।

8. **सत्याग्रह**– गांधी के लिए, सत्याग्रह अहिंसात्मक आंदोलन का हथियार है। गांधी के अनुसार, बुराई का विरोध सत्याग्रह की तकनीकों से किया जाना चाहिए, जो आत्मा के बल पर काम करने वाला एक हथियार है और जो शारीरिक बल से भी उच्च कोटि का है। सत्याग्रह का अर्थ है 'सत्य से जुड़ा हुआ और चूंकि गांधी के सत्य ही ईश्वर हैं, इसलिए सत्याग्रह का सामान्य शाब्दिक अर्थ यह हुआ कि यह जीने का ऐसा तरीका है जिसे ईश्वर में विश्वास करने वाला व्यक्ति अपनाता है और ईश्वर के प्रति अपने जीवन को समर्पित कर देता है। इस प्रकार एक सच्चा सत्याग्रही देवात्मा है।'

महात्मा गांधी ने सत्याग्रह का अर्थ निम्नानुसार समझाया है—

मैंने सत्याग्रह शब्द को दक्षिण अफ्रीका में गढ़ा था जिसका इस्तेमाल वहां रहने वाले भारतीयों ने अपनी भावनाओं को अगले आठ वर्षों तक अभिव्यक्त करने के लिए पूरी ताकत से किया। साथ ही मैंने इस आंदोलन को यूनाइटेड किंग्डम और दक्षिण अफ्रीका में चल रहे शांतिपूर्ण आंदोलन से अलग करने के लिए भी सत्याग्रह शब्द को गढ़ा। इसका मूल अर्थ है 'सत्य के साथ रहना या सत्य की शक्ति। मैंने इसे प्रेम—बल या आत्म—बल भी नाम दिया है।' सत्याग्रह इनका रूप भी ले सकता है—(क) असहयोग, (ख) उपवास, (ग) हड़ताल, (घ) सविनय अवज्ञा, (ङ) धरना, (च) हिजरत यानी स्वैच्छिक निर्वासन। किसी भी सत्याग्रही को अहिंसात्मक आंदोलन चलाने के लिए, खुद को अनुशासन, शुद्धता, साहस और सविनय से लैस करना होगा।

9. **राष्ट्रवाद और अंतर्राष्ट्रीयता के बीच सद्भाव**— गांधी ने राष्ट्रवाद के महत्व को उसके सबसे आदर्श रूप में रखने पर जोर दिया है। वह हिंसा और आक्रामक तौर—तरीकों पर आधारित राष्ट्रवाद के विरुद्ध थे। वह विश्व शांति के पक्षधर थे, और चाहते थे कि राष्ट्रवाद और अंतर्राष्ट्रीयता के बीच सद्भाव हो। किसी भी देश के नागरिकों को देशभक्त होना चाहिए, लेकिन उन्हें दूसरे देश के लोगों के साथ भी दोस्ताना संबंध रखने चाहिए। एक बार उन्होंने कहा था, "गहन अंतर्राष्ट्रीयता ही मेरा राष्ट्रवाद है।"

10. **अस्पृश्यता**— अस्पृश्यता के खिलाफ चलाया गया आंदोलन, गांधी की विचारधारा का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू था। सितंबर, 1932 में, गांधी ने नये संविधान के मुताबिक किये गए चुनावी इंतजामों में तथाकथित 'अस्पृश्यों' के खिलाफ बरते जा रहे भेदभाव के विरुद्ध उपवास शुरू कर दिया। गांधी का उपवास उस जड़ता और पूर्वाग्रह से तर्क को अलग करना था जिसने अस्पृश्यता जैसी बुराई को फलने—फूलने दिया था, जिसने लाखों हिंदुओं को अपमान, भेदभाव और कष्ट के अभिशाप में धकेल दिया था।

    उपवास की घोषणा के तुरंत बाद, लोगों की भावनाएं उमड़ने लगीं। मंदिरों, कुओं और सार्वजनिक स्थलों के दरवाजे 'अस्पृश्यों' के लिए खोल दिए गए। हिंदू नेताओं ने अस्पृश्यों के प्रतिनिधियों से मुलाकात की। एक वैकल्पिक चुनावी व्यवस्था पर सहमति बनी तथा उसे ब्रिटिश सरकार की मंजूरी मिलने के बाद ही गांधी ने अपना उपवास खत्म किया। इसके बाद गांधी ने अपने आप को पूरी तरह अस्पृश्यता के विरुद्ध चलाए जा रहे आंदोलन के प्रति समर्पित कर दिया। गुजरात के संत कवि नरसिंह मेहता ने 15वीं सदी में देवदासियों के बच्चों को पुकारने के लिए हरिजन शब्द का इस्तेमाल किया था। गांधी जी ने इस शब्द को अपनाया और 'अस्पृश्यों' को हरिजन कहने लगे। गांधी की प्रेरणा से, एक नये संगठन हरिजन सेवक संघ की स्थापना हुई जिसने अस्पृश्यता के खिलाफ संघर्ष किया और जिसके तहत एक नया साप्ताहिक अखबार 'हरिजन' शुरू हुआ। हालांकि, यहां इस बात का जिक्र करना महत्वपूर्ण है कि भीमराव अंबेडकर समेत कई लोगों ने गांधी के आंदोलन की कड़ी आलोचना की।

4.2.1 अहिंसा और सत्याग्रह

टिप्पणी

गांधीजी के अंहिसा संबंधी विचार

गांधीजी अंहिसा के विचार के मौलिक विचारक नहीं थे, परंतु वह राजनीति में वृहत स्तर पर अंहिसा का प्रयोग करने वाले प्रथम व्यक्ति थे। अंहिसा जैसी कि गांधीजी द्वारा अनुकरण व क्रियान्वित की गई अपने–आप में शत्रु के समक्ष आत्मसमर्पण कर देने का नाम नहीं है। संक्षेप में, हम इसको सत्याग्रह कह सकते हैं, जिसका अर्थ है– पूर्ण नैतिकता व अध्यात्मिक शक्ति के द्वारा बुराई का प्रतिकार। अंहिसा हमारा आत्मिक बल है, तथा भगवान की वह शक्ति है, जो कि हममें ही निहित है। यह आत्मबलिदान में निहित है तथा आत्मपीड़ा से प्रेरित है। गांधीजी के शब्दों में, ''बुराई के सामने यह कमजोर का आत्मसमर्पण नहीं है। यह एक नकारात्मक शक्ति नहीं है, यह एक ऐसा सकारात्मक बल है, जो कि विद्युत से भी ज्यादा सकारात्मक है। अति हिंसा को अति अंहिसा के द्वारा ही मारा जा सकता है। यह सकारात्मक, गतिशील व निर्माणकारी है।''

सत्याग्रह अहिंसक आंदोलनों का शस्त्र है। गांधीजी के अनुसार यह उनके द्वारा सफलतापूर्वक अनुकरण किया जाता है, जो कि शारीरिक और नैतिक रूप से पूर्णतयाः मजबूत हैं, परंतु उनके द्वारा नहीं जो कि नैतिक रूप से कमजोर हैं। गांधीजी की तकनीक का सबसे प्रारम्भिक बिंदु था कि अंहिसा कमजोर लोगों की ताकत है। यह औरतों, बच्चों तथा उन अशिक्षितों द्वारा भी प्रयोग की जा सकती है, जो कि साधारणतया कमजोर समझे जाते हैं। सत्याग्रह का मतलब है– बुराई के प्रतिरोध में गैर–अहिंसक तरीकों का प्रयोग, न कि बुराई के प्रतिरोध में बुराई। यह बुराई पर अच्छाई की जीत है। सत्याग्रह का सबसे मूलभूत सिद्धांत है 'सत्य'। इसीलिए यह सत्य के लिए संघर्ष है। एक सत्याग्रही जो कि अहिंसक संघर्ष कर रहा है, उसे यह देखना चाहिए कि जिसके लिए वह लड़ रहा है, वह एकदम उचित होना चाहिए, ताकि ईश्वर भी उसको मार्ग दिखा सके। जब भी उसे लगे कि सत्य के सिद्धांतों का उल्लंघन हो रहा है, तो उसे इसे स्वीकार करने में हिचकना नहीं चाहिए, और वह सब त्याग देना चाहिए जो कि उसने अनुचित माध्यमों से प्राप्त किया है। एक सत्याग्रही के लिए सत्य जीत से ज्यादा महत्वपूर्ण है। इस प्रकार अहिंसक संघर्ष सत्य के सिद्धांत की अनुभूति के बिना असंभव है। यह आधे–अधूरे मन से नहीं किया जा सकता। गांधीजी के अनुसार, यह कहना पर्याप्त नहीं है कि ईश्वर सत्य है, बल्कि सत्य ईश्वर है। इस प्रकार सत्य सत्याग्रही को भगवान के समीप लाता है क्योंकि वह अपनी आज्ञा उसी से लेता है।

गांधीजी का मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति में ईश्वर का कुछ न कुछ अंश है और सत्याग्रही इस दैवीय तत्व को प्रेम व आत्म कष्ट के साथ मनुष्य में प्रेरित कर सकता है। सत्याग्रही को मनुष्य की प्रकृति में सोए हुए नैतिक तत्व को जगाना होता है, प्रेम और आत्म कष्ट के द्वारा।

अगर सत्य अहिंसा का मूलभूत आधार है, तो प्रेम एक माध्यम है, जिसके द्वारा यह प्राप्त किया जाता है। गांधीजी के शब्दों में, प्रेम पत्थर से पत्थर दिल को पिघला देता है। गांधीजी ने बल का प्रतिकार किया, तथा वे अपने विरोधी को अनुनय–विनय

टिप्पणी

के द्वारा समझाना चाहते थे। उनका यह भी मानना था कि एक व्यक्ति बुरे व्यक्ति से नफरत किए बिना बुराई से नफरत कर सकता है। उन्होंने ब्रिटिश से अपने संबंध में कई अवसरों पर इस बात को साबित भी किया। वे कहते थे ''यदि मेरा प्रेम निश्चल है, तो मुझे अंग्रेजों से मेरे अविश्वास के बावजूद प्रेम करना चाहिए।'' एक दूसरे अवसर पर उन्होंने कहा था, ''गांधी की लड़ाई साम्राज्यवाद से थी, किसी अंग्रेज से नहीं।''

अंहिसा के क्रियान्वयन में, प्रेम इसका आधार है, सत्य इसका शस्त्र। अहिंसा में प्रेम के महत्व को स्वीकार करते हुए गांधीजी लिखते हैं, ''प्रेम कभी दावा नहीं करता, यह हमेशा देता है, प्रेम स्वयं कष्ट सह सकता है, परंतु कभी बदले की भावना से प्रेरित नहीं होता है।'' इस प्रकार गांधीजी के लिए अहिंसा जीवन का पूर्ण दर्शन था। यह सारी मानवता के लिए था। गांधीजी का अपने अनुयायियों की अच्छाई में पूर्ण विश्वास था, जैसा कि उनका स्वयं का ईश्वर में अटूट विश्वास था। गांधीजी का मानवीय सम्भावनाओं में पूर्ण विश्वास था, और उनका मानना था कि मानवीय प्रकृति भूल सुधार से कभी परे नहीं है, अर्थात गलती को सुधारा जा सकता है। साधारणतया सत्याग्रह और उपवास को नैतिक दवाब का साधन मानकर उनकी आलोचना की जाती है। परंतु गांधीजी का मानना था कि सत्याग्रह और उपवास, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक व नैतिक दृष्टि से किसी भी तरीके से दवाब के साधन नहीं हो सकते। उपवास महात्मा गांधी के लिए एक प्रार्थना थी। उनका मानना था उपवास हमारी तामसिक मनोवृत्तियों को पवित्र करता है तथा हमारी आत्मा को सद् कार्यों के लिए प्रेरित करता है। उपवास के विषय में गांधीजी का पूर्ण विश्वास था कि व्रत शरीर, मस्तिष्क और आत्मा को साफ रखता है। यह हमारी तामसिक मनोवृत्तियों को पवित्र करता है, जिसके फलस्वरूप आत्मा की मुक्ति के द्वार खुल जाते हैं। गांधीजी का मानना था कि उनके पास उपवास की आवाज ईश्वर की आवाज के रूप में आई, जो कि उन्हें मानसिक व अध्यात्मिक संघर्ष के बाद मिली थी। उनके उपवास का उद्देश्य था लोगों को नैतिक रूप से प्रभावित किया जाए। सत्याग्रह व उपवास दोनों ही आत्मकष्ट से प्रेरित हों, इनका उद्देश्य है कि मनुष्य में सोए हुए नैतिक मानव को जगाया जाए। इनका तात्पर्य लोगों की सोयी हुई अंतरात्मा को जगाने से है। गांधीजी का अपने शत्रु की नैतिक क्षमता में एक बच्चे की तरह अटूट विश्वास था। एक सत्याग्रही को एक अहिंसक युद्ध लड़ने के लिए अपने–आप को आत्म–अनुशासन, सभ्यता व आंतरिक पवित्रता से तैयार करना पड़ता है। गांधीजी लिखते हैं कि एक सत्याग्रही को गरीबी धारण करनी चाहिए। ईमानदारी से निरीक्षण करना चाहिए, सत्य का अनुपालन करना चाहिए। एक सत्याग्रही को निर्भीकता को उत्पन्न करना चाहिए। एक सत्याग्रही को निर्भीक होना चाहिए तथा कायरता को त्याग देना चाहिए। गांधीजी कहते हैं, निर्भीकता स्वार्थ से बाहर आती है। जब एक व्यक्ति अपने–आप को पीछे हटा लेता है, अपना स्वार्थ त्याग देता है तब डरने वाली कोई बात नहीं होती। गांधीजी के शब्दों में, ''अगर तुम सत्य का अनुकरण करना चाहते हो, उसके लिए निर्भीकता आवश्यक शर्त है।''

निर्भीकता अध्यात्मिकता की पहली शर्त है। एक सत्याग्रही को हमेशा सांसारिक वस्तुओं से विमुख रहना चाहिए। सांसारिक चीजों से अलगाव एक सत्याग्रही को

आवश्यक आंतरिक पवित्रता व चरित्र की श्रेष्ठता प्रदान करता है। एक सत्याग्रही को पूर्ण रूप से अनुशासित होना चाहिए, क्योंकि अनुशासन के अभाव में मस्तिष्क अपेक्षित दृढ़ता नहीं प्राप्त कर सकता।

टिप्पणी

अहिंसक संघर्ष में हमें परिणाम के लिए शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। इसके लिए महान धैर्य की आवश्यकता होती है क्योंकि कई बार अहिंसक तरीके हिंसक साधनों की अपेक्षा देरी से परिणाम देते हैं। अहिंसक कार्यकर्ता हार के बारे में नहीं जानता, क्योंकि उसका ईश्वर में असीम विश्वास होता है।

सत्याग्रह

सत्याग्रह का अर्थ है सत्य का आग्रह। यह एक अध्यात्मिक शक्ति है। गांधी जी के शब्दों में "सत्याग्रह आत्मा की शक्ति है। सत्य का आग्रह है, यह सत्य पर आग्रह दूसरों को कष्ट देकर नहीं वरन, अपने ऊपर कष्ट सहन करने को कहता है।" गांधी ने सत्याग्रह शब्द का इस्तेमाल 1906 में दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद वाली सरकार के खिलाफ चलाए गए अहिंसात्मक आंदोलन के लिए किया था। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में शामिल होने के दौरान, गांधी ने इसे एक प्रेम–बल या आत्म–बल के रूप में इस्तेमाल किया जो अहिंसात्मक था और जिसका लक्ष्य सत्य की खोज था। गांधी के लिए सत्याग्रह, सत्य की विजय था, जिसे विरोधी की बजाय खुद कष्ट सहकर हासिल करना था। सत्याग्रह ने हमेशा साधनों और साध्यों की शुद्धता पर जोर दिया। यह अन्याय, अत्याचार या बुराई के विरुद्ध लड़ने वाले नैतिक व्यक्ति के हाथों में एक नैतिक हथियार है तथा इसका इस्तेमाल किसी भी परिस्थिति में किया जा सकता है। गांधी के अनुसार "यह ऐसा बल है जिसका प्रयोग व्यक्तियों के साथ–साथ समुदायों के द्वारा भी किया जा सकता है। इसे राजनीतिक मामलों के साथ–साथ घरेलू मामलों में भी लागू किया जा सकता है। सार्वभौमिक रूप से लागू किये जाने की इसकी क्षमता ही इसके स्थायित्व और अजेय होने का प्रमाण है।"

सार्वजनिक जीवन में सत्याग्रह के प्रयोग से पहले, एक सत्याग्रही को घरेलू या अपने व्यक्तिगत जीवन में इसका प्रयोग करना चाहिए। परोपकार की तरह ही, सत्याग्रह की शुरुआत भी घर से ही होनी चाहिए। चाहे घरेलू जीवन हो या सार्वजनिक जीवन, सत्य की तलाश करने वाले एक व्यक्ति पर आचार संबंधी बड़ा दायित्व होता है। उसका लक्ष्य समाज सेवा और त्याग की बदौलत आत्मबोध की प्राप्ति करना होता है। एक सत्याग्रही के लिए, सत्याग्रह एक ऐसा हथियार है जिसका इस्तेमाल सदैव जनता की भलाई के लिए किया जाना चाहिए। कभी भी इसका अपने निजी स्वार्थ के लिए प्रयोग नहीं होना चाहिए। अनैतिक कार्यों को सही ठहराने तथा गलत तरीके से उठाए गए फायदे को जायज ठहराने के लिए भी इसका प्रयोग उचित नहीं है। सत्याग्रह में वैमनस्य और नफरत के लिए कोई स्थान नहीं है। एक सत्याग्रही अपने विरोधी के विषय में विजयी या पराजित की तरह नहीं सोचता है।

यह सदैव याद रखना चाहिए कि सत्याग्रह निष्क्रिय प्रतिरोध के समान नहीं है। यह सच है कि दोनों ही शांतिपूर्ण तरीके हैं जिनका प्रयोग आक्रामकता के विरुद्ध और सामाजिक तथा राजनीतिक बदलावों के लिए किया जाता है। फिर भी, दोनों में अंतर

है। निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग एक राजनीतिक हथियार के तौर पर औचित्य के लिए किया जाता है लेकिन सत्याग्रह एक नैतिक हथियार है जो क्रूर बल के विरुद्ध आत्मबल की सर्वोच्चता को स्थापित करता है। निष्क्रिय प्रतिरोध कमजोर का हथियार है जबकि सत्याग्रह का प्रयोग सिर्फ साहसिक व्यक्ति ही कर सकता है। निष्क्रिय प्रतिरोधी अपने विरोधी को शर्मसार कर घुटने टेकने पर मजबूर करने का लक्ष्य रखता है जबकि एक सत्याग्रही राह से भटके विरोधी को प्रेम और धैर्य के साथ कष्ट सहते हुए जीतने की कोशिश करता है। निष्क्रिय प्रतिरोध में विरोध के लिए प्रेम का कोई स्थान नहीं होता। सत्याग्रह में वैमनस्य के लिए कोई जगह नहीं होती। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान, गांधी के एक करीबी सहयोगी, महादेव देसाई ने कहा था, "सत्याग्रह गतिशील है, जबकि निष्क्रिय विरोध जड़ होता है। निष्क्रिय विरोध नकारात्मक रूप से कार्य करता है और शायद ही कभी कष्ट सहता है। सत्याग्रही सकारात्मक रूप से कार्य करता है और खुशी से कष्ट सहता है क्योंकि वह अपने प्रेम से कष्ट को भी फलदायी बना देता है। निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग सार्वभौमिक रूप से नहीं किया जा सकता है। इसे सत्याग्रह की तरह अपने बेहद करीबी लोगों के विरुद्ध प्रयोग में नहीं लाया जा सकता है। कमजोरी और हताशा की स्थिति में प्रयोग किया जाने वाला निष्क्रिय विरोध विरोध करने वाले को मानसिक और नैतिक रूप से और भी कमजोर कर देता है। निष्क्रिय विरोध के मुकाबले सत्याग्रह अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध अधिक प्रभावी और दृढ़ हथियार साबित होता है।"

सत्याग्रह के स्वरूप और तकनीक

सत्याग्रह की तकनीक असहयोग, सविनय अवज्ञा या उपवास और हड़ताल में से किसी भी रूप में हो सकती है। जहां तक असहयोग की बात है, तो गांधी ने कहा था कि अत्याचार और शोषण को लोगों के असहयोग से रोका जा सकता है। यदि लोगों ने सरकार का सहयोग करने से इनकार कर दिया, तो उसका चलना मुश्किल हो जाएगा। गांधी ने कहा था, "सबसे ज्यादा तिरस्कृत सरकार भी उन शासितों की सहमति के बिना नहीं चल सकती, जिनकी सहमति अकसर किसी तानाशाह के द्वारा बल से प्राप्त की जाती है। जैसे ही प्रजा के मन से तानाशाह का भय निकल जाता है, उस तानाशाह की शक्ति निष्प्रभावी हो जाती है।"

असहयोग आंदोलन हड़ताल या धरना जैसे रूप भी ले सकता है। हड़ताल में काम बंद किये जाने को विरोध के एक तरीके के रूप में अपनाया जाता है जिसका उद्देश्य लोगों और सरकार की सोच को जगाना होता है। हड़ताल तभी असरदार होती है, जब उसमें लोग स्वेच्छा से बिना किसी दबाव के शामिल हों। गांधी के अनुसार, "शांतिपूर्ण धरने का अर्थ किसी व्यक्ति को उसके किसी कार्य से रोकना नहीं होता बल्कि लोगों के तिरस्कार के बल पर भरोसा करना और ठगों को शर्मसार करना होता है। धरना दिए जाने के दौरान जोर–जबरदस्ती, धमकी, अपमान का प्रयोग, पुतलों को दफन करने या जलाने तथा भूख हड़ताल से बचना चाहिए।"

गांधी के द्वारा सुझाया गया सत्याग्रह का एक और तरीका है 'सविनय अवज्ञा'। गांधी ने इसे 'शस्त्र क्रांति का एक संपूर्ण प्रभावी और रक्तहीन विकल्प' कहा था। सविनय अवज्ञा का अर्थ है 'नागरिकों द्वारा कानून की अहिंसात्मक रूप में

टिप्पणी

अवज्ञा।' अपनी सविनय अवज्ञा की अवधारणा को आगे बढ़ाते हुए गांधी ने सबसे ज्यादा जोर 'नागरिक' शब्द पर दिया। उन्होंने कहा था, 'अवज्ञा को अनुशासित, आदरपूर्ण, नियंत्रित और कभी भी विद्रोही नहीं होना चाहिए तथा कुछ सिद्धांतों को भलीभांति समझकर किया जाना चाहिए, साथ ही इसके पीछे कभी भी स्वेच्छाचारी और वैमनस्य तथा नफरत की भावना नहीं होनी चाहिए।' यही नहीं, 'इसका प्रयोग सभी संभव नियंत्रणों के साथ किया जाना चाहिए। संभव हो तो इसका प्रावधान पहले से बना लिया जाना चाहिए कि हिंसा भड़कने या सामान्य अराजकता के दौरान क्या कदम उठाए जाएंगे। मामले के अनुसार इसका इलाका और अवधि भी जितनी आवश्यक हो वहीं तक सीमित होनी चाहिए।' जिन कानूनों को तोड़ा जाना है, उन्हें नेता तय करेंगे न कि सत्याग्रही।

गांधी ने उपवास को सत्याग्रह के एक और रूप के तौर पर सामने रखा था। उनके अनुसार यह अत्यधिक शक्तिशाली हथियार है। इसलिए गांधी ने सुझाव दिया था कि उपवास का सहारा लेने से पहले अत्यधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता है। गांधी के लिए, उपवास हर मौके पर नहीं किया जाना चाहिए बल्कि इसे विरले ही इस्तेमाल किया जाना चाहिए। इसका प्रयोग आत्म–शुद्धि के लिए या अन्याय के विरोध तथा बुराई करने वाले के हृदय परिवर्तन के लिए किया जाना चाहिए। गांधी के अनुसार, उपवास उन लोगों को ही करना चाहिए जो अध्यात्मिक रूप से स्वस्थ हैं। इसमें मन की शुद्धता, अनुशासन, विनम्रता और विश्वास की आवश्यकता होती है। गांधी का मानना था कि उपवास अंतरात्मा को जगाने का काम करता है। उन्होंने कहा था, "जो मनुष्यों की परिस्थितियों में क्रांतिकारी बदलाव लाते हैं, वे समाज में आक्रोश पैदा किये बगैर ऐसा नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार उपवास से आंदोलन के दो तरीके हैं– पहला हिंसा से और दूसरा अहिंसा से। स्वयं कष्ट सहकर अहिंसा के द्वारा डाले गए दबाव से अत्याचार करने वालों की नैतिकता को सबल और जागृत किया जा सकता है।"

सत्याग्रह का आखिरी तरीका है हड़ताल। हड़ताल पर गांधी के विचार समाजवादियों और साम्यवादियों से अलग थे। गांधी के अनुसार, हड़ताल एक स्वैच्छिक, शुद्धिकरण के लिए उठाया गया कष्ट है जो गलती करने वाले के हृदय परिवर्तन के लिए किया जाता है। गांधी वर्ग संघर्ष में विश्वास नहीं करते थे। गांधी ने विदेशी आक्रमण की परिस्थिति में भी सत्याग्रह का उपाय सुझाया। उन्होंने स्पष्ट करते हुए कहा था, "एक अहिंसात्मक मनुष्य या समाज बाहर से होने वाले हमले की न अपेक्षा करता है और न ही उसके विषय में सोचता है। इसकी बजाय, ऐसे व्यक्ति या समाज का दृढ़ विश्वास होता है कि कोई भी उन्हें परेशान नहीं करेगा। यदि बहुत बुरा हुआ तो भी, अहिंसा के दो रास्ते सदैव उपलब्ध हैं। अपना कब्जा छोड़ देना, लेकिन आक्रमणकारी से असहयोग करना। इस प्रकार यह मान लिया जाए कि नीरो का आधुनिक रूप भारत पर हमला कर दे, तो देश के नेता उसे अंदर आने देंगे, लेकिन उसे बता देंगे कि उसे लोगों से किसी प्रकार का सहयोग नहीं मिलेगा। वे घुटने टेकने की बजाय कत्ल कर दिए जाने को स्वीकार करेंगे। दूसरा तरीका होगा लोगों के द्वारा अहिंसात्मक विरोध, जिन्हें अहिंसा के रास्ते पर चलने के लिए प्रशिक्षित

टिप्पणी

किया गया है। वे लोग आक्रमणकारी की तोपों के सामने खुद को शिकार के रूप में डाल देंगे। इस विचारधारा के मूल में यह विश्वास छिपा है कि नीरो का भी एक दिल होता है। किसी आक्रमणकारी की इच्छा के आगे घुटने टेकने की बजाय स्त्री–पुरुषों के झुंड के झुंड मारे जाने का भयंकर दृश्य आखिरकार आक्रमणकारी के दिल और उसकी सेना को पिघला देगा।"

1930 के दशक में जब चीन पर जापान की विजय हो रही थी, तब गांधी ने कहा था, "अगर चीनियों के पास मेरी अहिंसा की अवधारणा होती तो, जापान के पास जो अत्याधुनिक हथियार थे वे बेकार साबित हो सकते थे।" चीन के लोग जापान से कहते, 'अपने सारे हथियार ले आओ। हम अपनी आधी आबादी तुम्हारे सामने खड़ी कर देते हैं, लेकिन बाकी बचे दो सौ मिलियन लोग तुम्हारे सामने घुटने नहीं टेकेंगे।' यदि चीन के लोगों ने ऐसा किया होता तो जापान चीन का गुलाम बन गया होता।

धर्मशास्त्री ई. स्टेनली जोन्स के मुताबिक, "गांधी का सत्याग्रह आधुनिक युग को सबसे बड़ी देन है।" डी.ई. स्मिथ ने गांधी को सत्याग्रह की तकनीकों को विकसित करने की वजह से एक क्रांतिकारी नेता कहा था। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या गांधी के विचार आज भी हमारे लिए प्रासंगिक हैं, जब हम चारों तरफ तथाकथित सत्याग्रह के अनेक रूप, जैसे धरना, आमरण अनशन और घेराव जैसे आंदोलनों को देखते हैं।

गांधी ने साधनों के साथ–साथ साध्य पर भी जोर दिया। आज भारत में जो कुछ हो रहा है वह गांधीवादी नैतिकता और आचार के मापदंडों के मुकाबले बेहद निम्न स्तरीय है। हालांकि, गांधी की सोच को यदि नई पीढ़ी पूरी तरह अपना ले, तो भारत की कई समस्याएं हिंसा का सहारा लिए बिना सुलझाई जा सकती हैं। गांधी की तकनीकों के प्रयोग से भ्रष्टाचार, कालाबाजारी या आर्थिक, औद्योगिक या सामाजिक जीवन में अन्याय से सफलतापूर्वक लड़ा जा सकता है। खून–खराबे के बगैर भारत में गांधीवाद से क्रांति लाई जा सकती है।

4.2.2 संरक्षकता अथवा ट्रस्टीशिप

गांधी के आर्थिक विचार गरीबी, सामाजिक–आर्थिक अन्याय के खिलाफ शोषण और बिगड़ते नैतिक मानकों के खिलाफ उनके सामान्य धर्मयुद्ध का हिस्सा थे। गांधी जनता के अर्थशास्त्री थे। उनका दृष्टिकोण मानवीय गरिमा में निहित था। उनका आर्थिक दर्शन उन असंख्य प्रयोगों का परिणाम है, जो उन्होंने अपने जीवन के दौरान किये। उनके व्यावहारिक दृष्टिकोण ने मानवीय गरिमा की रक्षा की प्रक्रिया में मौजूदा सामाजिक–आर्थिक समस्याओं को एक नयी दिशा दी।

आर्थिक क्षेत्र में वैचारिक तनाव से द्रवित अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने लोकतंत्र, आर्थिक स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय जैसे मानव अधिकारों के आदर्शों पर जोर देने के साथ आर्थिक दर्शन के लिए एक नये दृष्टिकोण की मांग की। एक सामाजिक–आर्थिक दर्शन के रूप में गांधीवाद न केवल लोकतांत्रिक स्वतंत्रता और समाजवाद के उच्च आदर्शों को पूरा करने के लिए उपयुक्त है, बल्कि यह साम्यवाद और पूंजीवाद की

राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय ताकतों की चुनौतियों का सामना करने के लिये भी अच्छी तरह से विकसित किया गया था।

गांधीवादी आर्थिक चिंतन का मूल मानव की गरिमा की सुरक्षा है और भौतिक समृद्धि का पर्याय नहीं है। उन्होंने मानव और सामाजिक मूल्यों के लिये सम्मान के साथ जीवन जीने के उच्च स्तर के बजाय मानव जीवन के विकास, उत्थान और संवर्धन का लक्ष्य रखा। मौलिक नैतिक मूल्य उनके आर्थिक विचारों पर हावी थे। वे आधुनिक आर्थिक दर्शन को भौतिकवाद के दलदल से आजाद कराना चाहते थे और उसे उच्च अध्यात्मिक धरातल पर लाना चाहते थे। उसमें मानवाधिकारों के संरक्षण के सामाजिक उद्देश्य से मानव कार्यों को प्रेरित करने की मंशा थी।

'आध्यात्मिक अर्थशास्त्र' के लिये गांधी जी के प्रयास वास्तव में ट्रस्टीशिप की उनकी अवधारणा में परिलक्षित होते हैं। उन्होंने ईसोपनिषद के पहले श्लोक को ट्रस्टीशिप के अपने सिद्धांत का आधार बनाया, जिसमें व्यक्ति को सब कुछ भगवान को समर्पित करने के लिए कहा गया है और फिर उनका उपयोग केवल आवश्यक सीमा तक करने का निर्देश दिया है। इसमें रखी गयी प्रमुख शर्त यह है कि किसी को यह लालच नहीं करना चाहिये कि दूसरों के पास कितना है। दूसरे शब्दों में पहले उदाहरण में सब कुछ भगवान के सामने आत्मसमर्पण करना चाहिये और फिर उसमें से केवल उतने का ही जरूरत भर उपयोग करना चाहिये, जो कि भगवान की सृष्टि की सेवा के लिये आवश्यक है। इस सिद्धांत की मूल भावना त्याग और सेवा है। जब तक इन दोनों गुणों का समावेश नहीं किया जाता है, तब तक इस आज्ञा का पालन करना असंभव है कि 'किसी के धन को देख कर लालच नहीं करना चाहिये।' इस प्रकार गांधी जी का ट्रस्टीशिप का विचार अपरिग्रह अथवा अन–आधिपत्य के आचार में उनके विश्वास से उत्पन्न हुआ। यह उनके इस धार्मिक विश्वास पर स्थापित किया गया था कि सब कुछ भगवान का दिया हुआ है और उनका ही है। इसलिये दुनिया के उपहार उसके लोगों के लिये हैं, सम्पूर्ण मानवता के लिये, किसी व्यक्ति विशेष के लिये नहीं। यदि किसी व्यक्ति के पास उसके अपने संबंधित हिस्से से अधिक है, तो वह भगवान के लोगों के लिये उस हिस्से का ट्रस्टी बन गया। ईश्वर जो सर्वशक्तिमान है, उसे संग्रह करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह रोज चीजों को नया बनाता है। इसलिये मनुष्य को भी भविष्य के लिये वस्तुओं का संचय करने की कोशिश किये बिना दिन–प्रतिदिन अपना जीवन जीना चाहिये। यदि यह सिद्धांत सामान्य रूप से लोगों द्वारा प्रतिपादित किया जाता, तो यह वैध हो जाता और ट्रस्टीशिप एक कानूनी संस्था बन जाती। गांधी ने कामना की कि यह भारत के लिए दुनिया का एक उपहार बन जाए (हरिजन, 23 फरवरी 1947)।

मूल रूप से गांधी ने इस सिद्धांत को स्वामित्व और आय की आर्थिक असमानताओं के समाधान के रूप में सुझाया। उन्होंने अहिंसा, अपरिग्रह और सत्याग्रह की अपरिहार्यता में विश्वास करते हुए विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों को न्यासियों में परिवर्तित करना चाहा। यहां तक कि उन्होंने संपत्ति के मालिकों को अतिरिक्त धन के स्वामित्व से वंचित करने के लिए अंतिम उपाय के रूप में हिंसा की वकालत भी की।

इसलिए मनुष्य की भौतिक समृद्धि नहीं, बल्कि उसकी गरिमा ही गांधीवादी अर्थशास्त्र के केन्द्र में है। गांधीवादी अर्थशास्त्र का उद्देश्य केवल मानव गरिमा को ध्यान में रखते हुए भौतिक समृद्धि का वितरण करना है। इस प्रकार यह आर्थिक विचारों की तुलना में नैतिक मूल्यों पर अधिक हावी है। गांधी के अनुसार, ट्रस्टीशिप एकमात्र ऐसी भूमि है, जिस पर वे अर्थशास्त्र और नैतिकता के एक आदर्श संयोजन पर काम कर सकते हैं। ठोस रूप में, ट्रस्टीशिप फॉर्मूला इस प्रकार है :

(1) ट्रस्टीशिप समाज के वर्तमान पूंजीवादी क्रम को समतावादी में बदलने का एक साधन प्रदान करता है। यह पूंजीवाद को बिना कोई क्षति पहुंचाये वर्तमान स्वामी वर्ग को खुद को सुधारने का मौका देता है। यह इस विश्वास पर आधारित है कि मानव स्वभाव कभी भी विमुक्ति से परे नहीं है।

(2) यह संपत्ति के निजी स्वामित्व के किसी भी अधिकार को मान्यता नहीं देता है, हालांकि समाज द्वारा अपने कल्याण के लिए इसकी अनुमति दी जा सकती है।

(3) यह धन के स्वामित्व और उपयोग के नियम को वर्जित नहीं करता है।

(4) इस प्रकार राज्य विनियमित ट्रस्टीशिप के तहत, कोई व्यक्ति समाज के हितों की अवहेलना में अपनी संतुष्टि के लिये अपने धन को रखने या उपयोग करने के लिए स्वतंत्र नहीं होगा।

(5) जिस तरह लोगों को एक न्यूनतम वेतन देने का प्रस्ताव किया जाता है, उसी तरह अधिकतम आय के लिए भी एक सीमा तय की जानी चाहिये, जो समाज के किसी भी व्यक्ति को दी जाएगी। ऐसे न्यूनतम और अधिकतम आय के बीच का अंतर उचित, न्यायसंगत और समय–समय पर परिवर्तनशील होना चाहिये।

(6) गांधीवादी आर्थिक व्यवस्था के तहत, उत्पादन का चरित्र सामाजिक आवश्यकता से निर्धारित होगा न कि व्यक्तिगत लालच से।

ट्रस्टीशिप का सिद्धांत मूर्त और अमूर्त संपत्तियों दोनों पर समान रूप से लागू होता है, "जैसे कि मजदूरों की मांसपेशियों की ऊर्जा और हेलेन केलर की प्रतिभा" (के. जी. मशूरवाला, गांधी और मार्क्स, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 1951, पृष्ठ 79)। गांधी के अनुसार, सभी संपत्ति भगवान की है और ट्रस्टीशिप की उनकी अवधारणा में ट्रस्टियों को जान–बूझकर उस संपत्ति को नष्ट करने का कोई अधिकार नहीं है। इसके अलावा, ट्रस्टीशिप का उद्देश्य ट्रस्टियों को सुरक्षा की भावना देकर लोगों का मनोबल बढ़ाना है। ट्रस्टी का यह दायित्व है कि वह जीवन के उच्च स्तर को हासिल करने के लिये जनता के बीच एक आग्रह पैदा करे।

जैसे–जैसे मनुष्य व्यक्तिगत संतुष्टि के संकीर्ण क्षेत्र से सभी के कल्याण की भावना की ओर आगे बढ़ता है, वह आत्म–साक्षात्कार की ओर बढ़ता है। धन रखने का पूरा विचार केवल इसका दुरुपयोग करने से बचाने और इसे समान रूप से वितरित करने का उद्देश्य मानव गरिमा की रक्षा करना है। यदि इसे किसी अन्य उद्देश्य के लिए रखा गया है, तो यह नैतिक आधार पर आपत्तिजनक है। गांधी ट्रस्टियों को इस नैतिक दायित्व से जोड़ते हैं, क्योंकि उन्हें पूंजीवाद के इस सत्य के बारे में मालूम है कि वह अमीर और गरीब के बीच की खाई को चौड़ा करता है।

ट्रस्टीशिप का गांधीवादी सिद्धांत मार्क्सवादी आर्थिक दर्शन से भी महत्वपूर्ण है। यदि मार्क्सवाद औद्योगिक क्रांति की कोख से पैदा हुआ है, तो गांधीवादी सिद्धांत को भारतीय परंपरा के कुछ बुनियादी अध्यात्मिक मूल्यों के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। मार्क्सवादी समाजवाद का उद्देश्य पूंजीवादियों के वर्ग को नष्ट करना है, जबकि गांधीवादी दृष्टिकोण संस्था को नष्ट करना नहीं, बल्कि इसे सुधारना चाहता है। गांधीवादी समाजवाद नैतिक अर्थों में मार्क्सवादी समाजवाद से अलग है। उसके लिये मनुष्य एक नैतिक प्राणी पहले है और एक सामाजिक प्राणी बाद में।

मार्क्सवादी समाजवाद और गांधीवादी समाजवाद के बीच सबसे महत्वपूर्ण अंतर उस पद्धति में निहित है, जिसके माध्यम से वे इसे प्राप्त करने की सलाह देते हैं। जहां मार्क्सवादी समाजवाद हिंसा का पक्ष लेता है, वहीं गांधीवादी समाजवाद का लक्ष्य अमीरों का हृदय परिवर्तन करना है। उसमें हिंसा के लिये कोई जगह नहीं है, केवल विश्वास के लिये है। आम आदमी अपने ट्रस्टी पर भरोसा करता है और दूसरा एक संरक्षक की भूमिका निभाता है। इस प्रकार गांधीवादी समाजवाद मूल रूप से पूंजीवाद और समाजवाद दोनों से अलग राह लेता है; यह ट्रस्टीशिप समाजवाद है। यद्यपि इस तरह का समाजवाद हासिल करना मुश्किल है, पर गांधी जी ने इसकी वकालत की, क्योंकि वे मनुष्य की अच्छाई की मूल ताकत और नैतिकता के मूल्य में विश्वास करते थे। अन्य सभी 'वाद' जहां समस्या का समाधान सतही रूप से करते हैं, वहीं ट्रस्टीशिप इसकी जड़ पर हमला करता है।

गांधी चाहते थे कि जमींदार अपनी जमीन के ट्रस्टियों के रूप में कार्य करें और किरायेदारों को उनका उपयोग करने की अनुमति दें। यह विचार मुख्य रूप से इस तथ्य पर आधारित था कि भारत एक कृषिप्रधान देश है, जहां 80 प्रतिशत से अधिक आबादी गांवों में रहती है। उन्हें विश्वास था कि भूमि प्रदान करके स्वतंत्र भारत की प्रमुख आर्थिक समस्याओं में से एक को हल किया जा सकता है। समाजवादी सामूहिक कृषि प्रणाली में, हम उसी विचार को लागू करते हैं। कुछ देशों में इस प्रणाली की सफलता से पता चलता है कि यह अवधारणा बिल्कुल भी अव्यावहारिक नहीं है। इस प्रणाली की विफलता के लिये अक्सर लोगों की इच्छा को जिम्मेदार ठहराया जाता है।

इस अवधारणा के केन्द्र में मानव गरिमा की रक्षा करने का आग्रह है। वे मोटे तौर पर आधुनिक मनुष्य की मांग या इच्छाएं हैं। विभिन्न देशों में समय–समय पर होने वाली क्रांतियों को मानव गरिमा, न्याय और समता के समान उद्देश्यों से प्रेरित किया जाता है। यह बहुत स्पष्ट है कि यह विचार आज भी प्रासंगिक है, क्योंकि इसका उद्देश्य दुनिया में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन करना है। इस मानवीय गरिमा, न्याय और समता को प्राप्त करने के लिये पहला कदम समाज में वर्ग संघर्ष के सभी मौजूद परेशानी वाले तत्वों को खत्म करना है। हालांकि ट्रस्टीशिप की गांधीवादी अवधारणा किसी विशेष वर्ग को नष्ट करने की कोशिश नहीं करती है, लेकिन यह इस विचार को बल प्रदान करती है कि वर्ग अंतर को कैसे कम किया जाए। सभी लोकतांत्रिक राष्ट्रों द्वारा अमीर और गरीब के बीच अंतर को कम करने के लिये प्रयास किया गया है। भारत में हम अपनी सहकारी नीतियों, सामुदायिक विकास परियोजनाओं,

और कराधान नीति के पीछे इस उद्देश्य को पाते हैं, जो उच्च वर्ग पर भारी कर लगाते हैं और समाज के निचले तबके को कुछ राहत देते हैं। हम इन नीतियों में ट्रस्टीशिप की गांधीवादी अवधारणा की अभिव्यक्तियों को पाते हैं।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. यह किसने कहा था कि 'मैं अपने बाद कोई पंथ छोड़कर नहीं जाना चाहता।'
   (क) नेहरू ने (ख) लालबहादुर शास्त्री ने
   (ग) महात्मा गांधी ने (घ) इंदिरा गांधी ने
2. अहिंसक आंदोलन का शस्त्र क्या है?
   (क) सत्याग्रह (ख) युद्ध
   (ग) विवाद (घ) हिंसा

4.3 राधाकमल मुखर्जी का मूल्यों का समाजशास्त्र

राधाकमल मुखर्जी का जन्म 1889 में, पश्चिम बंगाल के बहरामपुर के एक बंगाली ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उन्होंने अपनी शिक्षा प्रेसिडेंसी कॉलेज, कलकत्ता (अब कोलकाता) से पूरी की। उन्हें भारतीय समाजशास्त्रीय सिद्धांतों के अग्रदूतों में से एक माना जाता है। आर.के. मुखर्जी ने निम्न प्रकार के क्षेत्रों में योगदान दिया है–

- समाज का सामान्य सिद्धांत
- समाज के अध्ययन हेतु अंतःविषय और अंतर–विषय दृष्टिकोण का विकास करना
- मूल्यों का समाजशास्त्र / मूल्यों की सामाजिक संरचना
- सामाजिक पारिस्थितिकी और क्षेत्रीय समाजशास्त्र।

मुखर्जी मूल्य के प्रश्न को समाजशास्त्र का एक महत्वपूर्ण पहलू मानते थे। उनका यह भी मानना था कि सामाजिक विज्ञान हमें ज्ञान देता है और यदि हम इस ज्ञान का प्रयोग मनुष्य के सुधार के लिए करते हैं, तो निश्चित रूप से मूल्य की रचना होगी। उनकी बुनियादी समाजशास्त्रीय महत्वाकांक्षा बेहतर सामाजिक व्यवस्था के लिए काम करने की थी। मुखर्जी का मूल समाजशास्त्रीय विचार था, समाज का एक सामान्य सिद्धांत विकसित करना। उन्होंने कुछ उपाय प्रस्तावित किए ताकि एक सीमाहीन समाज का निर्माण किया जा सके। उन्होंने समाजशास्त्रियों को सलाह दी कि वे भौतिक और सामाजिक विज्ञानों के बीच के अवरोध भंग कर दें ताकि सामाजिक और मनोवैज्ञानिक पहलुओं के बीच अंतर न रहे, सामाजिक विज्ञानों और सामाजिक एवं भौतिक विज्ञानों के बीच विचारों के निरंतर आदान–प्रदान को प्रोत्साहन बना रहे। ये उपाय मानव व्यक्तित्व को आसपास के सामाजिक वातावरण से बेहतर परस्पर क्रिया करने में सहायक होंगे। उन्होंने विषयों के भीतर विशेषज्ञताओं और विभागीकरण को कभी बढ़ावा नहीं दिया क्योंकि ये मनुष्य के सामाजिक व्यवहार का संकीर्ण दृष्टिकोण प्रदान करते हैं।

राधाकमल मुखर्जी ने मानव जीवन का अध्ययन करने और उसे समझने के लिए अंतःविषय और पार–विषय दृष्टिकोण पर जोर दिया था। यह समाज के इस सामान्य सिद्धांत के विकास का मूल कारण था। समाज के सामान्य सिद्धांत के एक अन्य विश्लेषण में उन्होंने सार्वभौमिक सभ्यता के मूल्य की व्याख्या की है। उनका कहना है कि सभ्यता एक बड़ी तस्वीर है, संस्कृति जिसका एक हिस्सा है। वे जैविक विकास, अध्यात्मिक और सार्वभौमिक आयामों के अध्ययन के माध्यम से मानव सभ्यता के विकास का अध्ययन करने को बढ़ावा देते हैं। आइए उनके विचारों पर विस्तार से चर्चा करते हैं।

1. जैविक विकास

विकास ने मनुष्य को बेहतर और जटिल समाज बनाने में मदद की है, जिसमें वे वातावरण संबंधी निर्णय लेते हैं और इसे नियंत्रित करते हैं। दूसरी ओर जानवरों के पास वातावरण पर नियंत्रण करने या उसे प्रभावित करने की सीमित योग्यताएं होती हैं। मनुष्य टकराव और संघर्ष से ऊपर उठने में सक्षम हैं और जीवन में उच्च लक्ष्य प्राप्त करने के लिए सहयोग करने की भी योग्यता रखते हैं जिससे वे सामाजिक परिवर्तन ला सकते हैं।

2. सार्वभौमीकरण

सामाजिक मनोविज्ञान के दायरे में लोगों को उनकी नस्ल, जातीयता और राष्ट्र के अनुसार वर्गीकृत किया जाता है। मनुष्य को अक्सर अपने अहं का दास माना जाता है। उनके द्वारा किए जाने वाले सभी कार्य अपने स्वार्थों को प्राप्त करने के लिए होते हैं। हालांकि मुखर्जी को यह लगता है कि मनुष्यों में सार्वभौमिकता प्राप्त करने की और सामान्य भलाई के लिए अपने तुच्छ फायदे भुलाने की क्षमता होती है। इससे लोगों को सामूहिक दृष्टिकोण द्वारा अन्य लोगों से जुड़ने में मदद मिलेगी। हो सकता है कि व्यक्ति खुद को एक राष्ट्र के सदस्य के रूप में देखने लगे। मुखर्जी के अनुसार, नैतिक सापेक्षवाद, हमारे वर्तमान समय में प्रासंगिक नहीं है। नैतिक प्रासंगिकता का मतलब है, समाजों के बीच मूल्यों का अंतर। इसके बजाय, मानव को ऐसी नैतिक सार्वभौमिकता के लिए बाध्य होना चाहिए जो मनुष्य जाति के बीच एकता बनाए रखने में सहायता करे। नैतिक सार्वभौमिकता के तहत, लोग संकीर्ण व्यक्तिगत हितों की प्राप्ति हेतु बनाए गए नियमों और मानदंडों की अवहेलना करने से हिचकिचाते नहीं हैं।

3. आध्यात्मिक आयाम

मुखर्जी का यह मानना था कि सभ्यता का हमेशा एक आध्यात्मिक पहलू होता है। भौतिक और शारीरिक सीमाओं को लांघता हुआ, मनुष्य सदा आध्यात्मकता की सीढ़ी चढ़ता आया है। उन्होंने भारतीय और चीनी सभ्यताओं की सराहना की क्योंकि ये छठी सदी बीसी से स्थिर हैं। इन सभ्यताओं ने विपत्तियों और मुसीबतों का सामना किया है क्योंकि इनके मूल्य आध्यात्मकता की इनकी खोज को बढ़ावा देते हैं।

1979 में प्रकाशित इनके कॉम्युनिटी एंड सोसाइटी इन इंडिया नामक कार्य में इन्होंने कहा है कि, मनुष्य के जीवन और विकास में मूल्यों का महत्व केवल हम तभी समझ पाएंगे यदि हम मूल्यों के प्राकृतिक इतिहास को समझें। इस प्रकार, मूल्यों का मनोवैज्ञानिक कार्य है मानसिक निर्माण और अनुभव के योग्य जानवरों के व्यवहार और

विकास का उन्मुखीकरण और निर्देशन करना, यानी, मूल्य रचना और संचार। अनुकूली तंत्र के रूप में मूल्य जीवन, मन और ब्रह्मांड में एक महत्वपूर्ण विकासवादी भूमिका निभाते हैं। अपना तर्क देते हुए मुखर्जी ने कहा कि सामाजिक विज्ञान, जिनसे मानव जाति का उचित अध्ययन किया जा सकता है, मूल्यों के विचार बिना खोखले हैं। हालांकि, इस विचार की विषयवाद, अभूतपूर्ववाद, भौतिकवादी मान्यताओं और प्रक्रियाओं द्वारा शासित सामाजिक विज्ञानों द्वारा सम्पूर्ण रूप से अवहेलना है। उत्तरार्द्ध, सामाजिक विज्ञानों की एक–दूसरे से पूरी तरह अलग होने और मनुष्य और उसके मूल्य अनुभव की एकता और अखंडता की अनुचित उपेक्षा में सहायता करता है। मानवीय मूल्यों और मूल्य–पैमाने की बदनामी, मानव आदर्शों और मानदंडों की सामाजिक क्रिया और नीति के बीच की दूरी और सामाजिक विज्ञानों के बीच दृढ़ अखंडनीय सीमांकन एक साथ मिलकर, मनुष्य और समाज के आधुनिक ज्ञान में संकट पैदा करते हैं।

मानव जाति के अध्ययन हेतु सैद्धांतिक रूपरेखा ऐसी होनी चाहिए कि मूल्यांकन का भाव उसके आवेगों, व्यवहार और प्रयासों के भिन्न पहलुओं से अब संबंधित सामाजिक विज्ञानों की सामान्य एकता को बहाल कर सके। भिन्न सामाजिक विज्ञानों का अपने स्वतंत्र गैर–पारस्परिक क्षेत्रों के साथ सामाजिक घटनाओं से निपटने का मौजूदा विभाजित तरीका मानव अनुभव के विरुद्ध जाता है। दूसरी तरह कहें तो, मानव आवेग और मूल्यों के बीच परस्पर क्रिया होती है और इनसे पृथक ढंग से निपटा नहीं जा सकता। उम्मीद है कि आज ज्ञान की एकता की खोज की दिशा में थोड़ा झुकाव पैदा होगा। सामाजिक विज्ञानों की एकता में अर्थों और मूल्यों का सामान्य अंतर्भाग शामिल है जो मौलिक राष्ट्रों और विभिन्न सामाजिक अध्ययन के ऐसे तरीकों के एक आदान–प्रदान और समन्वय पर आधारित है जो मनुष्य, उसके व्यवहार और उसकी संस्कृति से निपटने वाले विभिन्न सामाजिक विज्ञानों से संबंधित है। सामाजिक विश्लेषण में अंतःविषय दृष्टिकोण न केवल सामाजिक विज्ञानों के एकीकरण का सबसे ऊंचा वादा करता है बल्कि सम्पूर्ण मानवजाति के सार्वभौमिक मूल्यों के स्पष्टीकरण के एकीकरण के प्रति भी वचनबद्धता प्रदान करता है।

सामाजिक विज्ञान और नैतिक मूल्य

मुखर्जी द्वारा यह तर्क दिया गया है कि सामाजिक दुनिया में व्यक्तिगत व्यवहार या बुद्धिमत्ता में, तर्कसंगतता अधिक स्थायी और सामंजस्यपूर्ण सार्वभौमिक मूल्यों के लिए चयन और सचेत रूप से प्रयास करती है। वास्तव में मानवजाति न केवल विभिन्न अपेक्षाकृत स्थिर या संस्थागत मूल्य ढूंढ़ती है, बल्कि हमेशा एक सार्वभौमिक पैमाने या मूल्य के पदानुक्रम के प्रति सचेत रहती है। संस्थागत मूल्यों की परिभाषा या चयन और उनकी प्राप्ति के लिए सामाजिक संबंधों और व्यवहार स्वरूप का वर्णन विभिन्न सामाजिक विज्ञानों की चिंताएं हैं। प्रत्येक सामाजिक विज्ञान मूल्यों को रचने, उन्हें बनाए रखने और विकसित करने में व्यवहार स्वरूप की प्रभावशीलता के मूल्यांकन से संबंधित है, तो समाजशास्त्री के लिए पारिवारिक संरचना, राजनीतिक वैज्ञानिक के लिए सरकारी संरचना, अर्थशास्त्री के लिए आर्थिक संगठन और न्यायविद के लिए कानून की संरचना को समाजशास्त्रियों द्वारा वस्तुपरक डाटा समझा जाता है। सामाजिक वैज्ञानिक, संस्थागत मूल्यों पर निर्णय पारित नहीं करता लेकिन उसे इन्हें स्वीकृत अवश्य कर लेना

चाहिए। इसके बाद वह उनके सामाजिक व्यवहार पर प्रयास विश्लेषित कर सकता है, और फिर इन मूल्यों को सामाजिक व्यवहार का कारण मान सकता है। उन्होंने यह भी तर्क दिया कि सामाजिक वैज्ञानिक पूछताछ को, स्पष्ट रूप से मानव व्यवहार के सामाजिक परिणामों से संबंधित होना चाहिए जो लोगों द्वारा लिए गए नैतिक निर्णयों का परिणाम है। मुखर्जी के अनुसार, सामाजिक विज्ञान समाज के स्थापित संस्थानों द्वारा दर्शाए गए मूल्यों से ही संबंधित नहीं होते, बल्कि मानव द्वारा चयन और नैतिक विकल्पों, जैसेकि नैतिकता के मूल्यांकन से भी संबंधित होते हैं। मनुष्य के लिए नैतिकता प्रकृतिवादी होनी चाहिए या वैज्ञानिकता पर आधारित होनी चाहिए, यह संस्थागत मूल्यों के प्रति अंधी और दृढ़ अनुरूपता पर आधारित नहीं होनी चाहिए बल्कि यह ऐसे मूल्य अधिमानों से संबंधित होनी चाहिए जो मनुष्य के व्यवहार के भिन्न सामाजिक परिणामों पर आधारित हों, जो सामाजिक तथ्य माने जाने वाले भिन्न वैकल्पिक और पूरक संस्थागत मूल्यों से उभरते हों। नैतिकता का तात्पर्य है मनोवैज्ञानिक और सामाजिक तथ्यों का बुद्धिमान और दूरदर्शी मूल्यांकन जो मूल्यों और मूल्य निर्णय से जुड़े हों। देखा जाए तो, सामाजिक तथ्यों और संस्थाओं के विचार और नैतिक विचार, तार्किक रूप से एक दूसरे से अलग नहीं हैं। दूसरे स्थान पर, नैतिकता, सार्वभौमिक है और उत्कृष्ट भी, सारी मानवजाति के लिए सार्वभौमिक मूल्यों को मूर्त रूप देते हुए। मानव इतिहास सामाजिक और नैतिक विकास में सार्वभौमिकता की एक समग्र प्रवृत्ति प्रकट करता है, मानवजाति के लिए एक असीमित, आगे उन्मुख एकता और पूर्णता को सच करता हुआ।

अपने द्वारा लिखित इंस्टिट्यूशनल थ्योरी ऑफ इकनॉमिक्स में मुखर्जी ने यह कहा है कि भारत की अर्थव्यवस्था पश्चिमी अर्थशास्त्रों के नमूने का अनुसरण कर रही है। यह नमूना बैंकिंग, हस्तशिल्प और स्थानीय व्यवसायों में प्रचलित जाति व्यवस्था की ओर ध्यान नहीं देता। पश्चिमी अर्थशास्त्र ज्यादातर औद्योगिक केंद्रों और आर्थिक बाजारों पर जोर देता है। मुखर्जी का यह मानना था कि भारत जैसी प्राचीन सभ्यता में सामाजिक ढांचे के भीतर जातिगत ढांचे की अनदेखी करना वास्तव में उचित नहीं है। उन्होंने यह भी तर्क दिया कि भारत में आर्थिक विनिमय, पारंपरिक ताने–बाने से प्रभावित होता है। इस देश में विभिन्न जातियां और सहकारी समितियां आर्थिक बाजार में आपसी सहयोग और सद्भाव के वातावरण में काम कर रही हैं। उन्होंने तर्क दिया कि भारत के आर्थिक मूल्यों को मौजूदा सामाजिक मानदंडों के संदर्भ में समझा जाना चाहिए।

सामाजिक पारिस्थितिकी पर चर्चा करते हुए, उनका यह मानना था कि इस विषय का अध्ययन भिन्न अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ किया जाना चाहिए। पारिस्थितिक पहलू मुख्य रूप से भौगोलिक, भूवैज्ञानिक और जैविक कारकों से बना है जो एक साथ मिलकर काम करते हैं। एक समाज की पारिस्थितिकी उसके राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोणों से भी प्रभावित होती है। इस प्रकार, पारिस्थितिकी को मनुष्य और उसके पर्यावरण के विभिन्न पहलुओं की परस्पर क्रिया के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। मुखर्जी के अनुसार, जैसाकि उनकी किताब रीजनल सोशियालॉजी में बयान किया गया है, मानव पारिस्थितिकी का दायरा 'पौधों,

पशुओं और मानव समुदायों के संतुलन का संयुक्त अध्ययन है। यह समुदाय में क्षेत्र के संगठन में सहसंबद्ध कार्य भाग की प्रणाली है'। निम्न जानवरों के पारिस्थितिक संबंध काफी हद तक मानव संबंधों के समान हैं। हालांकि मनुष्य के मामले में संस्कृति एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। मानव पारिस्थितिकी का अध्ययन करते समय, क्षेत्रीय प्रभाव, विभिन्न सामाजिक आदतों, परंपराओं और मूल्यों की जांच करना जरूरी है। सामाजिक पारिस्थितिकी में मनुष्य और उसके निवास क्षेत्र के बीच जटिल परस्पर क्रिया से निपटा जाता है। पारिस्थितिक क्षेत्रों में विकास निवासियों की उस पर प्रतिक्रिया और पर्यावरण द्वारा उत्पन्न चुनौतियों पर निर्भर करता है।

मूल्यों और चिह्नों का क्षेत्रीय आधार

मुखर्जी का यह मानना था कि समाज, 'संरचनाओं और कार्रवाइयों का जोड़ है जिसके जरिए मनुष्य खुदको वातावरण के तीन आयामों या स्तरों की ओर उन्मुख करता है'। ये तीन स्तर हैं नैतिक, मनो–सामाजिक और पारिस्थितिक। इस प्रकार समाज जीविका, स्थिति और मूल्य पूर्ति की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करता है। सामाजिक रूप से स्वीकार किए गए लक्ष्य या इच्छाएं जिन्हें समाजीकरण और अनुकूलन के माध्यम से व्यक्तियों द्वारा अपनाया जाता है उन्हें मूल्यों के रूप में जाना जाता है। मूल्य एक सामाजिक प्रणाली में निर्धारित मानकों, आकांक्षाओं और पसंदों की रचना करते हैं। मूल्यों का मौलिक सिद्धांत इच्छाओं, लक्ष्यों, आदर्शों और मानदंडों पर हावी होता है। मूल्य मनुष्य की, अपनी इच्छाओं और लक्ष्यों को एक विशिष्ट दिशा की ओर ले जाने में सहायता करते हैं। इस प्रकार मनुष्य अपनी भौतिक इच्छाओं और आंतरिक संघर्षों से लड़ सकता है और अपने लिए सही रास्ते का चयन कर सकता है। मूल्यों के मार्ग का अनुसरण करके, एक व्यक्ति सफलतापूर्वक ढंग से अपने साथी मनुष्यों के साथ शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व प्राप्त कर सकता है। आधुनिक समाजों में मूल मुद्दा है ऐसे मूल्यों को बनाना और बनाए रखना, जिनका समाज के सभी सदस्यों द्वारा पालन किया जा सके। मूल्यों का दो–तरफा लक्ष्य होना चाहिएः मानव व्यक्तित्व के समग्र विकास तक पहुंचना और सदस्यों के बीच एकजुटता और सद्भाव पोषित करना।

पश्चिम द्वारा तत्वमीमांसा व्यक्तिवाद की विचारधारा का विकास किया गया। हालांकि, यह विचारधारा मनुष्य को उसके समूह से अलग कर देती है और केवल उसकी जरूरतों और उसके झुकावों को काटती है। सामाजिक विज्ञानों ने आमतौर पर मानव द्वारा साझा किए जाने वाले मानवीय मूल्यों को अनदेखा किया और उनकी जगह केवल प्रतिस्पर्धी मूल्यों की ओर अपना ध्यान केंद्रित किया है। इन विज्ञानों ने सामाजिक संस्कृति के विकास में तेजी लाने वाली मूल्यों की अभिन्न प्रकृति को भी नजरअंदाज किया है। समाजशास्त्र के सिद्धांत के बारे में बात करते हुए मुखर्जी मूल्यों के एक श्रेणीकरण का अस्तित्व प्रस्तावित करते हैं। यह श्रेणीकरण सामाजिक एकीकरण के चार स्तरों पर देखा जाता है। कुछ आर्थिक मूल्य जैसेकि अखंडता, पारस्परिकता, विचार, निष्पक्षता आदि आर्थिक चक्र में प्रदर्शित हो सकते हैं। समाज के भीतर, सदस्यों के बीच न्याय और निष्पक्षता दिखाए जाने की जरूरत है।

मुखर्जी ने मूल्यों से जुड़ी खराबियों के अस्तित्व को स्पष्ट किया है। सामाजिक कमियां और व्यक्तिगत खामियां इन खराबियों की अभिव्यक्ति के लिए जिम्मेदार हैं।

अपने द्वारा लिखित डाइनिमिक्स ऑफ मॉरल एंड डाइमेंशंस ऑफ ह्यूमन इवैलुएशन में उनका कहना है कि नैतिकता का वैश्विक अस्तित्व है। सार्वभौमिक भाईचारे को प्राप्त करने के लिए, मनुष्य को स्वार्थी हितों से ऊपर उठना होगा। हिंसा और कलह भरी इस दुनिया में, यह बहुत जरूरी है।

संस्था द्वारा मूल्यों और आदर्शों का संरक्षण और संश्लेषण

मुखर्जी के कार्य में समूहों, परंपराओं और संस्थानों के बीच अंतर को प्रमुख मूल्यों के एक नाभिक के रूप में दर्शाया गया है। उनका यह भी तर्क था कि चूंकि आदमी शारीरिक रूप से संपन्न और सामाजिक प्राणी है इसलिए वह मूल्यों को अकेले नहीं बल्कि सामूहिक रूप से चाहता है। वह ऐसे समूह और संस्थाएं बनाता है जो मूल्यों की संतुष्टि, प्रचार और प्रसारण के लिए तरीकों और तंत्रों का वर्णन करते हैं। मानव जाति का हर बुनियादी हित और मूल्य समूहों और संस्थानों के गठन का केंद्र बनता है। समूह व्यक्तियों से विकसित होते हैं और बुनियादी मूल्यों की संतुष्टि के लिए एक साथ जुड़ जाते हैं, जबकि संस्थानों के ढेर इन मूल्यों की संतुष्टि और बढ़ावा के लिए समूह संबंधों और गतिविधियों का मानकीकरण, आयोजन और निर्देशन करने का काम करते हैं। समूह मनुष्य द्वारा विशिष्ट मानव मूल्यों की व्यवस्था और पूर्ति करने के काम में प्रकरणों का काम करते हैं, ये मूल्य संबंधित लोगों के सामान्य लक्ष्य बन जाते हैं।

समूह अस्थायी हो सकते हैं और समूहों के मूल्य भी अस्थायी हो सकते हैं, लेकिन जब समूह संस्थानों का रूप लेते हैं तो समूहों के मूल्यों का, पीढ़ियों के अनुभव द्वारा परीक्षण, नवीनीकरण और समेकन हो जाता है। संस्थान पीढ़ियों तक व्यक्तिगत और सामाजिक अनुभव पर विचार–विमर्श, स्मृति, संगठन और निर्णय के परिणाम जोड़ते चले जाते हैं और इस प्रकार आदर्श मूल्य उत्पन्न करते हैं। संस्थानों के ऐसे आदर्श मूल्य व्यक्तियों और समूहों दोनों के जीवन से आगे निकल जाते हैं। संस्थान मूल्यों को एक व्यापक और सामान्य तरीके से परिभाषित करते हैं जिससे व्यक्तिगत कोशिशों और व्यवहारों की विविधता और उनके लचीलेपन के लिए बहुत बड़ा दायरा खाली रह जाता है। सामाजिक तौर पर ढले व्यक्ति का दिमाग निरंतर अपने अनुसार सामाजिक मूल्यों के प्रतिरूप को दोबारा बनाता और संशोधित करता रहता है।

जैसे व्यक्ति के संस्थागत जीवन में उसकी भूमिका और स्तर निर्धारित होने के बाद उसके दायित्व और उसका चरित्र स्थिर हो जाते हैं, वैसे ही उसके मूल्य, झुकाव और आदर्श भी निश्चित और स्थायी हो जाते हैं। मनुष्य एक समाज और संस्कृति के ठोस और अमूर्त मूल्यों में केवल उन संस्थानों के रास्ते प्रवेश कर सकता है और पूर्ण रूप से भाग ले सकता है जो पीढ़ियों से मानव विकास में सामाजिक अनुभव की अवतार रही हैं। यह संस्थानों का जैविक महत्व है। निश्चित रूप से संस्थान आवश्यक और सार्वभौमिक जैविक मूल्यों जैसेकि भोजन, विवाह, परिवार और संरक्षण; आर्थिक मूल्यों जैसेकि धन, संपत्ति, जीवन स्तर और सुरक्षा; सामाजिक मूल्यों जैसेकि स्थिति, सम्मान और प्रतिष्ठा तथा आध्यात्मिक मूल्यों जैसेकि सौंदर्य प्रशंसा, ज्ञान और सुरक्षा की पूर्ति के साधन रहे हैं। ऐसा इसलिए क्योंकि मनुष्य, मुख्य रूप से, इन संस्थानों को साधन के रूप में इस्तेमाल करके इन मूल्यों को पूरा कर सकता है और इन्हें बढ़ावा दे सकता है।

टिप्पणी

मुखर्जी ने इस बात पर भी जोर दिया कि मानवीय मूल्य सामाजिक मूल्यों से निकलते हैं। उनका कहना था कि मनुष्य की ऐसी मानसिक प्रवृत्ति होती है कि उसकी मुख्य चाहतें और इच्छाएं एक–दूसरे से और सामाजिक तरतीब से मिलती–जुलती होती हैं। इस प्रकार अधिकांश मूल्य सामाजिक प्रेरणाओं को इच्छाओं और चाहतों से, विभिन्न स्तरों पर मिला देते हैं। मानवीय मूल्य मूलतः सामाजिक उत्पाद हैं, इन्हें केवल मनुष्य के समूहों और संस्थानों में और उनके माध्यम से संतुष्टि प्राप्त हो सकती है। समूह और संस्थान भोजन, शारीरिक संबंध और आक्रामकता जैसी रूढ़ अहंकारी प्राथमिक इच्छाएं पूरी नहीं करते बल्कि ये गौण चाहतें पूरी करते हैं। संस्थान मनुष्य के प्राथमिक आवेगों और इच्छओं को नियंत्रित करने और कुछ हद तक अनुशासित करने का काम करते हैं। वे उसे सामाजिक बनाते हैं जिससे उसकी अंधी, विस्फोटक और हानिकारक चाहतें, काफी हद तक, स्थिर रुचियों और मूल्यों में बदल जाती हैं। परिवार और विवाह जैसे संस्थान केवल यौन मूल्यों के आधार पर स्थापित नहीं होते।

इसी प्रकार, आर्थिक मूल्य भी गौण और प्राप्त मूल्य हैं, इन्हें भोजन बटोरने, सम्पत्ति इकट्ठा करने, जिज्ञासा या रचनात्मकता जैसी अकेली मुख्य इच्छाओं के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। ये सब एक–दूसरे के साथ मिलने के अलावा, सामाजिक आवेगों के साथ भी मिल जाते हैं जो अकसर बदलते रहते हैं और जिनका पता चलाना मुश्किल होता है। इनमें आर्थिक पर्याप्तता और जीवन स्तर, सुरक्षा और शक्ति के स्थायी व्युत्पन्न आर्थिक मूल्य शामिल हैं। इसी प्रकार, स्थिति और प्रतिष्ठा के व्युत्पन्न सामाजिक मूल्यों को आकार देने के लिए, मनुष्य की आक्रामकता और सहानुभूति, प्रभुत्व और अधीनता की प्राथमिक प्रवृत्तियां एक साथ मिलतीं है।

स्थिति यह है कि इसी प्रकार आक्रामकता और सहानुभूति, प्रभुत्व और आज्ञाकारिता और इसके अलावा सामाजिक स्तर, शक्ति और प्रतिष्ठा, संबंधों के व्यवस्थित वितरण की धारणा जैसे आवेगों का निश्चित रूप से एकीकरण और संयोजन होता है। प्रत्येक संस्थान मूल्यों और भावनाओं को रूढ़िबद्ध करता है और सामाजिक संबंधों और गतिविधि के रूपों को मानकीकृत करता है। दूसरे शब्दों में केवल संस्थागत मूल्य ही मूल्य हैं, केवल संस्थागत संबंध ही वैध संबंध हैं और कार्य करने के संस्थागत तरीके ही समाज में काम करने के नैतिक तरीके हैं। इस प्रकार उत्पन्न होता है संस्थागत भ्रम जिसके अनुसार मनुष्य अपने विवेक को संस्थागत भावनाओं, विश्वासों और आदतों के पीछे छिपा लेता है।

सभी समाजों में संस्थागत भ्रम बने रहने का मुख्य कारण है, मनुष्य के व्यवहारों तथा उसकी सामाजिक कार्रवाइयों और संबंधों और अपने व्यवहार एवं संस्थागत मानकों (जो उसे मानसिक संघर्षों से बचाते हैं) के युक्तिकरण से संबंधित संस्थागत निर्धारण। व्यक्तिगत इच्छाओं के बीच लगातार चलने वाले संघर्ष या प्राथमिकताओं के पैमाने और संस्थागत मूल्यों के कारण मनुष्य कभी संस्थान को प्यार करता है और कभी उससे नफरत करता है। चूंकि मनुष्य को संस्थागत अनुरूपता में फल, सुविधा, सुरक्षा और आत्म–स्थिति प्राप्त होती है, इसलिए एक आम इंसान संस्थान से बच नहीं सकता। दूसरी ओर संस्थान मानदंडों और मानकों की स्थापना करते हैं, जिनसे व्यक्तिगत व्यवहार और मूल्यों की पूर्ति हेतु केवल थोड़ी सी छूट की आज्ञा दी जाती है।

संस्थाएं जैविक, सामाजिक और आदर्श मूल्यों के एकीकरण से अपनी स्थिरता प्राप्त करती हैं। मनुष्य के मूल्य संस्थानों में केंद्रित और एकीकृत होते हैं, क्योंकि ये उसके लक्ष्य बन जाते हैं। पारिवारिक मूल्य यौन की इच्छाओं और संतुष्टि को मानकीकृत और स्थिर करते हैं जिससे ये इच्छाएं उतार–चढ़ाव भरे रास्तों पर चलकर क्रूर वासना में परिवर्तित नहीं होतीं। जैविक, आर्थिक, सामाजिक और आदर्श मूल्य एक–दूसरे से मिल जाते हैं। इसका परिणाम यह निकलता है कि लगातार अपने लक्ष्य और अपनी दिशा बदलने वाला यौन जैसा विस्फोटक और हानिकारक आवेग गहरे, स्थिर और कोमल लगाव के रूप में विकसित हो जाता है, जो कई आदर्श मूल्यों की प्राप्ति का आधार बन जाता है।

मनुष्य के सामाजिक मूल्य और भी भिन्न और जटिल हैं, ये आवेगों और संतुष्टियों के भिन्न प्रकार के धागों से बुने गए हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण हैं– घबराहट, सहानुभूति, सुरक्षा, प्रभुत्व और अधीनता, जो मूल रूप में नहीं पाए जाते लेकिन एक–दूसरे से और भिन्न प्रकार के जैविक और आदर्श मूल्यों से मिश्रित हो जाते हैं। तो निश्चित रूप से, मूल्यांकन की प्रक्रिया से मनुष्य के समूहों और संस्थानों का काम बन जाता है, जो निम्न के जरिए प्राप्त मूल्यों की रचना करते हैं–

1. प्रत्येक मामले में जैविक, सामाजिक और आदर्श संतुष्टियों की व्यवस्था और उनका एकीकरण, जिससे मूल्यों को तीव्रता और स्थिरता, दोनों मिलती हैं।
2. संबंधित लोगों और समूहों की गतिविधियों और उनके संबंधों की व्यवस्था उनके मानकीकरण के जरिए।

संस्थागत मूल्य अपनी स्थिरता और एकता खो देते हैं, और विघटित हो जाते हैं, और ये समूह की एकजुटता भंग करने में भी योगदान देते हैं, क्योंकि संतुष्टि के जैविक, सामाजिक और आदर्श चरण एक साथ गुंथने या अलग होने में असमर्थ रहते हैं। सामाजिक आवेगों या किसी आदर्श संतुष्टि द्वारा अनदेखी की गई क्रूर वासना और आक्रामकता के फलस्वरूप पारिवारिक मूल्य चूक जाते हैं और पारिवारिक समूह बिखर जाते हैं। दूसरी ओर कामुकता के आवेगों, घर बनाने और अन्य इच्छाओं को आर्थिक मूल्यों के प्रभुत्व और बतौर आर्थिक लक्ष्य एक कृत्रिम जीवन स्तर बनाए रखने की इच्छा के कारण पर्याप्त संतुष्टि नहीं मिलती तो इसी प्रकार पारिवारिक मूल्यों का पृथक्करण हो जाता है। अत्यधिक खाद्य संकट या अकाल के समय, अकाल से त्रस्त जनता, जो सामाजिक और यहां तक कि पारिवारिक रिश्तों और दायित्वों से बेखबर उत्साहित होकर भोजन के लिए शिकार करती है, के बीच भूख के आवेग के बढ़ने के कारण आर्थिक मूल्य पिछड़ जाते हैं। ये सामाजिक और आदर्श मूल्यों के बहिष्कार के लिए केवल जैविक मूल्यों के पीछे जाने के चरम उदाहरण हैं, ये सामाजिक सामाजिक अस्थिरता और विघटन बयान करते हैं। समाज की एकजुटता मानव जीवन और व्यवहार के आसपास के संस्थागत मूल्यों के तानेबाने और मनुष्य के मन में सामाजिक आदतें और जीवन जीने का ऐसा तरीका दृढ़ करने पर निर्भर करती है, जिसमें जैविक मूल्य क्रूर अहंकारी संतोष द्वारा अपनी पूर्ति नहीं करते बल्कि सामाजिक और आदर्श मूल्यों के साथ अपना तालमेल बनाए रखते हैं। मनुष्य की सामाजिक उन्नति ऐसी

अपेक्षाकृत निश्चित आदतों, ऐसे दृष्टिकोणों और जीवन जीने के तरीकों के आधार पर ही संभव है, जो कम से कम मानसिक कोशिश के साथ उसके निम्न मूल्यों को उच्च मूल्यों के सामने झुकने के चयन को आसान और ऑटोमैटिक बना दे।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

3. राधाकमल मुखर्जी का जन्म कहां हुआ था?
   (क) दिल्ली में (ख) बहरामपुर में
   (ग) कोलकाता में (घ) बलरामपुर में
4. यह किसका मानना था कि सभ्यता का हमेशा एक आध्यात्मिक पहलू होता है?
   (क) गांधी का (ख) नेहरू का
   (ग) राधाकमल मुखर्जी का (घ) अंबेडकर का

4.4 डॉ. बी.आर. अंबेडकर का समाजशास्त्रीय चिंतन

बाबा साहब अंबेडकर के नाम से मशहूर भीमराव रामजी अंबेडकर का जन्म 14 अप्रैल, 1891 को मध्य प्रदेश के इंदौर के पास महू में एक महार परिवार में हुआ था जो एक अस्पृश्य जाति मानी जाती थी। रामजी मालोजी सकपाल और भीमबाई की वे चौदहवीं संतान थे। अंबेडकर के पूर्वज लंबे समय से ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी में काम करते रहे थे। उनके पिता महू छावनी में भारतीय सेना में थे।

जब वे पांच वर्ष के थे, तभी उनका नाम महाराष्ट्र के रत्नागिरी जिले में दापोली के एक स्कूल में लिखाया गया। वहां उन्हें आभास हुआ कि उनके तथा उनके परिवार के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार होता है। स्कूल में शिक्षक अपवित्र होने के डर से उनकी कॉपी–किताबें नहीं छूते थे। नाई भी उनकी जाति से श्रेष्ठ माने जाते थे, इसलिए वे भी उनके बाल काटने से इनकार कर देते थे। गाड़ीवान भी उन्हें गाड़ियों में नहीं बैठाते थे।

मुंबई के एलिफिंस्टन हाईस्कूल में उन्हें कक्षा में नीचे एक कोने में फट्टा बिछाकर बैठना पड़ता था जबकि अन्य छात्र मेज–कुर्सी पर बैठते थे। उन्हें स्कूल में अन्य छात्रों के लिए रखे पानी को पीने की भी अनुमति नहीं थी।

बचपन से उन्होंने इसी तरह का भेदभाव सहन किया था और इसे वे जीवन भर नहीं भूल पाए। बड़े होकर अंबेडकर को महसूस हुआ कि सामाजिक रूप से दबी–कुचली जाति में जन्मे हर व्यक्ति के साथ ऐसा ही अमानवीय व्यवहार होता है। इस तरह के अपमान तथा कठिन परिस्थितियों के बावजूद अंबेडकर ने 1907 में मैट्रिक की परीक्षा पास की और आगे की पढ़ाई के लिए एलिफिंस्टन कॉलेज में दाखिला लिया। इंटरमीडिएट के बाद भीमराव को बड़ौदा के राजा सयाजीराव गायकवाड़ से छात्रवृत्ति मिल गई और 1912 में उन्होंने कला स्नातक की उपाधि हासिल की। उनके विवाह के समय उनकी पत्नी की उम्र मात्र 9 साल थी। 1912 में ही उनकी पत्नी ने पहले पुत्र यशवंत को जन्म दिया।

1913 में बड़ौदा के राजा ने उन्हें महीने के शुरू में तीन साल तक 11.50 डॉलर की छात्रवृत्ति देने की घोषणा की। इस घोषणा के बाद उनके लिए पोस्टग्रेजुएट के लिए यूनाइटेड स्टेट के कोलंबिया यूनिवर्सिटी में दाखिला लेने का रास्ता खुल गया। इस प्रकार अंबेडकर किसी विदेशी विश्वविद्यालय में पढ़ने जाने वाले पहले महार विद्यार्थी बने। छात्रवृत्ति के बदले अंबेडकर को बड़ौदा रियासत में दस साल तक नौकरी करनी थी। जून 1915 में उन्होंने एम.ए. की उपाधि हासिल की जिसमें उनका विषय अर्थशास्त्र के साथ–साथ समाजशास्त्र भी था। उन्होंने 'एनशिएंट इंडियन कॉमर्स' शीर्षक से शोधप्रबंध भी प्रस्तुत किया। मई 1916 में उन्होंने डॉ. गोल्डॉनवाइजर द्वारा प्रायोजित मानवशास्त्र पर हुए सेमिनार में 'द कास्ट्स इन इंडिया, देयर मैकेनिज़्म, जेनेसिस एंड डेवलपमेंट' विषय पर शोधपत्र प्रस्तुत किया। जून, 1916 में उन्होंने पीएच.डी के लिए 'नेशनल डिविडेंट फॉर इंडिया : ए हिस्टॉरिक एंड एनालिटिकल स्टडी शीर्षक' से शोध प्रबंध प्रस्तुत किया। बाद में यह शोध प्रबंध 'द इवॉल्यूशन ऑफ प्रॉविन्शियल फाइनेंस इन ब्रिटिश इंडिया' नाम से किताब के रूप में प्रकाशित हुआ। कोलंबिया विश्वविद्यालय से वे स्नातक छात्र के रूप में लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स गए। तभी उनकी छात्रवृत्ति बंद हो गई और उन्हें भारत लौटना पड़ गया।

बड़ौदा के महाराजा ने डॉ. अंबेडकर को बड़ौदा सिविल सेवा में राजनीतिक सचिव नियुक्त किया। डॉक्टर की उपाधि हासिल कर चुके भीमराव को शीर्ष स्तर के पद के लिए प्रशिक्षण दिया गया। इतने मान–सम्मान के बावजूद अंबेडकर को भारत में भेदभाव झेलना पड़ता था। उन्हें ऑफिस में कोई भी व्यक्ति फाइलें हाथ से नहीं देता था। नौकर तक उनकी मेज पर फाइलें फेंककर चला जाता था। निचली जाति का होने के कारण उन्हें पीने का पानी तक नहीं मिलता था। भीमराव के लिए यह व्यवहार बहुत दुखदायी और अपमानजनक था क्योंकि वे लंबे समय तक विदेश में रहे थे जहां किसी भी तरह का सामाजिक भेदभाव नहीं होता था। अंबेडकर ने सिर्फ 11 दिनों में ही नौकरी से इस्तीफा दे दिया और बड़ौदा से मुंबई चले गए।

अंबेडकर ने 1918 में मुंबई के सिडेनहम कॉलेज में पढ़ाना शुरू कर दिया। वे बहुत श्रेष्ठ शिक्षक तथा विद्वान माने जाते थे, लेकिन सामाजिक व्यवहार वहां भी ऐसा ही था। डॉ. अंबेडकर ने 31 जनवरी, 1920 को कोल्हापुर के शाहूजी महाराज की सहायता से 'मूक नायक' नाम का समाचार पत्र निकालना शुरू किया। शाहूजी भी वंचित वर्गों के उत्थान के लिए सजग थे। उन्होंने अस्पृश्य लोगों की कई सभाएं और सम्मेलन भी कराए थे। इन सभाओं और सम्मेलनों में भीमराव भाषण देते थे। कुछ धन इकट्ठा होने पर अंबेडकर सितंबर, 1920 में अपनी पढ़ाई पूरी करने फिर से लंदन गए। उन्होंने बैरिस्टर की उपाधि हासिल की और विज्ञान में डॉक्टरेट भी पाई। जून, 1921 में उन्होंने अपना शोध प्रबंध, 'प्रॉविंशियल डिसेंट्रलाइजेशन ऑफ इंपीरियल फाइनेंस इन ब्रिटिश इंडिया' पेश किया और लंदन से अर्थशास्त्र में एम. ए. की डिग्री हासिल करने के बाद अप्रैल, 1923 में वकालत करने भारत लौट आए।

वकालत के साथ–साथ अंबेडकर ने जुलाई, 1924 में बहिष्कृत हितकारणी सभा की भी स्थापना की जिसका उद्देश्य सामाजिक और राजनीतिक रूप से वंचित तबकों का उत्थान करना और उन्हें भारतीय समाज की मुख्य धारा में शामिल करना था। 1927

में उन्होंने महार मार्च (जुलूस) निकाला और जाति प्रथा के प्रति विरोध जताने तथा अस्पृश्यों को सार्वजनिक तालाब का पानी इस्तेमाल करने देने के अधिकार के लिए मुंबई के पास कोलाबा में चावदार तालाब पर मनुस्मृति की प्रतियां जलाईं। लंदन से वापस आने के बाद अंबेडकर ने पाया कि इतने सालों में कुछ भी नहीं बदला। अस्पृश्यता की प्रथा के रहते उनकी सारी योग्यताएं निरर्थक थीं और उनके आगे बढ़ने में सबसे बड़ी बाधा यही जाति प्रथा थी। इस सबके बावजूद अंबेडकर ने बेहतरीन शिक्षा हासिल की और दलित समुदाय के नेता के रूप में अपने को तैयार किया। वे कानून के विशेषज्ञ थे और उत्कृष्ट तथा प्रभावी वक्ता होने के कारण ब्रिटिश आयोग के सामने प्रभावशाली तर्क पेश कर सकते थे। भीमराव ने अपना शेष जीवन इसी कार्य में लगाया। अंबेडकर को आज दलितों–पिछड़ों का मसीहा, साहित्यप्रेमी, विद्वान, उत्कृष्ट शिक्षाविद, राजनीतिक दार्शनिक, सुयोग्य सांसद तथा महान विचारक माना जाता है।

अंबेडकर के जीवन का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू भी था जिसकी चर्चा करना जरूरी है। वह था उनका बौद्ध धर्म स्वीकार करना। अंबेडकर ने बौद्ध धर्म का गहन अध्ययन किया था। बौद्ध धर्म में हिंदू जाति व्यवस्था को अस्वीकार किया गया था। यह बात अंबेडकर तथा अन्य वंचित वर्ग के नेताओं को आकर्षित करती थी। 1950 के दशक में अंबेडकर ने पूरा ध्यान बौद्ध धर्म की ओर लगा दिया और बौद्ध विद्वानों तथा भिक्षुओं के सम्मेलन में भाग लेने श्रीलंका भी गए। 1955 में उन्होंने भारतीय बौद्ध महासभा का गठन किया। 1956 में उन्होंने नागपुर में एक विशाल सार्वजनिक समारोह करके अपने समर्थकों के साथ बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। अंबेडकर ने एक बौद्ध भिक्षु से पारंपरिक तरीके से तीन रत्न ग्रहण करके और पंचशील को अपनाते हुए बौद्ध धर्म ग्रहण किया। उनके साथ उनकी पत्नी ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार किया। एक अनुमान के मुताबिक उनके साथ करीब 500,000 समर्थकों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया।

4.4.1 सामाजिक न्याय

व्यक्तिगत अपमान तथा अमानवीय व्यवहार के उनके अनुभव बहुत कटु थे। उच्च जाति के हिंदुओं ने अस्पृश्य जातियों के लिए कई तरह के बंधन लगा रखे थे। हालांकि अंबेडकर किसी व्यक्ति के खिलाफ नहीं थे, लेकिन उन्होंने हिंदुत्व और उससे भी अधिक ब्राह्मणवाद के खिलाफ सक्रियता से कार्य किया, क्योंकि मानवीय समाज की स्थापना में वह सबसे बड़ा बाधक था। उनका मानना था कि मानवीय समाज का लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति को समृद्ध तथा भरा–पूरा जीवन जीने देना होना चाहिए जिसमें सभी के मस्तिष्क के विकास के अवसर हों और सभी अपनी भौतिक जरूरतें पूरी कर सकें।

अंबेडकर बुद्ध, कबीर और ज्योतिबा फुले से बहुत अधिक प्रभावित थे। बुद्ध और कबीर से उन्होंने मानव समानता का दर्शन सीखा। समाज सुधारक ज्योतिबा फुले से उन्होंने उच्च जातियों के प्रभुत्व के विरुद्ध लड़ना तथा शिक्षा एवं आर्थिक उत्थान के जरिए जनता के उन्नयन के लिए काम करना सीखा। अंबेडकर के अनुसार, 'शिक्षा ऐसी चीज है जो सबकी पहुंच में होनी चाहिए।' उन्होंने महसूस किया कि निचली जातियों को उच्च जातियों के भेदभाव तथा अन्याय से मुक्त कराने का एक रास्ता शिक्षा ही है। उनके अनुसार, 'प्राथमिक शिक्षा का उद्देश्य यह देखना है कि प्राथमिक स्कूलों में आने वाला हर बच्चा साक्षर बनने से पहले पढ़ाई न छोड़े और शेष जीवन साक्षर बना रहे।'

अंबेडकर के विचार स्वतंत्रता, समानता तथा सद्‌भाव पर आधारित समाज की स्थापना करने के पक्ष में थे। वे विद्यमान जाति प्रथा के विरुद्ध लड़ने के लिए दृढ़–संकल्प थे। उन्होंने राजनीतिक स्वतंत्रता से अधिक महत्व सामाजिक परिवर्तन को दिया। उनका उद्देश्य परंपरावादी सामाजिक व्यवस्था का विरोध करना तथा अस्पृश्यों के राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई लड़ना था। उन्होंने समाज और राजनीति, दोनों क्षेत्रों में सक्रिय योगदान दिया।

अंबेडकर ने अस्पृश्यता तथा जाति प्रथा के विरुद्ध संघर्ष शुरू करने से पहले हिंदू समाज का पूरा अध्ययन और विश्लेषण किया। उन्होंने जाति प्रथा तथा अस्पृश्यता के विरुद्ध लड़ाई शुरू करने से पहले इन बुराइयों के आरंभ का विश्लेषण करने की कोशिश की। अंबेडकर ने महसूस किया कि निचली जातियों का दमन दो कारणों से होता है– पहला, सशक्त अंदरूनी वर्णानुक्रम और दूसरा, जाति आधारित असमानता। इस प्रकार, अंबेडकर ने निचली जातियों के लोगों से अपनी जीवनशैली में बदलाव की अपील की। उन्होंने दलितों से मरे हुए जानवरों को उठाने का काम छोड़ने को कहा। उन्होंने मरे हुए जानवरों का मांस खाना, शराब पीना और भीख मांगना छोड़ने की भी सलाह दी। उन्होंने पढ़ने और अच्छे कपड़े पहनने का भी आग्रह किया। अंबेडकर ने निचली जातियों के लोगों में गौरवशाली इतिहास की भावना जगाने की कोशिश की ताकि उन्हें वैकल्पिक, जातिरहित पहचान हासिल करने में मदद मिले और वे अपने मतभेद भुलाकर आत्मसम्मान हासिल कर सकें। अंबेडकर जाति प्रथा के नाश के लिए पूरी तरह से प्रतिबद्ध थे। उनका विचार था कि जाति प्रथा सिर्फ श्रम का विभाजन नहीं, बल्कि श्रमिकों का भी विभाजन है। यह स्तरीकरण की प्रणाली है जिसने श्रमिकों को एक के ऊपर एक स्तर पर रखकर विभाजित किया। श्रम का विभाजन व्यक्तिगत रुझान या संबंधित व्यक्ति की पसंद पर आधारित नहीं था। उन्होंने इसे नुकसानदायक माना क्योंकि यह मनुष्य की नैसर्गिक शक्ति तथा पूरी शक्ति से कार्य करने की योग्यता का दुरुपयोग है।

अंबेडकर के अनुसार, आत्मसम्मान तथा मानवीय गरिमा की भावनाएं लोकतांत्रिक देश में महत्वपूर्ण आवश्यकताएं हैं। उन्होंने स्तर की समानता के पावन उद्देश्य का समर्थन किया। उनका विचार था कि व्यक्ति की गरिमा तथा देश की एकता सुनिश्चित करने के लिए हर भारतीय को समान अवसर मिलने चाहिए। वे एक महान विद्वान ही नहीं थे, बल्कि ऐसे बुद्धिजीवी तथा चिंतक भी थे जिन्होंने अपना समूचा जीवन दबे–कुचलों के उत्थान के लिए समर्पित कर दिया। उन्होंने समाज के वंचित और दबे–कुचले वर्गों की मर्यादा तथा उत्थान के लिए लड़ाई लड़ी।

उन्होंने साम्यवाद का कभी समर्थन नहीं किया और हमेशा व्यापक समाज के हित के लिए कार्य किया। उनका जीवन मानवता की सेवा के लिए समर्पित था। उन्होंने अन्याय, असमानता, अत्याचार और शोषण के विरुद्ध संघर्ष किया। डॉ. अंबेडकर का सिद्धांत व्यक्ति के नहीं, बल्कि सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ लड़ाई का था। उनका मानना था कि किसी व्यक्ति या उसके दृष्टिकोण को उसके पीड़ित साथियों की पीड़ा के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता, उनके अनुसार उत्तरदायी सामाजिक परंपराएं हैं जो असमानताओं की सामाजिक प्रणाली का समर्थन करती हैं।

भारतीय राजनीतिक प्रणाली से संबंधित अंबेडकर के विचार

भीमराव अंबेडकर एक सामाजिक क्रांतिकारी और सच्चे उदारवादी थे, जिन्होंने नई राजनीतिक व्यवस्था के लिए कार्य किया तथा 'लोक भारत' और 'अखंड भारत' की कल्पना की। भारतीय राजनीति लंबे समय से आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से गुजरती रही थी। कई महान लोगों ने राजनीति के आधुनिकीकरण में योगदान दिया लेकिन वह सूक्ष्म–दृष्टि अंबेडकर के ही पास थी जिसने समूचे राष्ट्र के आधुनिकीकरण में बहुआयामी भूमिका निभाई। वह उन गिने–चुने लोगों में से थे जिन्होंने महसूस किया कि बिना सामाजिक परिवर्तन के राजनीति के आधुनिकीकरण का विचार अस्पष्ट रहेगा। यही कारण था कि उन्होंने सामाजिक क्रांति के साथ–साथ राजनीति में भी सक्रियता दिखाई। उनका हमेशा यह विचार रहा कि हिंदू धर्म ही भारतीय समाज के विखंडन और नैतिक पतन के लिए जिम्मेदार है। सामाजिक अन्याय के विरुद्ध लड़ाई छेड़ने के मजबूत इरादे के साथ अंबेडकर ने बहिष्कृत हितकारिणी सभा के बैनर तले समाज सुधार आंदोलन शुरू किया।

डॉ. अंबेडकर का मुख्य उद्देश्य सरकार का लोकतांत्रिक स्वरूप तथा वास्तविक सत्ता जनता के हाथों में स्थानांतरित करना था। उन्होंने इस उद्देश्य के लिए आजीवन संघर्ष किया। उनका स्पष्ट विचार था कि जब तक नागरिकों के हाथों में सत्ता नहीं होगी, तब तक सच्चे अर्थों में लोकतंत्र कायम नहीं हो सकता।

अंबेडकर के अनुसार लोकतंत्र में निम्न चार बातें होनी चाहिए–

1. व्यक्ति अपने आप में स्वतंत्र इकाई होता है।
2. हर व्यक्ति के कुछ बुनियादी अधिकार होते हैं जिन्हें कभी नहीं छीना जा सकता। संविधान को उनकी गारंटी देनी चाहिए।
3. किसी विशेषाधिकार को हासिल करने के लिए किसी व्यक्ति को उसके किसी संवैधानिक अधिकार के त्याग के लिए मजबूर नहीं किया जाना चाहिए।
4. राज्य किसी भी निजी समूह को अन्य लोगों पर शासन करने का अधिकार नहीं देगा।

डॉ. अंबेडकर की समूची राजनीतिक विचारधारा का सार उनके निम्नलिखित दो बयानों में निहित है–

(क) किसी व्यक्ति या समूह के अधिकारों की रक्षा कानून से नहीं, बल्कि समाज की सामाजिक तथा नैतिक चेतना से होती है।

(ख) समाज का लोकतांत्रिक स्वरूप, सरकार के लोकतांत्रिक स्वरूप की पूर्व शर्त होता है।

मूलभूत अथवा गौण, सभी तरह के अधिकारों की सुरक्षा के लिए सबसे महत्वपूर्ण मापदंड सामाजिक चेतना होती है। व्यक्ति के अधिकार कानून द्वारा रक्षित होने संबंधी प्रचलित विचार बहुत मायने नहीं रखते। लोकतंत्र के औपचारिक ढांचे का कोई महत्व नहीं। लोकतंत्र बुनियादी तौर पर समाज का एक स्वरूप है, जो सामूहिक जीवन का तरीका है। सामाजिक संबंध लोकतंत्र के आधार हैं।

टिप्पणी

डॉ. अंबेडकर एक संविधान विशेषज्ञ थे और उनकी इस विशेषज्ञता ने भारतीय संविधान में राजनीतिक लोकतंत्र की अवधारणाओं को बहुत हद तक समृद्ध किया। उन्हें संविधान का मुख्य रचयिता माना जाता है क्योंकि वे ही संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष थे। डॉ. अंबेडकर के बनाए संविधान के प्रारूप में नागरिकों के लिए बहुत सारी नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा की गारंटी दी गई है जिनमें धर्म की स्वतंत्रता, अस्पृश्यता का उन्मूलन और हर तरह के भेदभाव को समाप्त करना शामिल है। अंबेडकर ने महिलाओं के गठन, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों का पक्ष लिया। उन्होंने अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए सरकारी नौकरियों, स्कूलों और कॉलेजों में आरक्षण की प्रणाली लागू करने के लिए केंद्रीय विधानसभा में समर्थन भी जीतकर दिखाया, जिसे बहुत सुधारात्मक उपाय माना जाता है।

अंबेडकर के अनुसार राजनीतिक लोकतंत्र सामाजिक लोकतंत्र के आधार के बिना कायम नहीं रह सकता। सामाजिक लोकतंत्र ऐसी जीवन शैली है जिसमें स्वतंत्रता, समानता तथा भाईचारा जीवन के बुनियादी सिद्धांतों के रूप में रहता है। ये सिद्धांत आपस में एक–दूसरे से अलग नहीं, बल्कि जुड़े हुए हैं। इन्हें मिलाकर एक ऐसी तिकड़ी बनती है जिसमें कि इनको एक–दूसरे से अलग किया जाए तो लोकतंत्र का उद्देश्य पराजित हो जाता है। सामाजिक लोकतंत्र की अनुपस्थिति में लोगों के हाथों में सत्ता आना एक कल्पना मात्र हो सकती है। अंबेडकर इस बात से भली–भांति परिचित थे कि सिर्फ सरकार के लिए लोकतांत्रिक प्रणाली स्वीकार कर लेने से ही देश लोकतांत्रिक नहीं कहलाने लगता। उनका मानना था कि प्रत्येक समाज में समानता, कानून तथा प्रशासन की दृष्टि में समानता, संवैधानिक नैतिकता, अल्पसंख्यकों के प्रति बहुसंख्यकों का उदार दृष्टिकोण तथा जनचेतना का विकास भारत में लोकतंत्र की सफलता के लिए बहुत आवश्यक है। अंबेडकर के अनुसार सफल लोकतंत्र की सबसे जरूरी शर्त समाज में समानता थी क्योंकि यह लोकतंत्र के उस शानदार महल की आधारशिला होती है जिसमें उदारता तथा भाईचारे के विचार पनपते हैं। उन्होंने कहा था कि समानता, मानव व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है और अगर समानता का अधिकार छीना गया तो सारे प्रयास बेकार हो जाते हैं।

भारत में समाज सुधारकों के नक्षत्रों में डॉ. अंबेडकर पहले थे जिन्होंने भारत में सामाजिक समस्याओं के हल के लिए कानूनी तथा राजनीतिक विचार पेश किये। उन्होंने अस्पृश्यों के सामाजिक स्तर के उत्थान के लिए सकारात्मक प्रयास किये। 1930 के बाद उन्होंने अपने आपको अस्पृश्यों के शैक्षणिक विकास के लिए समर्पित कर दिया। वे पहले समाज सुधारक थे जिन्होंने अस्पृश्यों के राजनीतिक तथा कानूनी अधिकारों की लड़ाई लड़ी क्योंकि उनके अनुसार, क्रांति का अर्थ सिर्फ एक दल से दूसरे दल के हाथ में राजनीतिक सत्ता का हस्तांतरण है। वास्तविक सामाजिक परिवर्तन तभी होगा जब क्रांति के साथ–साथ सत्ता का समाज की सभी ताकतों के बीच समान बंटवारा हो। उन्होंने वंचित वर्गों के सांस्कृतिक, धार्मिक और आर्थिक अधिकारों से संरक्षण वाले मूलभूत अधिकारों का घोषणापत्र तैयार किया और अल्पसंख्यकों की उपसमिति के सामने इसे पेश किया। अस्पृश्यता के उन्मूलन तथा समान नागरिकता के लिए उनका बहुत तीव्र आग्रह था।

डॉ. अंबेडकर का विश्वास था कि समतामूलक समाज व्यवस्था के लिए पुरुषों के बीच ही नहीं, बल्कि महिला और पुरुषों के बीच भी समानता होनी चाहिए। देश के कानून मंत्री के रूप में डॉ. अंबेडकर ने 4 फरवरी, 1951 को हिंदू कोड बिल पेश किया था। हिंदू कोड बिल ने उनके प्रचलित कानून में सिर्फ चार नई बातें जोड़ीं। ये बातें थीं—जन्म से प्राप्त अधिकार के सिद्धांत का उन्मूलन, महिलाओं को संपत्ति में अधिकार, पैतृक संपत्ति में लड़कियों का हिस्सा तथा तलाक का प्रावधान। इसमें संतान को गोद लेने में पति के साथ—साथ पत्नी की भी मंजूरी का प्रावधान था। लड़कियों को भी गोद लेने की अनुमति दी गई। इस प्रकार अंबेडकर भारत के पहले क्रम के नारीवादी थे। अंबेडकर के सामाजिक परिवर्तन के आंदोलनों का मुख्य उद्देश्य समतामूलक सामाजिक व्यवस्था कायम करना था जो कि आधुनिक भारतीय राजनीति की वास्तविक आधारशिला बनी।

डॉ. अंबेडकर का एक अन्य उद्देश्य भारतीय राजनीति को आर्थिक शोषण से मुक्त करना था क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास था कि जातिविहीन तथा वर्गविहीन समाज ही भारतीय राजनीति का मुख्य आधार होगा। 1937 में उन्होंने इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी का गठन किया। यह पार्टी शिक्षा, औद्योगिकीकरण तथा सामाजिक समानता के लिए समर्पित थी। बंबई प्रांत में यह पार्टी दूसरी सबसे बड़ी पार्टी बन गई। 15 आरक्षित सीटों में से इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी को 11 सीटें मिलीं। लेबर पार्टी के सदस्य के रूप में अंबेडकर का मुख्य मुद्दा भूस्वामित्व तथा पूंजीवाद समाप्त करना था। 1937 में बंबई विधानसभा में उन्होंने किसानों, खेतिहर मजदूरों तथा समाज के सभी वर्गों के कामगारों की आर्थिक समस्या को उठाया। यह भी बताना जरूरी है कि पहली लोकप्रिय प्रांतीय विधानसभा में अंबेडकर पहले विधायक थे जिन्होंने कृषि बटाईदारों की दासता खत्म करने के लिए विधेयक पेश किया। उन्होंने भूमिहीन मजदूरों, लघु सामूहिक खेती, भूमि राजस्व, मुद्रा प्रणाली, शिक्षा के व्यापीकरण तथा भूमिस्वामित्व—उन्मूलन जैसे मुद्दे भी उठाए। भारत के दो वायसरायों की कार्यकारी परिषदों के श्रम सदस्य के रूप में उन्होंने देश में श्रम कानूनों तथा कल्याण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। मजदूरों तथा कामगारों के अधिकारों की रक्षा के लिए उन्होंने कई कानूनी प्रावधानों को लाने में अहम भूमिका निभाई। उन्होंने सभी मजदूरों से समान व्यवहार पर जोर दिया, फिर चाहे वे औद्योगिक मजदूर हों या खेतिहर।

अंबेडकर का उद्देश्य लोगों के आर्थिक जीवन में संरचनात्मक परिवर्तन लाना था ताकि शोषण की कोई गुंजाइश न बचे। डॉ. अंबेडकर महान स्वप्नद्रष्टा थे। वे ऐसा लोक भारत बनाना चाहते थे जो मजबूत और अखंड हो। अपने उद्देश्य को हासिल करने के लिए उनके व्यावहारिक दृष्टिकोण ने उन्हें अन्य लोगों से अलग बनाया। उनका विश्वास था कि देश भले ही स्वतंत्र हो गया हो, लेकिन इसके लोग नहीं। राज्य की सत्ता सिर्फ कुछ प्रभावशाली लोगों के हाथों में सीमित है। शोषित और शोषक वाली राजनीतिक व्यवस्था उन्हें स्वीकार्य नहीं थी। भारत को आधुनिक और सभ्य, वैमनस्य तथा मतभेद मुक्त बनाने के अपने उद्देश्य के एक हिस्से के रूप में उन्होंने राजनीति की अन्य समस्याओं पर भी ध्यान दिया।

देश की एकता और अखंडता को ध्यान में रखते हुए डॉ. अंबेडकर ने भाषा की समस्याओं पर भी ध्यान दिया। उन्होंने एक भाषा–अनेक राज्य का सुझाव दिया। वे भाषाई आधार पर राज्यों के गठन के विरोधी थे। डॉ. अंबेडकर के देशभक्ति से भरे मन में यह विचार कभी नहीं आया कि भाषा के नाम पर भारत की एकता को कोई खतरा हो सकता है। उन्होंने ठोस चेतावनी दी कि जिस तरह से एक धर्म लोगों को एकजुट कर सकता है, उसी तरह से दो भाषाएं लोगों को विभाजित कर सकती हैं। संविधान के प्रारूप में उन्होंने हिंदी को राष्ट्र भाषा तथा अशोक चक्र को राष्ट्रीय प्रतीक बनाया। वे भारत को शांतिपूर्ण और भाईचारे का देश बनाना चाहते थे। डॉ. अंबेडकर स्वप्नद्रष्टा और क्रांतिकारी, दोनों ही थे। वे राष्ट्रवाद की मजबूत भावना में उदारवादी थे। व्यक्तिगत स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय, समानता, देश की एकता तथा अखंडता के लिए उनके अपार योगदान के लिए भारत की जनता उन्हें लंबे समय तक याद रखेगी।

4.4.2 जातिविहीन समतामूलक समाज

अंबेडकर की आदर्श समाज की अवधारणा (नई सामाजिक व्यवस्था)

अंबेडकर उस नई सामाजिक व्यवस्था के मुख्य नायक थे जो स्वतंत्रता, समानता और सद्भाव के आदर्शों पर आधारित थी। जाति प्रथा, अस्पृश्यता तथा महिलाओं की स्थिति जैसी सामाजिक समस्याओं के बारे में उनके विचारों ने उनके सामाजिक–राजनीतिक आदर्शों की नींव रखी। जीवन के उनके अनुभवों तथा उनके बौद्धिक ज्ञान ने उन्हें हिंदू धर्म तथा उसकी सामाजिक व्यवस्था के प्रति संदेही बना दिया था। उनकी व्यावहारिकता तथा आदर्शवाद ने उन्हें सामाजिक न्याय पर आधारित नई सामाजिक व्यवस्था के लिए काम करने को प्रेरित किया ताकि भारतीय लोकतंत्र का भविष्य मजबूत तथा स्थायी हो सके।

अंबेडकर उपेक्षित मानवता के नेता तथा प्रवक्ता थे। उन्होंने अस्पृश्यों की दयनीय स्थिति को दुनिया के सामने रखा और उन्हें समाज की मुख्य धारा में लाने के लिए ईमानदारी से प्रयास किये। डॉ. अंबेडकर की प्रगतिशील विचारधारा उनके सामाजिक और राजनीतिक जीवन का आधार रही। हालांकि उनका जन्म महार जाति में हुआ था, लेकिन उन्होंने अपने को कभी इसी जाति तक सीमित नहीं रखा, बल्कि सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े सभी लोगों का प्रतिनिधित्व किया।

उन्हें दबे–कुचलों के अधिकारों का मसीहा, साहित्य प्रेमी, प्रखर शिक्षाविद, राजनीतिक दार्शनिक, सुयोग्य सांसद तथा महान चिंतक बिल्कुल सही माना जाता है। डॉ. अंबेडकर ने अस्पृश्यों के साथ–साथ समाज के वंचित वर्गों को आत्मसम्मान हासिल करने के लिए तैयार करने हेतु कोई कोर–कसर नहीं छोड़ी। इन वर्गों के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक शोषण के खिलाफ सतत लड़ाई लड़ते रहे।

अंबेडकर ने महसूस किया कि भाईचारे पर आधारित समाज ही लोकतंत्र को सफल बना सकता है। उनका विश्वास था कि लोकतंत्र सिर्फ सरकारों का स्वरूप भर नहीं है, बल्कि यह प्राथमिक रूप से सामूहिक जीवन और समान अनुभवों का तरीका

टिप्पणी

है। इसमें अन्य मनुष्यों के प्रति सम्मान की भावना आवश्यक रूप से होनी चाहिए। लोकतंत्र में सबको अपने पेशे के चयन की स्वतंत्रता होनी चाहिए। लोकतंत्र हो लेकिन पेशे की स्वतंत्रता न हो तो इससे गुलामी को बढ़ावा मिलेगा। हालांकि, सच्चे अर्थों में समानता संभव नहीं है, लेकिन हर मनुष्य के साथ समान व्यवहार बिलकुल संभव है। जाति प्रथा और अस्पृश्यता में ऐसे विचारों को नकारा जाता है, इसलिए उन्होंने मांग की कि जाति प्रथा और अस्पृश्यता किसी भी रूप में नहीं होनी चाहिए।

जाति प्रथा

अंबेडकर के अनुसार, हिंदू धर्म की सामाजिक संरचना चार वर्णों या चतुर्वर्ण पर आधारित है जो असमानता पैदा करती है और जाति प्रथा तथा अस्पृश्यता की जनक है। हिंदू धर्म में सब कुछ जाति केंद्रित और जाति–आधारित है। जाति ही व्यक्ति का सामाजिक स्तर तय करती है। हिंदू मान्यता के अनुसार, चारों वर्ण ब्रह्मा के विभिन्न अंगों से पैदा हुए हैं। सर्वोच्च जाति ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से पैदा मानी जाती है। वे वेदों का पठन–पाठन करते थे। हिंदू समाज में उन्हें सबसे श्रेष्ठ मानव माना जाता था। दूसरा वर्ण क्षत्रिय है, जो ब्रह्मा की भुजाओं से पैदा माने जाते हैं। उनका काम ईश्वर के बनाए प्राणियों की रक्षा करना होता था। तीसरे वर्ण वैश्य के लोग ब्रह्मा की जांघों से पैदा माने जाते हैं। वे समाज की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कार्य करते हैं। चौथा वर्ण शूद्र होता है, जो ब्रह्मा के पैरों से पैदा माने जाते हैं। उनका काम समाज के अन्य तीनों वर्णों की सेवा करना होता था। माना जाता है कि हर व्यक्ति का धर्म उसके जन्म से निर्धारित होता है और हर व्यक्ति के पेशे का स्वरूप उसकी जाति से निर्धारित होता है।

सभी मनुष्यों को समान मानने से इनकार करने वाली जाति प्रथा की जड़ें भारत में बहुत मजबूत हैं। सामाजिक व्यवस्था जातियों के वर्गीकरण पर आधारित है जो सम्मान के लिहाज से बढ़ते क्रम में तथा अपमान के क्रम में होता है। इस व्यवस्था में समानता तथा भाईचारे की भावना की कोई गुंजाइश नहीं होती, जो कि सरकार के लोकतांत्रिक स्वरूप में आवश्यक होती है। जाति प्रथा सिर्फ श्रम के विभाजन का नाम नहीं है, बल्कि यह श्रमिकों का पदानुक्रम संबंधी विभाजन है, जो प्राकृतिक रुझान या स्वतः प्रवृत्ति पर आधारित नहीं, माता–पिता की जाति पर आधारित होता है।

अंबेडकर ने जाति प्रथा को पूरी तरह से अवैज्ञानिक बताते हुए इसकी निंदा की। उनका विश्वास था कि सभ्य समाज में श्रम का विभाजन बहुत कड़ा नहीं होना चाहिए, इसलिए इस तरह का विभाजन पूरी तरह से अप्राकृतिक है। श्रम का यह अप्राकृतिक विभाजन व्यक्ति को मजबूर करता है कि वह अपने माता–पिता की जाति के अनुसार पेशे का चयन करे, न कि अपनी मौलिक क्षमता के अनुसार। अंबेडकर मानते थे कि जाति प्रथा जबरदस्ती अंतरजातीय विवाहों तथा सामूहिक खान–पान से समाप्त नहीं हो सकती।

उन्होंने लोगों से आग्रह किया कि वे शास्त्रों के जाल से मुक्त हों और अपने मन से शास्त्रों के जरिए बैठाए विचार हटा दें। लोगों को बुद्ध और नानक की तरह शास्त्रों के वर्चस्व को नकार देना चाहिए।

अस्पृश्यता

अस्पृश्यता का अर्थ माना जाता है कि कुछ खास लोगों के छूने से कोई खास जाति या परिवार अपवित्र हो जाएगा। माना जाता है कि अस्पृश्यता का संबंध हिंदू समाज से ही है। अस्पृश्यता का आरंभ भारत में 400 ईसवी के आस–पास हुआ। इसकी शुरुआत बौद्ध तथा ब्राह्मणवाद के बीच श्रेष्ठता की लड़ाई से हुई। अस्पृश्यता शब्द का इस्तेमाल अंबेडकर ने स्वयं हिंदू समाज में व्याप्त छुआछूत के लिए किया है। स्वतंत्रतापूर्व के दौर में दलितों को अस्पृश्य कहा जाता था। बाद में 1935 में जब इन जातियों के लिए विशेष अधिकारों का प्रावधान हुआ तो इनके लिए अनुसूचित जाति शब्द का इस्तेमाल होने लगा। गांधीजी ने 1933–34 में जब अस्पृश्यता के विरुद्ध अभियान चलाया तो उन्होंने इनके लिए हरिजन शब्द का इस्तेमाल किया जो उन्होंने मध्ययुगीन संत–कवि नरसिंह मेहता से उद्धृत किया था। तभी से अंबेडकर के अनुयायियों को छोड़कर बाकी लोग आमतौर पर हरिजन शब्द का इस्तेमाल करने लगे। अंबेडकर ने गांधीजी के दिए इस शब्द का विरोध करते हुए अस्पृश्यों के लिए दलित शब्द का इस्तेमाल किया।

अस्पृश्यता की शुरुआत कैसे हुई, यह अब तक एक रहस्य बना हुआ है। हालांकि, आमतौर पर माना जाता है कि इसकी शुरुआत जाति प्रथा से ही हुई है। अस्पृश्य जाति से ही आने वाले अंबेडकर ने इस बुराई के ऐतिहासिक और सामाजिक पहलुओं का विश्लेषण किया। अपनी पुस्तक 'द अनटचेबिल्स' में उन्होंने अस्पृश्यता के उद्गम और चलन का विस्तृत विश्लेषण किया है। यह पुस्तक 1948 में प्रकाशित हुई थी।

अंबेडकर ने इस पुस्तक के जरिए अस्पृश्यों पर गंदगी का ठप्पा लगाने का विरोध किया। उन्होंने ऐलान किया कि अस्पृश्यता का चलन निराधार है और मानवता के विरुद्ध है। उन्होंने कहा कि अस्पृश्यता के साथ पवित्र और अपवित्र होने का जो विचार जोड़ा गया है वह किसी समूह, व्यक्ति या वंश के आधार पर लागू नहीं होता। अंबेडकर ने जोर देकर कहा कि कोई व्यक्ति सिर्फ किसी जाति विशेष में पैदा होने के कारण ही अपवित्र नहीं कहा जा सकता। ऊपर बताए बिंदुओं के आधार पर अंबेडकर ने अस्पृश्यता को पूरी तरह से हटाए जाने की मांग की। उन्होंने साफ कहा कि अस्पृश्यता उन्मूलन की जरूरत सामाजिक और कानूनी, दोनों स्तरों पर बहुत तीव्रता से है।

उन्होंने अस्पृश्यों को सलाह दी कि उन्हें खुद पहल करके मरे जानवरों को उठाना और शराब पीना बंद कर देना चाहिए। सामाजिक स्तर पर अस्पृश्यता मिटाने के लिए उन्हें पढ़ाई–लिखाई पर भी गंभीरतापूर्वक ध्यान देना चाहिए।

कानूनी स्तर पर अस्पृश्यता हटाने के लिए अंबेडकर ने सरकार के सभी स्तरों पर अस्पृश्यों के प्रतिनिधित्व की मांग की। अंबेडकर के प्रयासों से पूना पैक्ट समझौता हुआ जिसमें सामाजिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए सीटों के आरक्षण का प्रावधान था। अंबेडकर के अनुसार, जब तक अस्पृश्यों को अलग मनुष्य माना जाता है, तब तक उन्हें अल्पसंख्यक माना जाना चाहिए। इसी तरह जब तक उन्हें विशेष अवसर दिए जाने की जरूरत महसूस हो, तब तक सरकार में उनका स्वयं का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। सरकार को अस्पृश्यों के कल्याण के लिए विशेष योजनाएं चलानी चाहिए।

महिलाएं

डॉ. अंबेडकर न सिर्फ अस्पृश्यों और वंचित वर्गों के नेता थे, बल्कि उन्होंने महिलाओं के कल्याण के लिए भी बहुत प्रयास किये। अंबेडकर बुद्ध के महिलाओं संबंधी विचारों से प्रभावित थे। बुद्ध ने महिलाओं को सात खज़ानों में से एक और उच्चतम मूल्यों वाले मनुष्य के रूप में बताया है। अंबेडकर ने हिंदू समाज में महिलाओं की कमजोर स्थिति के लिए मनु को दोषी ठहराया। उन्होंने कहा, 'मनु के अनुसार, महिलाओं को वेद पाठन का अधिकार नहीं है।' महिलाओं के लिए यह अपमानजनक भी था और हानिकारक भी। इसमें महिलाओं को ज्ञान हासिल करने से रोका गया। हिंदू धर्म में ब्राह्मणों ने महिलाओं की सामाजिक स्वतंत्रता भी छीनी। इसके परिणामस्वरूप आज भी महिलाएं समाज में वंचना और अपमान की शिकार होती हैं। यही कारण है कि अंबेडकर ने महिलाओं को न्याय दिलाने के लिए भी लड़ाई लड़ी।

अंबेडकर को विश्वास था कि सामाजिक न्याय और देश के विकास के लिए यह जरूरी है कि महिलाओं की स्थिति में बड़े पैमाने पर सुधार हो। अगर घर के कामकाज में महिलाओं को अधिकार दिए जाएं, तो उस परिवार को विनाश से बचाया जा सकता है। उन्होंने महिलाओं की आर्थिक समानता की मांग की और महिला–शिक्षा के प्रसार के लिए जोरदार आवाज़ उठाई। वे बाल–विवाह के पूरी तरह से विरोधी थे और इसके खिलाफ उन्होंने सक्रियता से अभियान छेड़ा। महिला–अधिकारों के लिए उनके अभियान का एक और पहलू विवादास्पद हिंदू कोड बिल था जो स्वतंत्र भारत में उस समय पेश किया गया था जब वे देश के प्रथम कानून मंत्री थे। कोड बिल का उद्देश्य उत्तराधिकार, विवाह और संपत्ति के मामले में लैंगिक समानता स्थापित करना था। अंबेडकर द्वारा तैयार किये गए हिंदू कोड बिल के प्रारूप में निम्न क्रांतिकारी प्रस्ताव थे–

- पहली बार विधवाओं और लड़कियों को पुत्र के समान संपत्ति में अधिकार दिया गया;
- पहली बार महिलाओं को क्रूरता अथवा पति द्वारा सही ढंग से देख–रेख न करने पर तलाक की अनुमति दी गई;
- पहली बार पति के दूसरा विवाह करने पर पाबंदी लगाई गई;
- पहली बार अलग–अलग जाति के महिला–पुरुषों को हिंदू कानून के तहत विवाह की अनुमति दी गई;
- पहली बार किसी हिंदू दंपति को अलग जाति के बच्चे को गोद लेने का अधिकार मिला।

इस प्रकार, हिंदू कोड बिल ने महिलाओं को पैतृक संपत्ति में बराबर का अधिकार दिया। इस बिल में जन्मजात अधिकार के सिद्धांत को हटाया गया, अंतरजातीय विवाह तथा तलाक का प्रावधान किया गया। दुर्भाग्य से, इन क्रांतिकारी सुधारों का भारी विरोध हुआ।

सामाजिक रूप से बहिष्कृत लोगों का संगठन

अंबेडकर ने इस बात को समझा कि भारतीय समाज की सामाजिक बुराइयों के खिलाफ आंदोलन करने के लिए वंचित वर्गों को संगठित करने की जरूरत है। उन्होंने तथाकथित अस्पृश्यों को एक संगठन के तले एकजुट करने का प्रयास शुरू किया। 1924 में उन्होंने 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' नाम के संगठन की स्थापना की। संगठन का उद्देश्य 'शिक्षा, आंदोलन और संगठन' था। दबे कुचले वर्गों पर अत्याचार के खिलाफ संघर्ष की शुरुआत उन्होंने महाराष्ट्र के विभिन्न स्थानों का दौरा करने से की और 'निचली' जातियों के बीच शिक्षा का प्रचार–प्रसार करने में जुट गए। उन्होंने वंचित वर्गों को अपने अधिकारों के लिए आंदोलन करने की सलाह दी। बाद में उन्होंने अपने संघर्ष का विस्तार करते हुए देशभर का दौरा करना शुरू किया। बहिष्कृत हितकारिणी सभा के उद्देश्य को हासिल करने के लिए उन्होंने जनवरी, 1925 में अस्पृश्य छात्रों के लिए छात्रावास शुरू किया। अंबेडकर ने महसूस किया कि सिर्फ शिक्षा के जरिए ही 'निचली' जातियों में सामाजिक तथा क्रांतिकारी चेतना पैदा की जा सकती है।

सामाजिक रूप से उत्पीड़ित वर्गों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर अंबेडकर की हितकारिणी सभा ने मनोनयन के सिद्धांत के विचार को खारिज किया और निर्वाचन के सिद्धांत का पक्ष लिया। निर्वाचन प्रणाली के संदर्भ में अंबेडकर ने तर्क दिया कि संगठन सांप्रदायिक निर्वाचक मंडल नहीं चाहता। सभा ने महसूस किया कि सामाजिक रूप से उत्पीड़ित वर्गों के लिए अगर विधायिका में सीटें आरक्षित की जाएं तो यह पर्याप्त रहेगा। अंबेडकर ने कुछ वादों के साथ संरक्षण की भी मांग की। कुछ वादे निम्नानुसार थे–

- प्रांत के राजस्व का पहला इस्तेमाल सामाजिक रूप से दबे–कुचले लोगों की शिक्षा पर होगा और यह हिस्सा पर्याप्त होगा तथा शिक्षा के लिए कुल अनुदान का न्यायपूर्ण हिस्सा होगा, जो स्पष्ट रूप से 'निचली' जातियों के लिए होगा।
- सामाजिक रूप से वंचित वर्गों की सेना या पुलिस में बिना किसी भेदभाव के भर्ती हो सकेगी और इसमें किसी भी तरह की पाबंदी नहीं लगेगी।
- सारी सरकारी नौकरियों में, चाहे वे राजपत्रित हों या अराजपत्रित, तीस वर्षों तक सामाजिक रूप से दबे–कुचले वर्गों को प्राथमिकता दी जाएगी।
- सामाजिक रूप से वंचित वर्गों को हर जिले में अपने समुदाय से एक विशेष पुलिस इंस्पेक्टर नियुक्त करने का अधिकार होगा।
- सामाजिक रूप से वंचित वर्गों को प्रांतीय सरकार द्वारा स्थानीय निकायों में प्रभावी प्रतिनिधित्व देने का अधिकार दिया जाएगा।
- अगर प्रांतीय सरकारें सामाजिक रूप से वंचित वर्गों को उक्त अधिकार नहीं देतीं, तो उन्हें केंद्र सरकार से अपील करने का अधिकार होगा। इतना ही नहीं, केंद्र सरकार के पास यह शक्ति होगी कि वह इस संदर्भ में कानून का पालन करने के लिए प्रांतीय सरकारों को बाध्य कर सके।

टिप्पणी

अंबेडकर और पूना पैक्ट

गांधी जी ने 1932 में 'अस्पृश्यों' के लिए अलग निर्वाचक मंडल के प्रावधान का विरोध करते हुए अनशन किया था। यह गांधी जी के अस्पृश्यता के विरुद्ध अपने ही अभियान का आरंभिक बिंदु था। निचली जातियों के लिए अलग निर्वाचक मंडल बनाने का विचार अंबेडकर का था जिसे ब्रिटिश सरकार ने स्वीकार कर लिया था। गांधी जी ने इस प्रस्ताव का विरोध किया क्योंकि उन्हें लगता था कि इससे हिंदू समाज का विभाजन हो जाएगा। इस प्रकार, इस मसले पर गांधी जी और अंबेडकर दोनों में ही मतभेद हो गए, हालांकि दोनों ही अस्पृश्यता के विरुद्ध थे और अस्पृश्यों का उत्थान चाहते थे। ब्रिटिश सरकार ने जब अलग निर्वाचक मंडलों का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया तो गांधी जी जेल में ही आमरण अनशन पर बैठ गए। मजबूर होकर अंबेडकर को अपना प्रस्ताव वापस लेना पड़ा और गांधी जी के साथ समझौता करना पड़ा। 24 सितंबर, 1932 को गांधी जी और अंबेडकर के बीच समझौता हुआ जिसे पूना पैक्ट के नाम से जाना जाता है। इस समझौते के अनुसार–

1. प्रांतीय विधानसभाओं में वंचित वर्गों के लिए सामान्य सीटों में आरक्षण होगा।
2. ब्रिटिश भारत की केंद्रीय विधानसभा में सामान्य सीटों में से 18 प्रतिशत सीटें वंचित वर्गों के लिए आरक्षित होंगी।

दोनों नेताओं के बीच हुए इस समझौते के बाद गांधी जी ने अपना अनशन समाप्त कर दिया। पूना पैक्ट के बाद की घटनाओं के बाद अंबेडकर ने महसूस किया कि गांधी जी ने उन्हें गुमराह किया। उन्हें लगने लगा कि गांधी जी ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए आमरण अनशन करके उन्हें तथा वंचित वर्गों को ब्लैकमेल किया है।

अपनी प्रगति जांचिए

5. अंबेडकर ने कोल्हापुर के शाहूजी महाराज की सहायता से कौन–सा समाचारपत्र निकालना शुरू किया?

   (क) आज (ख) समाज

   (ग) प्रभात (घ) मूक नायक

6. अंबेडकर किसके महिला संबंधी विचारों से प्रभावित थे?

   (क) बुद्ध के (ख) राम के

   (ग) जैन के (घ) राधास्वामी के

4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (क)
3. (ख)

4. (ग)
5. (घ)
6. (क)

4.6 सारांश

महात्मा गांधी ने किसी भी 'वाद' की शुरुआत नहीं की। उन्होंने समय–समय पर राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक विषयों पर अपने विचारों को अभिव्यक्त किया। आगे चलकर विभिन्न लोगों ने इन विचारों को इकट्ठा किया और उसे 'गांधीवाद' का नाम दे दिया। गांधीवाद सिद्धांतों का ढोंग, नियमों या नीतियों, रोक या संकोच का संग्रह नहीं है, बल्कि जीवन का एक रास्ता है। यह जीवन के विषयों के प्रति एक नया नजरिया पेश करता है तथा आधुनिक समस्याओं के लिए प्राचीन निदान उपलब्ध कराता है।

गांधी के विचार रस्किन, थोरो और टॉल्स्टॉय से प्रभावित थे। उनके राजनीतिक विचारों में धार्मिक सिद्धांतों को भी शामिल किया गया था। गांधी मानते थे कि वेदों, भगवद् गीता, बाइबल, कुरान और अन्य शास्त्रों ने उनके विचारों को प्रभावित किया है। गांधीवादी विचारों की नींव सत्य पर रखी गई थी। गांधी के अनुसार, "सत्य मेरे लिए संप्रभु सिद्धांत हैं, जिसमें कई अन्य सिद्धांत शामिल हैं, तथा हमारी संकल्पना का आधार सापेक्षिक सत्य नहीं है, बल्कि संपूर्ण सत्य है और वह शाश्वत सिद्धांत है, जिसे ईश्वर कहते हैं।

गांधीजी अंहिसा के विचार के मौलिक विचारक नहीं थे, परंतु वह राजनीति में वृहत स्तर पर अंहिसा का प्रयोग करने वाले प्रथम व्यक्ति थे। अंहिसा जैसी कि गांधीजी द्वारा अनुकरण व क्रियान्वित की गई अपने–आप में शत्रु के समक्ष आत्मसमर्पण कर देने का नाम नहीं है। संक्षेप में, हम इसको सत्याग्रह कह सकते हैं, जिसका अर्थ है– पूर्ण नैतिकता व अध्यात्मिक शक्ति के द्वारा बुराई का प्रतिकार। अंहिसा हमारा आत्मिक बल है, तथा भगवान की वह शक्ति है, जो कि हममें ही निहित है। यह आत्मबलिदान में निहित है तथा आत्मपीड़ा से प्रेरित है।

गांधी चाहते थे कि जमींदार अपनी जमीन के ट्रस्टियों के रूप में कार्य करें और किरायेदारों को उनका उपयोग करने की अनुमति दें। यह विचार मुख्य रूप से इस तथ्य पर आधारित था कि भारत एक कृषिप्रधान देश है, जहां 80 प्रतिशत से अधिक आबादी गांवों में रहती है। उन्हें विश्वास था कि भूमि प्रदान करके स्वतंत्र भारत की प्रमुख आर्थिक समस्याओं में से एक को हल किया जा सकता है। समाजवादी सामूहिक कृषि प्रणाली में, हम उसी विचार को लागू करते हैं। कुछ देशों में इस प्रणाली की सफलता से पता चलता है कि यह अवधारणा बिल्कुल भी अव्यावहारिक नहीं है। इस प्रणाली की विफलता के लिये अक्सर लोगों की इच्छा को जिम्मेदार ठहराया जाता है।

राधाकमल मुखर्जी ने मानव जीवन का अध्ययन करने और उसे समझने के लिए अंतःविषय और पार–विषय दृष्टिकोण पर जोर दिया था। यह समाज के इस सामान्य

टिप्पणी

सिद्धांत के विकास का मूल कारण था। समाज के सामान्य सिद्धांत के एक अन्य विश्लेषण में उन्होंने सार्वभौमिक सभ्यता के मूल्य की व्याख्या की है। उनका कहना है कि सभ्यता एक बड़ी तस्वीर है, संस्कृति जिसका एक हिस्सा है। वे जैविक विकास, अध्यात्मिक और सार्वभौमिक आयामों के अध्ययन के माध्यम से मानव सभ्यता के विकास का अध्ययन करने को बढ़ावा देते हैं।

मुखर्जी के कार्य में समूहों, परंपराओं और संस्थानों के बीच अंतर को प्रमुख मूल्यों के एक नाभिक के रूप में दर्शाया गया है। उनका यह भी तर्क था कि चूंकि आदमी शारीरिक रूप से संपन्न और सामाजिक प्राणी है इसलिए वह मूल्यों को अकेले नहीं बल्कि सामूहिक रूप से चाहता है। वह ऐसे समूह और संस्थाएं बनाता है जो मूल्यों की संतुष्टि, प्रचार और प्रसारण के लिए तरीकों और तंत्रों का वर्णन करते हैं। मानव जाति का हर बुनियादी हित और मूल्य समूहों और संस्थानों के गठन का केंद्र बनता है। समूह व्यक्तियों से विकसित होते हैं और बुनियादी मूल्यों की संतुष्टि के लिए एक साथ जुड़ जाते हैं, जबकि संस्थानों के ढेर इन मूल्यों की संतुष्टि और बढ़ावा के लिए समूह संबंधों और गतिविधियों का मानकीकरण, आयोजन और निर्देशन करने का काम करते हैं।

बाबा साहब अंबेडकर के नाम से मशहूर भीमराव रामजी अंबेडकर का जन्म 14 अप्रैल, 1891 को मध्य प्रदेश के इंदौर के पास महू में एक महार परिवार में हुआ था जो एक अस्पृश्य जाति मानी जाती थी। रामजी मालोजी सकपाल और भीमबाई की वे चौदहवीं संतान थे। अंबेडकर के पूर्वज लंबे समय से ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी में काम करते रहे थे। उनके पिता महू छावनी में भारतीय सेना में थे।

बड़ौदा के महाराजा ने डॉ. अंबेडकर को बड़ौदा सिविल सेवा में राजनीतिक सचिव नियुक्त किया। डॉक्टर की उपाधि हासिल कर चुके भीमराव को शीर्ष स्तर के पद के लिए प्रशिक्षण दिया गया। इतने मान–सम्मान के बावजूद अंबेडकर को भारत में भेदभाव झेलना पड़ता था। उन्हें ऑफिस में कोई भी व्यक्ति फाइलें हाथ से नहीं देता था। नौकर तक उनकी मेज पर फाइलें फेंककर चला जाता था। निचली जाति का होने के कारण उन्हें पीने का पानी तक नहीं मिलता था। भीमराव के लिए यह व्यवहार बहुत दुखदायी और अपमानजनक था क्योंकि वे लंबे समय तक विदेश में रहे थे जहां किसी भी तरह का सामाजिक भेदभाव नहीं होता था। अंबेडकर ने सिर्फ 11 दिनों में ही नौकरी से इस्तीफा दे दिया और बड़ौदा से मुंबई चले गए।

अंबेडकर उपेक्षित मानवता के नेता तथा प्रवक्ता थे। उन्होंने अस्पृश्यों की दयनीय स्थिति को दुनिया के सामने रखा और उन्हें समाज की मुख्य धारा में लाने के लिए ईमानदारी से प्रयास किये। डॉ. अंबेडकर की प्रगतिशील विचारधारा उनके सामाजिक और राजनीतिक जीवन का आधार रही। हालांकि उनका जन्म महार जाति में हुआ था, लेकिन उन्होंने अपने को कभी इसी जाति तक सीमित नहीं रखा, बल्कि सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े सभी लोगों का प्रतिनिधित्व किया।

गांधी जी ने 1932 में 'अस्पृश्यों' के लिए अलग निर्वाचक मंडल के प्रावधान का विरोध करते हुए अनशन किया था। यह गांधी जी के अस्पृश्यता के विरुद्ध अपने ही

अभियान का आरंभिक बिंदु था। निचली जातियों के लिए अलग निर्वाचक मंडल बनाने का विचार अंबेडकर का था जिसे ब्रिटिश सरकार ने स्वीकार कर लिया था। गांधी जी ने इस प्रस्ताव का विरोध किया क्योंकि उन्हें लगता था कि इससे हिंदू समाज का विभाजन हो जाएगा। इस प्रकार, इस मसले पर गांधी जी और अंबेडकर दोनों में ही मतभेद हो गए, हालांकि दोनों ही अस्पृश्यता के विरुद्ध थे और अस्पृश्यों का उत्थान चाहते थे।

4.7 मुख्य शब्दावली

- **शाश्वत** : निरंतर।
- **स्वप्नद्रष्टा** : सपना देखने वाला।
- **अस्पृश्यता** : अछूत।
- **उद्धृत** : चुना हुआ।
- **उद्गम** : जन्म।
- **वंचना** : छल।
- **मनोनयन** : चुनना।

4.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. गांधीवादी क्या है?
2. सत्याग्रह का क्या अर्थ है?
3. राधाकमल मुखर्जी किसे समाजशास्त्र का एक महत्वपूर्ण पहलू मानते थे?
4. राधाकमल मुखर्जी के कार्य में समूहों, परंपराओं और संस्थानों के बीच के अंतर को किस रूप में दर्शाया गया है?
5. बड़े होकर अंबेडकर को क्या महसूस हुआ?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. महात्मा गांधी के मूल विचारों की समीक्षा कीजिए।
2. महात्मा गांधी की ट्रस्टीशिप अथवा संरक्षकता की अवधारणा की विवेचना कीजिए।
3. राधाकमल मुखर्जी के मूल्यों के समाजशास्त्र की विवेचना कीजिए।
4. सामाजिक न्याय के लिए अंबेडकर द्वारा किए गए कार्यों की समीक्षा कीजिए।
5. जाति प्रथा तथा अस्पृश्यता के बारे में अंबेडकर के विचारों और कार्यों की विवेचना कीजिए।

टिप्पणी

4.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. आर.एन. मुखर्जी, 'समाज शास्त्रीय विचारों का इतिहास', विवेक प्रकाशन, दिल्ली।
2. मुखर्जी–अग्रवाल, 'प्रमुख समाज शास्त्रीय विचारक', शिवलाल अग्रवाल एण्ड संस, आगरा।
3. गुप्ता–शर्मा, 'प्रमुख समाज शास्त्रीय विचारक', साहित्य भवन, आगरा।
4. ध्रुव दीक्षित, 'प्रमुख समाज शास्त्रीय विचारक', शिवलाल अग्रवाल एण्ड संस, आगरा।
5. महाजन–महाजन, 'प्रमुख समाज शास्त्रीय विचारक', रामदास एण्ड सन्स, आगरा।
6. Yogendra Singh, 'Modernization of Indian Tradition'.
7. C.A. Coser, 'Masters of Sociological Thoughts'.
8. Raymond Aron, 'Main Currents in Sociological Thoughts', Vol. I & II.

टिप्पणी

इकाई 5 एम.एन. श्रीनिवास, ए.आर. देसाई और योगेंद्र सिंह का समाजशास्त्रीय चिंतन

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 एम.एन. श्रीनिवास का समाजशास्त्रीय चिंतन
    5.2.1 संस्कृतीकरण
    5.2.2 पश्चिमीकरण एवं लौकिकीकरण
5.3 ए.आर. देसाई और भारत में राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि
    5.3.1 देसाई के मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य का मूल्यांकन
    5.3.2 भारतीय राष्ट्रीयता की उत्पत्ति के सामाजिक आधार
5.4 योगेंद्र सिंह और भारतीय परंपरा का आधुनिकीकरण
    5.4.1 सामाजिक परिवर्तन का स्वरूप
    5.4.2 भारतीय परंपरा का आधुनिकीकरण
    5.4.3 आधुनिकीकरण की प्रक्रियाएं
    5.4.4 आधुनिकीकरण और भारतीय परिदृश्य
5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.6 सारांश
5.7 मुख्य शब्दावली
5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

सदियों से भारतीय जाति व्यवस्था जन्म–आधारित चली आ रही थी, लेकिन एम.एन. श्रीनिवास को 'संस्कृतीकरण' की अवधारणा को लाने का श्रेय जाता है। इसी के आधार पर एम.एन श्रीनिवास ने भारतीय जातियों के संस्कृति–परिवर्तन को दर्शाया। इस अवधारणा के अनुसार नीची जातियां हमेशा से ऊंची जातियों के संस्कारों और जीवनशैली के स्वरूप की ओर आकर्षित रही हैं। इस अवधारणा के माध्यम से श्रीनिवास ने भारतीय जाति–प्रथा की संरचना और संस्तरण में होनेवाले परिवर्तनों को समझने का प्रयत्न किया है।

ए.आर. देसाई के पिता रमनलाल देसाई बड़ौदा के एक गुजराती लेखक, उपन्यासकार और सिविल सेवक थे, जिन्होंने उन्हें मानव समाज के तथ्यों का अध्ययन और अन्वेषण करने के लिए प्रेरित किया। ए.आर. देसाई किसानों और मजदूरों के आंदोलनों में सक्रिय थे और अखिल भारतीय किसान सभा के बुलेटिन और समाचारपत्रों के संपादक बने। उन्होंने 1935 में बंबई विश्वविद्यालय से राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। 1946 में वे समाजशास्त्र में कॉलेज व्याख्याता के रूप में शामिल हुए। 1951 में वे बंबई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में एक संकाय सदस्य के रूप में शामिल हुए। उन्होंने अंग्रेजी और गुजराती में कई किताबें लिखीं।

योगेंद्र सिंह जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के सामाजिक प्रणाली शोध केंद्र में समाजशास्त्र के प्रोफेसर एमेरिट्स हैं। वे इसके संस्थापक भी हैं। योगेंद्र सिंह ने लखनऊ विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर और पी.एच.डी. की डिगरी हासिल की। डॉक्टरेट करने के बाद उन्होंने आगरा के 'समाज विज्ञान संस्थान' में अध्यापन का कार्य किया।

इस इकाई में एम.एन. श्रीनिवास, ए.आर. देसाई और योगेंद्र सिंह की उपलब्धियों और कार्यों की चर्चा करते हुए उनके समाजशास्त्रीय चिंतन पर प्रकाश डाला गया है।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- एम.एन. श्रीनिवास के समाजशास्त्रीय चिंतन से परिचित हो पाएंगे;
- संस्कृतीकरण की अवधारणा को समझ पाएंगे;
- पश्चिमीकरण एवं लौकिकीकरण के बारे में जान पाएंगे;
- भारत में राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि पर ए.आर. देसाई के विचारों को समझ पाएंगे;
- योगेंद्र सिंह द्वारा किए गए भारतीय परंपरा के आधुनिकीकरण के विश्लेषण से अवगत हो पाएंगे।

5.2 एम.एन. श्रीनिवास का समाजशास्त्रीय चिंतन

एम.एन श्रीनिवास ने अपने समाजशास्त्रीय चिंतन में भारत के समाज और समाजशास्त्र की विधिवत विवेचना की है। वे इसी के परिप्रेक्ष्य में 'संस्कृतीकरण की अवधारणा' को लाए हैं। उन्होंने पश्चिमीकरण और लौकिकीकरण पर भी विस्तार से अपने विचार प्रस्तुत किए हैं।

5.2.1 संस्कृतीकरण

भारतीय समाज तथा समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में 'संस्कृतीकरण' की अवधारणा को लाने का श्रेय डॉ. एम. एन. श्रीनिवास को जाता है। इस अवधारणा के माध्यम से उन्होंने भारतीय जाति–प्रथा की संरचना और संस्तरण में होनेवाले परिवर्तनों को समझने का प्रयत्न किया है। उन्होंने बताया कि आधुनिक भारत में निम्न जाति के सदस्य आमतौर पर ऊंची जातियों के संस्कारों तथा जीवन के ढंग का अनुकरण करते हैं तथा जाति संस्तरण में उच्च स्थिति पाने का प्रयत्न भी करते हैं एवं उसमें सफल भी हो रहे हैं। इन सबके परिणामस्वरूप निम्न जातियों की स्थिति और जीवन के ढंग में बहुत परिवर्तन होता जाता है।

श्रीनिवास ने 'संस्कृतीकरण' शब्द का प्रयोग जातीय गतिशीलता को स्पष्ट करने के लिए किया है। उनका कहना है कि जाति व्यवस्था उस कठोर व्यवस्था से बहुत दूर है जिसमें प्रत्येक जाति की स्थिति हमेशा के लिए निश्चित कर दी जाती है। इसका तात्पर्य है कि जाति व्यवस्था में गतिशीलता हमेशा से मौजूद रही है। संस्कृतीकरण की

प्रक्रिया से यह नहीं समझना चाहिए कि परंपरागत जाति व्यवस्था में लोगों की आस्था अधिक है। ऊपर से देखने पर ऐसा भले लगे, परंतु गहराई से विचार करने पर ऐसा लगता है कि संस्कृतीकरण से निम्न जातियों की समाज में बराबरी करने की दबी भावनाएं उभरकर आती हैं, जिन्हें जातीय आधार पर दबाकर रखा गया था। नीची जातियों के लोग प्रत्येक तरीके से अपने–आपको समाज की ऊंची और प्रभावी जातियों के बराबर उभारने के प्रयत्न में लगे हैं। संस्कृतीकरण की प्रक्रिया से परंपरागत जाति व्यवस्था का समर्थन नहीं होता है, अपितु लम्बे समय से चली आ रही विरोधी भावनाओं का प्रकटीकरण होता है।

भारत में जाति–व्यवस्था को सामान्यतः एक बंद वर्ग के तौर पर देखा जाता है, परंतु एम. एन. श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक 'रिलीजन एण्ड सोसायटी अमांग द कुर्ग ऑफ साउथ एशिया' में जातीय सोपान के मध्य क्षेत्र को लचीली प्रकृति का मानते हुए जाति व्यवस्था की गतिशीलता की प्रक्रिया को संस्कृतीकरण की अवधारणा के तौर पर स्पष्ट किया है। उनका मानना है कि श्रेणीक्रम जाति व्यवस्था का सार–तत्व है जिसमें प्रत्येक जाति को शुद्धता एवं प्रदूषण के आधार पर प्रस्थिति प्राप्त होती है। जाति व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न जातियों में अपनी प्रस्थिति के उन्नयन के लिए अपने जाति के गुण–धर्म को छोड़कर उच्च जाति के गुण–धर्म को अपनाने की प्रवृत्ति पायी जाती है, जिसे संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के तौर पर देखा जाता है।

संस्कृतीकरण का अर्थ और विशेषताएं

संस्कृतीकरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए 'चेंज इन मॉडर्न इंडिया' नामक पुस्तक में एम. एन. श्रीनिवास ने कहा है कि ''संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्न हिन्दू जाति अथवा कोई जनजाति या अन्य समूह किसी ऊंची तथा प्रायः किसी द्विज जाति की दिशा में अपने रीति–रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन–पद्धति बदलता है।'' प्रायः ऐसे परिवर्तन के बाद वह जाति, स्थानीय समाज में परंपरागत तौर पर जातीय सोपान में जो स्थिति अथवा सोपान उसे प्राप्त रहता है, उससे ऊंचे स्थान का दावा करते हैं। सामान्यतः बहुत दिनों तक और वास्तव में एक–दो पीढ़ियों तक दावा करने के बाद उसे स्वीकृति भी मिल जाती है।

इस तरह एक हिन्दू की जीवन–स्थिति को परिशुद्ध तथा परिमार्जित करने के लिए आवश्यक कृत्यों अथवा संस्कारों की योजना को 'संस्कृति' मान लिया जा सकता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि ''संस्कृतीकरण वह क्रिया है जिसके द्वारा निम्न जाति अथवा जाति–समूह के लोग अपनी जातीय अथवा सामाजिक स्थिति को परिशुद्ध, परिमार्जित तथा उन्नत करने के उद्देश्य से उच्च जाति के आदर्शों, मूल्यों, विचारों, संस्कारों तथा कृतियों को ग्रहण कर लेते हैं।''

यहां महत्वपूर्ण तथ्य है कि संस्कृतीकरण की प्रक्रिया विशेष तौर पर बंद हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत संचालित होती है। जब समाज में आगे बढ़ने के सभी रास्ते व्यक्ति के लिए खुले होते हैं तो संस्कृतीकरण द्वारा सामाजीकरण परिवर्तन की प्रक्रिया धीमी अथवा शिथिल हो जाती है। भारतीय समाज में इस प्रकार के संस्कृतीकरण के बहुत से उदाहरण देखने को मिल जाते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में के. एम. पणिक्कर का कहना है कि ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी में नंद वंश शायद अंतिम क्षत्रिय थे। इसके बाद

टिप्पणी

के प्रत्येक राजपरिवार किसी–न–किसी गैर–क्षत्रिय जाति से संबंधित थे। मराठा, रेड्डी, पडैयाची आदि जातियां आज क्षत्रिय होने का दावा करती हैं। इसी प्रकार गुजरात में पटीदार जाति क्षत्रिय होने का दावा करती है जो कि मध्यस्तरीय कुर्मी अथवा कुनवी जाति का रूपांतर है। गुजरात की ही बारिया जाति अपने को पटीदार होने का दावा करती है। उत्तर प्रदेश की नोनिया जाति अपने को ब्राह्मण होने का दावा कर रही है। मैसूर के लुहार और सुनार जाति के लोग अपने को विश्वकर्मा ब्राह्मण होने का दावा करते हैं। भील, गोंड, ओरांव आदि जनजातियां अपने को हिन्दू साबित करने के प्रयास में हैं। बिहार की यादव और कुर्मी जैसी मध्य जातियां अपने को उच्च जातियों में शामिल करने में लगी हुई हैं। इसी प्रकार बिहार की भूमिहार और भांट जातियां भी अपने को ब्राह्मण सिद्ध करने में लगी हुई हैं।

संस्कृतीकरण को पूरी तरह से समझने के लिए इसकी विशेषताओं को विस्तार से समझना अपेक्षित है। संस्कृतीकरण की प्रमुख विशेषताओं को निम्न बिन्दुओं के अंतर्गत समझा जा सकता है–

- संस्कृतीकरण सामाजिक गतिशीलता की एक सामूहिक प्रक्रिया है, न कि व्यक्तिगत प्रक्रिया, यानी संस्कृतीकरण का संबंध किसी व्यक्ति अथवा परिवार–विशेष के जीवन में होने वाली परिवर्तन की प्रक्रिया से नहीं है।
- संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के द्वारा सामाजिक स्थिति में परिवर्तन के उद्देश्य से एक विशेष संस्कृतीकरण करने वाली जातियां दो अथवा तीन पीढ़ी पहले से अपना संबंध किसी उच्च अथवा प्रभुत्वसंपन्न जाति से जोड़ती हैं।
- संस्कृतीकरण का संबंध मुख्यतः निम्न जातियों की जीवन–शैली में होने वाले परिवर्तनों से है। द्विज जातियों अथवा प्रभुत्व वाली जातियों की प्रथाओं, परंपराओं, जीवनशैली तथा देवी–देवताओं को अपनाकर जाति संस्करण में ऊंचा उठने के प्रयत्न को हम संस्कृतीकरण कह सकते हैं।
- भारतीय संदर्भ में संस्कृतीकरण एक सार्वभौमिक प्रक्रिया रही है। के. एम. पणिक्कर तथा एम. एन. श्रीनिवास ने वैदिक काल से ही भारत में विभिन्न जातियों के ऊंचा उठने के प्रयासों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।
- संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में संबंधित जातियों में मात्र पदमूलक परिवर्तन होता है, संरचनात्मक नहीं। इसका तात्पर्य है कि जाति व्यवस्था की संरचना में कोई परिवर्तन नहीं होता है, अपितु संबंधित जाति के पद सोपानक्रम में चढ़ाव भर होता है।
- संस्कृतीकरण की प्रक्रिया से गुजरने वाली जातियां संस्कृत साहित्य में उपलब्ध विचारों और मूल्यों को स्वीकार कर लेती हैं एवं पाप–पुण्य, धर्म–कर्म, माया–मोक्ष, संसार आदि शब्दों का प्रयोग अपनी भाषा और बातचीत में करने लगती हैं।
- संस्कृतीकरण की प्रक्रिया केवल निम्न हिन्दू जातियों में ही नहीं, अपितु जनजातियों एवं अर्द्ध–जनजातिय समूहों में भी पायी जाती है। भील, गोंड, ओरांव आदि जनजातियां भी हिन्दू जीवन पद्धति का अनुकरण करके ऊंचा उठने का प्रयास करती हैं।
- संस्कृतीकरण के विभिन्न प्रारूप हो सकते हैं, जैसे– ब्राह्मण, राजपूत, वैश्य अथवा अन्य प्रभावी जातियां। संस्कृतीकरण के दौर से गुजरने वाली जातियां

इनमें से किसी एक जाति के रीति–रिवाजों, परंपराओं, जीवनशैली को अपनाकर समाज में ऊपर उठने का दावा प्रस्तुत करती है।

- संस्कृतीकरण एक तरह से विरोधी आंदोलन है। इसके अंतर्गत एक ऐसी प्रतिस्पर्द्धा की प्रक्रिया चलती रहती है, जिसके अंतर्गत अपने से ऊंची सामाजिक स्थिति को प्राप्त कर लेने की कोशिश की जाती है।
- संस्कृतीकरण हिन्दू वृहद परंपरा की सोपानक्रम की विश्वदृष्टि का विरोध करती है, क्योंकि परंपरा से हिन्दू धर्म मानने वाली प्रत्येक जाति की सामाजिक स्थिति जन्म से निर्धारित होती है।
- संस्कृतीकरण की प्रक्रिया विशेष तौर पर उन जातियों में होती है, जिन्होंने राजनीति, शिक्षा तथा आर्थिक क्षेत्र में अपना कुछ प्रभुत्व बना लिया होता है। परंतु उनके प्रभुत्व को सामाजिक क्षेत्र में स्वीकार नहीं किया जाता है तो ऐसी जातियां संस्कृतीकरण का राह अपनाती हैं। हालांकि हमेशा ऐसा नहीं होता है।
- संस्कृतीकरण आनुभविक प्रक्रिया का नाम है, क्योंकि संस्कृतीकरण का संबंध स्थानीय तथा भारतीय संस्कृति के दायरे में होने वाले परिवर्तन का बोध कराता है। कुछ लोग इसे परंपरानुकरण की प्रक्रिया भी कहते हैं।
- संस्कृतीकरण की अवधारणा संदर्भ समूह की अवधारण से मिलती है। समाज में बेहतर समझे अथवा माने जाने वाले समूह सकारात्मक संदर्भ समूह कहलाते हैं। सामाजिक स्तर पर निम्न स्तर का व्यक्ति उच्च स्तर के लोगों की नजरों से अपने–आपको देखता है तथा उनका अनुकरण करके उनके बराबर होना चाहता है।
- संस्कृतीकरण सहज तौर पर अनवरत् चलने वाली प्रक्रिया नहीं होती है, क्योंकि संस्कृतीकरण के अंतर्गत लंबे समय से स्थानीय परंपराओं और सामाजिक नियमों का विरोध होता है। इसलिए ऊंची जाति के लोग संस्कृतीकरण का विरोध करते हैं। ऊंची जाति के लोग कभी नहीं चाहते हैं कि नीची जाति के लोग उनकी बराबरी करें। कभी–कभार संस्कृतीकरण के दौर से गुजरने वाली जातियों को व्यंग्य और कटाक्ष का सामना भी करना पड़ता है और कई बार उनकी प्रोन्नति स्वघोशित होकर ही रह जाती है, क्योंकि अन्य लोग संस्कृतीकरण की प्रक्रिया को सम्मान से नहीं देखते हैं और उनको आसानी से वैधता भी प्रदान नहीं करते हैं।
- संस्कृतीकरण की प्रक्रिया को प्रत्याशी समाजीकरण की प्रक्रिया भी कहा जा सकता है। इससे गुजरने वाली जातियां अपने से उच्च जाति की संस्कृति से इस उम्मीद के साथ अपनाते हैं कि उस जाति की सदस्यता अथवा सामाजिक प्रस्थिति उन्हें मिल जाएगी।

संस्कृतीकरण के मॉडल

संस्कृतीकरण के विभिन्न प्रकार के मॉडल देखे जा सकते हैं। इसके बारे में श्रीनिवास का मानना है कि यह एक जाति को जातीय संस्तरण में ऊंचा पद पाने योग्य बनाता है। संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के तहत केवल उच्च जाति के रीति–रिवाजों, आदर्शों और मूल्यों को अपनाया जाता है। इसके अंतर्गत किसी एक जाति को आदर्श मानकर उसके

टिप्पणी

कर्मकाण्ड, जीवन–पद्धति, रीति–रिवाज, विचारधारा को निम्न जातियां अथवा जनजातियां अपनाती है।

श्रीनिवास ने शुरू में संस्कृतीकरण के ब्राह्मणी मॉडल पर अधिक जोर दिया था, लेकिन वास्तविकता तो यह है कि संस्कृतीकरण के मॉडल हमेशा ब्राह्मण ही नहीं रहे हैं। पोकॉक ने संस्कृतीकरण के क्षत्रिय मॉडल का उल्लेख किया है। मिल्टन सिंगर का कहना है कि संस्कृतीकरण के कम–से–कम तीन मॉडल जरूर रहे हैं। जो द्विज कहे जाने वाले प्रथम तीन वर्ण के लोग हैं और जिन्हें वैदिक कर्मकाण्ड को पूरा करने का अधिकार होता है। इस प्रकार ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रिय और वैश्य भी संस्कृतीकरण के मॉडल रहे हैं। भारत के विभिन्न भागों में क्षत्रिय और वैश्य होने का दावा वे समूह भी करते हैं जिनका प्रमुख कार्य सैनिक सेवा और व्यापार रहा है। प्रभावकारी कृषक जातियां भी अनुकरण का स्थानीय मॉडल प्रस्तुत करती हैं। पीकॉक और सिंगर के अनुसार ऐसी जातियों के माध्यम से ही क्षत्रिय मॉडल को अपनाया गया है।

स्थानीय स्तर पर प्रभावी जातियां संस्कृतीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। अगर स्थानीय प्रभावी जाति ब्राह्मण है तो संस्कृतीकरण का मॉडल ब्राह्मण होगा और अगर वह क्षत्रिय अथवा वैश्य जातियां हैं तो मॉडल क्षत्रिय अथवा वैश्यी प्रकार का होगा। श्रीनिवास के अनुसार, भले ही लंबे समय से ब्राह्मणी कर्मकाण्ड और प्रथाएं निम्न जातियों में फैली हैं, परंतु बीच–बीच में स्थानीय प्रभुत्व–संपन्न जातियों का भी अनुकरण किया गया है तथा प्रायः स्थानीय रूप से प्रभावी ऐसी जातियां और ब्राह्मण प्रथाएं एक श्रेणीबद्ध प्रक्रिया के तौर पर पहुंची है। इस प्रकार प्रत्येक समूह ने अपने से एक स्तर ऊंचे समूह से कुछ ग्रहण किया है और अपने से निम्न समूह को कुछ दिया है।

भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में प्रभु जाति की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। यहां भूमि पर स्वामित्व से केवल आर्थिक सशक्तिकरण ही नहीं होता है, बल्कि सामाजिक प्रतिष्ठा भी बढ़ती है, इसलिए भू–स्वामी यहां प्रभु जाति के तौर पर उभरता है और संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में आदर्श जाति के रूप में माना जाता है, भले ही जातीय सोपान में उनकी स्थिति ब्राह्मणों से निम्न ही क्यों नहीं हो, जैसे– पंजाब के कुछ क्षेत्रों में जाट भू–स्वामियों ने ब्राह्मणों को अपना सेवक बना लिया है तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के माधोपुर नामक गांव में किसी समय में ठाकुर इतने संपन्न और प्रतिष्ठायुक्त होते थे कि अपने पुरोहितों तथा गुरुओं को छोड़कर किसी अन्य ब्राह्मण के हाथ का बना भोजन तक नहीं ग्रहण करते थे। इस प्रकार कहा जा सकता है कि संस्कृतीकरण में प्रभु जाति की अपनी एक स्थानीय प्रतिष्ठा होती है और अन्य जाति के लोग प्रभु जाति के व्यवहार, विचारधारा, जीवन–पद्धति आदि का अनुकरण करने का प्रयास करते हैं।

संस्कृतीकरण के कारक

संस्कृतीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने वाले कारकों की चर्चा एम. एम. श्रीनिवास ने विस्तार से की है। उनके अनुसार भारत की प्राचीन और आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाएं भी संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के अनुकूल रही हैं। प्राचीनकाल में क्षत्रिय एक ऐसा वर्ण रहा है जिसमें अनेक जातियां समय–समय पर शामिल होती रही हैं और इसका प्रमुख आधार संबंधित जाति के पास राजनीतिक शक्ति का होना था। भाट अथवा चारण

जातियों की इस संदर्भ में विशेष भूमिका रहती थी। वर्तमान समय में संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में प्रमुख भूमिका निभाने वाले कारकों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

1. सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण उपकरण शिक्षा है। इस शिक्षा ने पिछड़ी जातियों के शिक्षित लोगों की उच्च एवं प्रभुत्व वाली जातियों की जीवन–शैली को अपनाने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है।
2. यातायात तथा जनसंचार के माध्यमों में क्रांतिकारी परिवर्तन ने संस्कृतीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित किया है। इससे परंपरागत संस्कृति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है। सांस्कृतिक स्तर पर निम्न जातियों तथा उच्च जातियों के मध्य विचारों का भी आदान–प्रदान हुआ है। लघु तथा वृहद् परंपराओं के मध्य अंतःक्रियाएं भी बढ़ीं हैं।
3. नगरीकरण तथा शहरीकरण की प्रक्रिया के कारण भी जातीय भेदभाव में कमी हुई है। इसके कारण उच्च और प्रभुत्वसंपन्न जातियों का निम्न जातियों पर नियंत्रण भी कमजोर हुआ है। नगरों में निम्न जाति द्वारा खान–पान, कर्मकाण्ड, विश्वास और जीवन शैली को अपनाने पर उन्हें अब किसी प्रकार के विरोध का सामना नहीं करना पड़ता है, जिससे संस्कृतीकरण की प्रक्रिया तेज हुई है।
4. समाज के निम्न जातियों के उत्थान के लिए आर्थिक सुधार कार्यक्रमों ने भी उनके जीवन–स्तर को ऊंचा उठाया है। अब ये निम्न जातियां अपने जीवन–स्तर को उच्च जातियों अथवा प्रभु जतियों के समान बनाने में लगी हैं।
5. धार्मिक तीर्थस्थलों ने भी संस्कृतीकरण को प्रोत्साहित किया है। धार्मिक स्थानों पर सांस्कृतिक विचारों तथा विश्वासों के प्रसार ने संस्कृतीकरण की प्रक्रिया को उचित अवसर प्रदान किया है। अनेक धार्मिक संगठनों, भजन–मंडलियों, संन्यासियों के समूहों, कथा–वाचकों ने संस्कृतीकरण के प्रसार में सहयोग किया है। समाचार पत्रों तथा राजनीतिक सम्मेलनों ने भी इस प्रक्रिया को तीव्रता प्रदान की है।
6. सामाजिक सुधार आंदोलनों द्वारा भी निम्न जातियों को अपनी प्रस्थिति सुधारने का अवसर मिला है। आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, गांधीजी अस्पृश्यता के निवारण आंदोलनों ने भी निम्न जातियों की स्थिति में परिवर्तन लाने का कार्य किया है तथा इससे संस्कृतीकरण को बढ़ावा मिला है।
7. भारतीय संविधान और कानूनों ने संस्कृतीकरण को प्रोत्साहित किया है। संविधान और कानून के अनुसार जाति, धर्म, लिंग, रंग, प्रजाति आदि के आधार पर भेदभाव की इजाजत नहीं है। 1955 में अस्पृश्यता निवारण कानून ने छूआछूत को दण्डनीय अपराध घोशित कर दिया तो 1954 में पारित विशेष विवाह अधिनियम ने अंतर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित किया। इन सबसे संस्कृतीकरण की प्रक्रिया तीव्र हुई है।
8. जब किसी जाति अथवा जाति के किसी एक भाग को लौकिक शक्ति प्राप्त हो जाती है और वह सामान्यतः उच्च प्रस्थिति के परंपरागत प्रतीकों को प्राप्त करने का प्रयास भी करती है, जैसे– स्थानीय सर्वोच्च जातियों के विचारों, विश्वासों, रीति–रिवाजों, कर्मकाण्डों, जीवन–पद्धति को अपनाने का एक कारण यह भी था कि विभिन्न संस्कारों के संपादन के लिए ब्राह्मणों की सेवाएं ली जाए, प्रसिद्ध तीर्थ–स्थानों की यात्रा की जाए, पंचांग के अनुसार त्योहारों को मनाया जाए,

धर्मशास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया जाए। अंतर्जातीय विवाहों ने भी संस्कृतीकरण की राह को आसान बनाया है।

टिप्पणी

इस प्रकार कह सकते हैं कि संस्कृतीकरण एक क्रमिक प्रक्रिया है जिस पर समाज के विभिन्न पक्षों, तथ्यों, घटनाओं आदि का प्रभाव पड़ता है। उपर्युक्त तत्व संस्कृतीकरण के पक्ष में अपनी विशेष भूमिकाओं का निर्वहन करते हैं अथवा सहायता करते हैं।

संस्कृतीकरण के परिणाम

संस्कृतीकरण को एम. एन. श्रीनिवास ने क्रमिक प्रक्रिया बतलाते हुए इसके निम्नलिखित परिणामों की चर्चा की है –

- संस्कृतीकरण से निम्न जातियों की जीवनशैली में परिवर्तन होता है तथा उनके द्वारा निम्न समझे जाने वाले कार्यों का त्याग कर दिया जाता है।
- संस्कृतीकरण से निम्न स्तरीय जातियों के समूहों की प्रस्थिति में सुधार और जातीय गतिशीलता संभव होती है।
- संस्कृतीकरण से महिलाओं की प्रस्थिति में गिरावट आती है, क्योंकि इसके द्वारा उच्च जातियों की तरह पितृसत्ता के प्रबल स्वरूप की उत्पत्ति होती है जिससे स्त्रियों पर पुरुषों का नियंत्रण बढ़ जाता है।
- संस्कृतीकरण से जातीय प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष में वृद्धि होती है, क्योंकि उच्च जातियां संस्कृतीकरण को रोकना चाहती हैं। वे निम्न जातियों को अपने समकक्ष नहीं आने देना चाहती हैं।

संस्कृतीकरण और सामाजिक परिवर्तन

संस्कृतीकरण की प्रक्रिया द्वारा आधुनिक भारत में निम्न जातियों, जनजातियों तथा अन्य समूहों की सामाजिक स्थिति, रीति–रिवाज, मूल्य, आदर्श, विचार, कर्मकाण्डों में उल्लेखनीय परिवर्तन देखा जाता है। संस्कृतीकरण द्वारा सामाजिक परिवर्तन को निम्न बिन्दुओं के अंतर्गत समझा जा सकता है –

- संस्कृतीकरण के माध्यम से निम्न जाति, जनजाति अथवा समूह सामाजिक सोपानक्रम में अथवा उतार–चढ़ाव के क्रम में अपनी वर्तमान स्थिति से उच्च स्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, जिससे जातीय अथवा सामाजिक संस्तरण और संरचना में भी उसी अनुपात में परिवर्तन हो जाता है।
- संस्कृतीकरण की प्रक्रिया केवल जाति में ही नहीं, बल्कि जनजाति और अन्य समूहों में भी देखी जा सकती है। इससे एक बात साफ है कि संस्कृतीकरण केवल जातीय संरचना तथा संस्तरण में ही नहीं अपितु सामाजिक संरचना तथा संस्तरण में भी परिवर्तन लाती है। यह परिवर्तन जीवन के ढंग से लेकर सामाजिक स्थिति तक हो सकता है।
- संस्कृतीकरण के माध्यम से कोई जाति, जनजाति अथवा समूह अपने से उच्च जाति के रीति–रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और मूल्यों का अपनाने का प्रयत्न करता है, जिससे निम्न जातियों, जनजातियों अथवा समूहों के रीति–रिवाजों, परंपराओं आदि में उल्लेखनीय परिवर्तन हो जाता है।

- संस्कृतीकरण के माध्यम से सामाजिक संरचना में ऊंचे पद अथवा स्थिति का दावा किया जाता है, जिसके कारण निम्न जाति, जनजाति अथवा सामाजिक समूहों की नीचे से ऊपर की ओर गतिशीलता बढ़ जाती है। इसका प्रभाव सामाजिक गतिशीलता पर भी पड़ता है। यह परिवर्तन केवल हिन्दू समाज में ही नहीं, अपितु जनजातिय समाजों में भी देखा जा सकता है, जैसे– मध्य भारत के गोंड, ओरांव में, हिमालय के पहाड़ी इलाकों की जनजातियों में, राजस्थान के भीलों में। संस्कृतीकरण की प्रक्रिया द्वारा ये जनजातियां अपने हिन्दू होने का दावा करते हुए अपने व्यवहारों में परिवर्तन लाती हैं।
- विभिन्न जातियों और जनजातिय समूहों में संस्कृतीकरण की प्रक्रिया द्वारा सामाजिक संरचना तथा संस्तरण में ही परिवर्तन नहीं लाया जाता है, अपितु उनके जीवन के ढंग में भी परिवर्तन आ जाता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में किसी विशेष जाति सामान्यतः उच्च ब्राह्मण जाति तथा प्रभुत्व वाली जातियों को आदर्श मान लिया जाता है तथा उसी जाति की जीवन शैली, रहन–सहन, बोल–चाल को आदर्श मानकर उसका अनुकरण अन्य निम्न जातियों द्वारा किया जाता है, ताकि वह भी उच्च जातियों में शामिल हो जाएं।

संस्कृतीकरण को दोष

संस्कृतीकरण समाज को गतिशील बनाये रखने में एक उपयोगी अवधारणा है, परंतु इसकी कुछ कमियां अथवा दोष भी हैं, जो निम्न प्रकार हैं–

1. संस्कृतीकरण को उपयोगी मानते हुए भी एम. एन. श्रीनिवास ने इसे बहुत स्पष्ट अवधारणा नहीं माना है। उनके अनुसार, ''संस्कृतीकरण निःसंदेह एक बेतुका शब्द है, फिर भी कई कारणों से यह ब्राह्मणीकरण से बेहतर पाया गया है।'' इस अवधारणा की जटिलता तथा ढीलेपन के कारण भारतीय समाज के विश्लेषण में इस अवधारणा की सीमित उपयोगिता ही सिद्ध हो पायी है। श्रीनिवास के शब्दों में ही, ''संस्कृतीकरण एक अत्यंत जटिल और विषम अवधारणा है। वास्तव में इसे एकमात्र अवधारणा मानने की बजाय अनेक अवधारणाओं का ढेर मानना अधिक उपयोगी होगा। यह एक विस्तृत सामाजिक–सांस्कृतिक प्रक्रिया के लिए नाममात्र है।''
2. संस्कृतीकरण के तहत निम्न जातियां उच्च जातियों की संस्कृति को ग्रहण करती हैं। हालांकि जातिप्रथा में इसका निषेध किया गया है। श्रीनिवास के अनुसार, ''संक्षेप में, नीची जातियों ने जहां तक संभव हो सका ब्राह्मणों की प्रथाओं, परंपराओं, संस्कारों और विश्वासों को ग्रहण कर लिया तथा इस प्रकार एक नीची जाति द्वारा ब्राह्मणों के जीवन के तरीकों को अपना लेना बहुधा दिखाई देने वाली एक प्रक्रिया होते हुए भी सैद्धांतिक तौर पर निषिद्ध है। इस प्रकार निम्न जाति द्वारा उच्च जाति को अपनाने की प्रक्रिया किसी विशेष समुदाय अथवा देश के किसी विशेष भाग में भले ही सच हो, परंतु संपूर्ण देश पर लागू नहीं होती है।
3. डॉ. मजूमदार का कहना है कि संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें सामाजिक संस्तरण में जातियों की प्रगति उर्ध्वोन्मुख अथवा ऊपर की ओर नहीं होकर

क्षैतिज होती है यानी एक ही जाति की विभिन्न उप–जातियों में होती है। जातियों के संदर्भ में यह एक तथ्य है कि प्रत्येक जाति में अनेक उपजातियां विद्यमान हैं, जिनका जातीय संस्तरण में समान स्थान होते हुए भी ये उप–जातियां एक–दूसरे को ऊंचा–नीचा मानती हैं, जैसे– ब्राह्मणों में ही गौड़, सारस्वत, कान्यकुब्ज, आदि भिन्न उपजातियां अपने को ऊंचा–नीचा मानती हैं यानी इनमें भी ऊंच–नीच का जातीय संस्तरण विद्यमान है। नीची प्रस्थिति वाली उपजातियां चाहती हैं कि वे ऊंची उप–जाति में पहुंच जाएं। इस प्रकार का उप–जातीय संस्तरण केवल ब्राह्मणों में ही नहीं, अपितु क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों में भी पायी जाती है। इसमें सभी उप–जातियां सामान्यतः अपनी ही जाति अथवा वर्ण के उच्च स्तर पर जाने के लिए प्रयास करती नजर आती हैं। इस प्रकार जातीय संस्तरण के अंतर्गत परिवर्तन अथवा प्रगति उर्ध्वोन्मुखी नहीं होकर क्षैतिज होती है और श्रीनिवास द्वारा प्रस्तुत संस्कृतीकरण की अवधारणा इस तथ्य को प्रकट नहीं कर पाती है।

4. संस्कृतीकरण की अवधारणा का एक अन्य महत्वपूर्ण दोष अथवा कमी यह है कि यह अवधारणा सत्य को छिपाती है कि संस्कृतीकरण की एक विपरीत प्रक्रिया भी भारतीय समाज में क्रियाशील है। इस संदर्भ में डॉ. मजूमदार ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भारत के सभी भागों में संस्कृतीकरण से अधिक असंस्कृतीकरण दिखायी पड़ता है, जिसके तहत स्वयं ऊंची जातियां ही अपने रीति–रिवाज, वेश–भूषा, आचार–विचार को छोड़ती नजर आती है, जैसे– कश्मीरी पंडितों में बहुत–से लोगों ने अपने रीति–रिवाज और आचार–विचार का परित्याग कर दिया। ऊंची जातियों के लोगों द्वारा नीची जाति के लोगों के व्यवसाय को अपनाना असंस्कृतीकरण का दूसरा उदाहरण है, जैसे– आज बहुत–से ब्राह्मणों को पूजा–पाठ के स्थान पर व्यापार–वाणिज्य में लगा हुआ देखा जा सकता है। मजूमदार का मानना है कि भारतीय समाज के संदर्भ में संस्कृतीकरण की अपेक्षा असंस्कृतीकरण की प्रक्रिया अधिक स्पष्ट नजर आती है।
5. संस्कृतीकरण जैसी अवधारणा तथ्यों के विश्लेषण एवं सिद्धांत निर्माण में सहायक हो सकती है जो स्पष्ट, सुनिश्चित और तार्किक दृष्टिकोण से सुसंगत हो, परंतु भारतीय समाज के विश्लेषण के तौर पर इस अवधारणा की उपयोगिता जटिलता और ढीलेपन के कारण सीमित है।
6. श्रीनिवास के अनुसार संस्कृतीकरण की अवधारणा में कई अंतर्विरोध हैं। उनका कहना है कि 'किसी समूह के आर्थिक उन्नयन के बिना भी संस्कृतीकरण हो सकता है।'' दूसरे स्थान पर उन्होंने यह भी कहा है कि ''आर्थिक उन्नयन, राजनीतिक शक्ति का संचयन, शिक्षा, नेतृत्व और संस्तरण की प्रणाली में ऊपर उठने की अभिलाषा संस्कृतीकरण के उपयुक्त कारक हैं।'' श्रीनिवास के अनुसार संस्कृतीकरण के कारण स्वतः ही किसी समूह को उच्च प्रस्थिति नहीं मिल जाती है।
7. योगेंद्र सिंह के अनुसार संस्कृतीकरण सापेक्ष रूप से बंद हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के इन कालों में सांस्कृतिक तथा सामाजिक गतिशीलता की एक प्रक्रिया है। इसे वह सामाजिक परिवर्तन का अंतर्जात स्रोत मानते हैं। योगेंद्र

सिंह के अनुसार संस्कृतीकरण केवल सांस्कृतिक पक्षों तक केन्द्रित है तथा इसमें गैर सांस्कृतिक पक्षों की पूरी तरह से उपेक्षा की गयी है।

8. बी. कुप्पूस्वामी संस्कृतीकरण को संदर्भ समूह की प्रक्रिया का उदाहरण कहते हैं, परंतु भारतीय समाज में संदर्भ समूह की सदस्यता प्राप्त करना असंभव है, क्योंकि यहां जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था पायी जाती है।
9. योगेंद्र सिंह का यह भी कहना है कि भारत में जाति व्यवस्था के अंतर्गत पैदा हुई नवीन प्रवृत्ति 'पुनर्संस्कृतीकरण' की व्याख्या नहीं कर पाती है जिसमें अंग्रेजी शासनकाल में पाश्चात्य संस्कृति को अपनाने वाले लोग आज फिर से अपनी पारंपरिक संस्कृति को अपना रहे हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया का वर्णन करने के लिए संस्कृतीकरण कोई बहुत उपयुक्त अवधारणा नहीं है। डी. एन. मजूमदार ने इस संदर्भ में कहा है कि सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया का वर्णन करने के लिए हमने जिस उपकरण का प्रयोग किया है, वह अधिक उपयुक्त नहीं है। एफ. जी. बेली ने भी अपनी पुस्तक 'कास्ट एण्ड दी इकोनॉमिक फ्रंटियर' में यही बात कही है। वास्तव में संस्कृतीकरण अवधारणाओं का एक पुंज है तथा यह स्वयं असंयत और ढीली अवधारणा है, जिसमें विशेष गुणों का अभाव है।

5.2.2 पश्चिमीकरण एवं लौकिकीकरण

पश्चिमीकरण

श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण की अवधारणा का उपयोग भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तनों को समझने के लिए किया। श्रीनिवास के अनुसार, भारत में ब्रिटिश शासन के 150 वर्षों के परिणामस्वरूप, विभिन्न प्रकार की प्रौद्योगिकी, विचारधाराओं, मूल्यों और संस्थानों में हुए परिवर्तनों को पश्चिमीकरण कहा जा सकता है। पश्चिमीकरण की इस नई लहर ने अखबार, ईसाई मिशनरियों, चुनावों, आदि जैसे अपने नए संस्थानों को जगा दिया है, जबकि वर्तमान संस्थानों में एक पूर्ण परिवर्तन हुआ है। पश्चिमीकरण पारंपरिक भारतीय समाज के मूल्यों और विचारधाराओं में बदलाव लाया। एक सबसे महत्वपूर्ण मूल्य, जिसने कई अन्य मूल्यों में परिवर्तन किया, वो है – मानवतावाद, जिसके द्वारा जाति, आर्थिक स्थिति, धर्म, उम्र और लिंग का भेद किये बिना सभी मनुष्यों के कल्याण के लिए एक सक्रिय चिंता की आधारषिला राखी। समानतावाद और लौकिकीकरण दोनों ही मानवतावाद में षामिल हैं। श्रीनिवास ने माना कि ब्रिटिश शासन भारतीय समाज में आमूलचूल और पूर्ण परिवर्तन लाया। नई तकनीक, और संचार में क्रांति से अंग्रेजों ने सम्पूर्ण भारत को एकीकृत किया जैसा कि इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था। उनका यह भी तर्क है कि पश्चिमीकरण एक समावेशी, जटिल और बहुस्तरीय अवधारणा है। यह एक छोर पर पश्चिमी प्रौद्योगिकी से लेकर आधुनिक विज्ञान की प्रायोगिक पद्धति और दूसरे पर आधुनिक इतिहास लेखन तक विस्तृत है। उन्होंने यह भी तर्क दिया कि राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में, पश्चिमीकरण ने न केवल राष्ट्रवाद को जन्म दिया है, बल्कि पुनरुत्थानवाद को भी जन्म दिया है।

सांप्रदायिकता, 'जातिवाद', भाषाई चेतना और क्षेत्रीयता को बढ़ाती है। मामलों को और भी भयावह बनाने के लिए, पुनरुत्थानवादी आंदोलनों ने अपने विचारों का प्रचार

टिप्पणी

करने के लिए पश्चिमी प्रकार के स्कूलों और कॉलेजों, और पुस्तकों, पर्चे और पत्रिकाओं का उपयोग किया है। व्यापक रूप से यह कहा जा सकता है कि पश्चिमीकरण की अवधारणा का उपयोग श्रीनिवास द्वारा निम्न विषयों की व्याख्या के लिए किया है—

(1) व्यवहार संबंधी पहलू जैसे कि खाना, पीना, कपड़े पहनना और नाचना, आदि

(2) ज्ञान के पहलू जैसे साहित्य, विज्ञान, आदि। और

(3) मानवीयतावाद, समानतावाद, लौकिकीकरण आदि जैसे मूल्यों के पहलुओं के अलावा उन्होंने तकनीकी पहलुओं का भी उपयोग किया। पश्चिमीकरण से उनका तात्पर्य कुछ 'मूल्य वरीयताओं' से है जिसमें मानवतावाद सबसे महत्वपूर्ण मूल्य है। पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ने कई समूहों के आहार, कपड़े, जीवन शैली, अवकाश और खेल को प्रभावित किया था। अन्य समूहों ने पाश्चात्यीकरण हेतु पश्चिमी विज्ञान, प्रौद्योगिकी और अन्य साहित्य को आत्मसात किया। ब्राह्मण कपड़े, गैजेट और तकनीक स्वीकार करके पश्चिमी हो गए लेकिन बदले हुए आहार को स्वीकार नहीं कर पाए। उनका तर्क है कि इस तरह का अंतर केवल सापेक्ष है सम्पूर्ण नहीं।

श्रीनिवास के अनुसार,

(1) पश्चिमीकरण राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में व्याप्त है;

(2) श्रीनिवास का तर्क है कि 'आधुनिकीकरण' के विपरीत पश्चिमीकरण शब्द नैतिक रूप से तटस्थ है। पश्चिमीकरण शब्द यह भेद नहीं करता है कि यह अच्छा है या बुरा, वहीं आधुनिकीकरण शब्द का उपयोग सामान्य तौर पर इस अर्थ में किया जाता है कि यह अच्छा है।

(3) उनका यह भी तर्क है कि पश्चिमीकरण में वृद्धि संस्कृतकरण की प्रक्रिया को मंद नहीं करती है।

लौकिकीकरण : सिद्धांत और विशेषताएं

अन्य दो संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण की तरह लौकिकीकरण ने भी सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को तेज किया है। एक आम आदमी के लिए, लौकिकीकरण में मामलों को अलग करना शामिल है मामलों से अस्थायी और धर्म राजनीति से दूर रहता है। लौकिकीकरण या युक्तिकरण कर्मकांड, पुरोहितवाद, अंधविश्वास और पवित्रता और अशुद्धता की अवधारणा के खिलाफ विद्रोह है।

उपनिषद में पहले दो में कर्मकांड के खिलाफ विद्रोह की आवाज सुनी गई थी। भगवद—गीता ने न केवल त्याग और समारोह को समाप्त कर दिया, बल्कि बुनियादी अवधारणा पर भी जोर दिया कि व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया भक्ति और 'कर्म' द्वारा संचालित होती है।

भक्ति आंदोलन ने पुरोहितवाद और कर्मकांड को बहुत सफलतापूर्वक चुनौती दी। बौद्ध धर्म ईश्वर को समाप्त करता है और अपनी सामग्री में 'धर्म' को बिल्कुल धर्मनिरपेक्ष मानता है। अवैज्ञानिक कर्मकांड में अंध विश्वास की वजह से क्रमिक पतन हुआ, क्योंकि जीव विज्ञान का उदय हुआ, और अवधारणात्मकता पर विवेक और बुद्धिवाद का वर्चस्व

था। शब्द 'लौकिकीकरण' का जन्म यूरोप में कुछ शताब्दियों पहले, निजी तौर पर 1648 ई. में तबादले की प्रक्रिया के रूप में हुआ था। प्रिंसेस के नियंत्रण के लिए चर्च के गुण।

सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के सभी क्षेत्रों में धर्म के प्रभाव में स्थिर गिरावट की पहचान लौकिकीकरण प्रक्रिया से की गई। पीटर बर्जर ने इस प्रक्रिया को इंगित करने के लिए लौकिकीकरण शब्द का उपयोग किया, जिसके द्वारा समाज और संस्कृति के क्षेत्रों को धार्मिक संस्थानों और प्रतीकों के वर्चस्व से हटाया गया।

सबसे निश्चित और लौकिकीकरण की बिंदु परिभाषा को एक प्रतिष्ठित भारतीय समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास, जो कहते हैं, "लौकिकीकरण शब्द का अर्थ है कि जो पहले धार्मिक माना जाता था, अब ऐसा होना बंद हो गया है और इससे भेदभाव की प्रक्रिया का भी पता चलता है। जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक–आर्थिक, राजनीतिक, कानूनी, नैतिक विभिन्न पहलुओं का एक दूसरे के प्रति असंतोश बढ़ता जा रहा है।"

वाई. सिंह ने अपनी पुस्तक 'इंडियन ट्रेडिशन का आधुनिकीकरण' में, लौकिकीकरण को 'आधुनिकीकरण की उप–प्रक्रिया' के रूप में समझाया है।

लौकिकीकरण के सिद्धांत

सामाजिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया के रूप में लौकिकीकरण निम्नलिखित सिद्धांतों पर आधारित है–

- यह कार्य मामलों के अनुरूप है
- इसमें धार्मिक मामलों से राज्य को अलग करना शामिल है
- यह समाज को धर्म से दूर करता है
- यह धार्मिक संबंध को निजीकृत या वैयक्तिकृत करता है
- यह सभी अनुष्ठानों को पूरी तरह से कृत्रिम और मानव निर्मित मानता है।

लौकिकीकरण की मूल विशेषताएं

लौकिकीकरण में निम्नलिखित विशेषताएं हैं–

1. धर्म की गिरावट। लौकिकीकरण की प्रक्रिया ने धार्मिकता की भावनाओं को कमजोर कर दिया और बढ़ती हुई धर्मनिरपेक्ष समाज में तर्कसंगतता के स्पर्श–पत्थर के साथ सभी धार्मिक औपचारिकताओं का परीक्षण किया गया। सभी सामाजिक संस्थाएं और व्यक्तिगत क्रियाएं धार्मिक प्रभावों से दूर रहीं।
2. लौकिकीकरण प्रक्रिया को तेज करने में तर्कशक्ति और तर्कशीलता महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। बुद्धिवाद का अर्थ है कि सभी अंध विश्वासों पर 'विवेक' के प्रभाव का कारण है। प्रत्येक धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति एक तर्कसंगत व्यक्ति है जिसने तर्क, बुद्धि, तर्क, बुद्धिमत्ता और विवेक को 'भावना' और 'भावनाओं' को लागू करना शुरू किया, जो कर्मकांड से जुड़ा है। इस प्रकार लौकिकीकरण और राष्ट्रीयकरण का जुड़ाव जुड़वां हैं।
3. जिज्ञासा और जिज्ञासा हर धर्मनिरपेक्ष आदमी को सभी कर्मकांडों से जुड़े कारण और प्रभाव के संबंध में पूछताछ करने के लिए मार्गदर्शन करती है। कोई भी धर्मनिरपेक्ष आदमी आंख बंद करके अनुष्ठान का पालन नहीं करता है।

4. वैज्ञानिक स्वभाव और दृष्टिकोण आधुनिक व्यक्ति को धर्मनिरपेक्ष और कट्टर विरोधी होने के लिए मजबूर करते हैं। प्रत्येक अनुष्ठान तर्कसंगतता की वैज्ञानिक जांच से गुजरता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण एक आधुनिक व्यक्ति के धार्मिक दृष्टिकोण के खिलाफ विद्रोह करता है।
5. लौकिकीकरण इस प्रकार आधुनिकीकरण की एक उप–प्रक्रिया बन गई है और धार्मिक विश्वासों, प्रतीकों और संस्थानों के प्रभाव से आधुनिक समाज को दूर रखा है।

भारत में लौकिकीकरण

प्रो. एम. एन. श्रीनिवास ने इस शब्द को इस रूप में परिभाषित किया, "इस शब्द का अर्थ है कि जो पहले धार्मिक माना जाता था वह अब इसके इस रूप में बदलाव आ गया है और इसका मतलब यह भी है कि एक प्रक्रिया जिसके परिणामस्वरूप समाज, आर्थिक, राजनीतिक, कानूनी, नैतिक और विभिन्न पहलुओं में एक दूसरे के संबंध में बदलाव में तेजी से वृद्धि हो रही है।"

इस परिभाषा से दो बातें बहुत स्पष्ट हैं–

1. जिन तत्वों को धार्मिक माना जाता था, उन्हें ऐसा नहीं माना जाता है।
2. यह धार्मिक और समाज के अन्य क्षेत्रों, अर्थात आर्थिक, राजनीतिक, कानूनी आदि के बीच अंतर की एक प्रक्रिया का परिणाम है।

प्रो. योगेंद्र सिंह कहते हैं, 'लौकिकीकरण की प्रक्रिया के प्रसार का अर्थ है कि व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में विभिन्न मुद्दों और घटनाओं का मूल्यांकन धार्मिक दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि उपयोगितावादी दृष्टिकोण से किया जाता है'। यहां प्रो. सिंह ने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन दोनों को शामिल किया है। उसे लगता है कि व्यक्तिगत और सामाजिक सभी घटनाएं धार्मिक मानदंडों और मूल्यों से मुक्त होनी चाहिए। बल्कि इन घटनाओं का मूल्यांकन उपयोगितावादी दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए।

लौकिकीकरण के तत्व

लौकिकीकरण के कुछ तत्व हैं–

1. **धार्मिकता में कमी** : पूरी तरह से धर्मनिरपेक्ष समाज में धार्मिक विचारों को तर्कसंगत विचारों द्वारा प्रतिस्थापित किया जाता है। लौकिकीकरण की इस प्रक्रिया में सामाजिक संस्थाएं और व्यक्तिगत कार्य जैसे दो क्षेत्र धर्म के प्रभाव से मुक्त होते जा रहे हैं।
2. **तर्कसंगतता** : लौकिकीकरण की इस प्रक्रिया में दो चीजें होती हैं–
    - व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार पर धार्मिक नियंत्रण में गिरावट।
    - व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की विभिन्न घटनाओं के प्रति तर्कसंगत दृष्टिकोण में वष्द्धि।

    कारण और प्रभाव संबंध की स्थापना के लिए एक प्रवृत्ति विकसित की जाती है।

3. **अनुभववाद** : इसमें तीन मुख्य क्षेत्र शामिल हैं–
   (क) उद्देश्य अवलोकन
   (ख) प्रयोग
   (ग) सत्यापन।

   लौकिकीकरण, अनुभववाद के माध्यम से तथ्यों की व्याख्या करने की कोशिश करती है। क्यों कि मानव ज्ञान उपरोक्त तीन चीजों पर आधारित है। एक धर्मनिरपेक्ष राज्य का एक सदस्य खुद को अंध विश्वास, पूर्वाग्रह और अंधविश्वास से मुक्त बनाता है।
4. **भेदभाव की प्रक्रिया** : अनुभववाद और तर्कसंगतता के कारण सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं को धर्म से अलग किया जाता है। प्रत्येक पहलू, अर्थात् आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, कानूनी आदि के अपने विशेष कार्य हैं। धार्मिक मानदंड और मूल्य सामाजिक जीवन के इन सभी पहलुओं को प्रभावित नहीं कर सकते हैं।
5. **वैज्ञानिक विश्व दृष्टिकोण** : यह लौकिकीकरण का एक और महत्वपूर्ण तत्व है। एक धर्मनिरपेक्ष समाज के सदस्य किसी घटना के कारण और प्रभाव के बीच सह–संबंध बनाने का प्रयास करते हैं। विष्व वैज्ञानिक सोच में प्रगति अंधविश्वास को कम करती है जो धर्म से जुड़े होते हैं।
6. **सामाजिक गतिशीलता** : सामाजिक गतिशीलता के बिना, लौकिकीकरण नहीं हो सकता। सामाजिक गतिशीलता नए विचारों और मूल्यों की स्वीकृति को इंगित करती है। यह व्यक्ति को धार्मिक नियंत्रण से मुक्त बनाता है और विष्व वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रोत्साहित करता है।

भारत में लौकिकीकरण की प्रक्रिया

स्वतंत्रता के बाद, भारत ने एक संविधान को अपनाया जो धर्म की व्यक्तिगत और सामूहिक स्वतंत्रता की गारंटी देता है। यह भी उल्लेख किया गया है कि राज्य द्वारा किसी भी विशेष धर्म को कोई वरीयता नहीं दी जाती है। बल्कि प्रत्येक धर्म को समान रूप से माना जाता है।

संविधान द्वारा राज्य को दो महत्वपूर्ण निर्देश दिए गए हैं–

1. राज्य को धार्मिक लक्ष्यों के प्रति तटस्थ रहना चाहिए।
2. इसे धार्मिक उद्देश्यों के लिए कर नहीं लगाना चाहिए या राज्य द्वारा वित्तपोषित शैक्षणिक संस्थानों में धार्मिक शिक्षाओं को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार, भारत में लौकिकीकरण वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास के पक्ष में धार्मिक झुकाव को खत्म करने की प्रक्रिया नहीं है; भारत में लौकिकीकरण के पीछे के विचार में पुराने धार्मिक आदर्शों के साथ साम्यता है।

लौकिकीकरण के दो संवैधानिक सिद्धांत हैं–

1. किसी भी धार्मिक समुदाय के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का सिद्धांत।
2. सभी धर्मों को समान सुरक्षा प्रदान करने का सिद्धांत।

हालांकि, संविधान में उल्लेखित धर्मनिरपेक्ष आदर्श और इसके मानदंड सार्वजनिक जीवन में प्रमुख भारतीय समुदायों के बीच के वास्तविक संबंधों के अनुरूप नहीं हैं। भारत में लौकिकीकरण के विकास में कई असंगतियां हैं।

टिप्पणी

कई राजनीतिक दलों का उभार सांप्रदायिक भावना पर आधारित है जैसे हिंदू महासभा, मुस्लिम लीग या बजरंग दल आदि। जैसा कि लोगों की भावना के साथ धर्म दृढ़ता से जुड़ा हुआ है, धर्म का उपयोग वोट पकड़ने वाले उपकरण के रूप में किया जाता है। उन कठिनाइयों के बावजूद लौकिकीकरण को भारत की राष्ट्रीय नीति के रूप में व्यापक रूप से स्वीकार किया गया है।

लौकिकीकरण के कारण कुछ परिवर्तन देखे गए हैं—

1. धार्मिक संस्कारों और रिवाजों के प्रति उदासीन रवैया।
2. विभिन्न उप प्रणालियों जैसे कानूनी, राजनीतिक, आर्थिक आदि को एक दूसरे से अलग किया गया है।
3. तर्कशक्ति की ओर झुकाव बढ़ रहा है।
4. कानून, राजनीति, शिक्षा आदि जैसे महत्वपूर्ण करक धीरे–धीरे अपनी संरचना और कार्य में धर्मनिरपेक्ष होते जा रहे हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

1. भारतीय समाज तथा समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में 'संस्कृतीकरण' की अवधारणा को लाने का श्रेय किसे जाता है?
   (क) योगेंद्र सिंह को (ख) डॉ. एम.एन. श्रीनिवास को
   (ग) ए.आर. देसाई को (घ) नेहरू को
2. आधुनिकता को किसके द्वारा चिह्नित किया जा सकता है?
   (क) बढ़ती आबादी (ख) बढ़ते प्रदूषण
   (ग) बढ़ते शहरी करण (घ) बढ़ती समस्याओं

5.3 ए.आर. देसाई और भारत में राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि

ए. आर. देसाई के समकालीन विद्वानों ने भारतीय समाज के विश्लेषण में क्षेत्रकार्य को अपने अध्ययन का आधार बनाना शुरू कर दिया था और संरचनात्क प्रकार्यात्मक दृष्टि से भारतीय समाज का अध्ययन भी किया जाने लगा था। 1952 में जब भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का गठन हुआ तो मार्क्सवादी विचारधारा और उपागम का व्यापक तौर पर प्रचलन प्रारंभ हो गया था तथ एम. एन. राय और उपेन्द्रनाथ दत जैसे विद्वानों ने इस दृष्टि से अपना चिंतन शुरू कर दिया था। इस समय विद्वानो का मानना था कि अगर समाजशास्त्र को विज्ञान का स्तर पाना है तो क्षेत्र कार्य को अपने अध्ययनों के अंतर्गत शामिल करना पड़ेगा तथा ऐतिहासिक उपागमों की उपेक्षा करनी होगी, क्योंकि ऐतिहासिक उपागम तथ्यों पर आधारित न होकर अनुमान पर आधारित होता है और

जिसके आनुभविकता के आधार पर इसका सत्यापना भी नही किया जा सकता है। संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम के बारे में कहा जा सकता है कि इसमें भारतीय समाज के नकारात्मक पहलुओं की पूरी तरह से उपेक्षा की गयी है। इस तरह इन उपागमों की कमियों को देखते हुए देसाई ने मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होकर भारतीय समाज के विश्लेषण के लिए मार्क्सवादी उपागम के द्वंदात्मक भौतिकवाद तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद पद्धतियों का प्रयोग किया तथा क्षेत्रकार्य और संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम की कमजोरियों को दूर करने का प्रयत्न किया तथा भारतीय समाजशास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र में सदैव के लिए मार्क्सवादी पद्धति के प्रयोगकर्ता के रूप में अपने आप को बनाये रखा।

ए. आर. देसाई ने अपनी प्रथम कृति 'भारतीय राष्ट्रीयता के सामाजिक आधार' (Social Background of Indian Nationalism) में मार्क्सवादी उपागम का सबसे पहले प्रयोग किया था। इस अध्ययन में उन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद और द्वंदात्मक पद्धति का प्रयोग करते हुए बतलाया कि औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था ने अंतर्विरोधों से पूर्ण भारतीय सामाजिक व्यवस्था को पैदा किया, जिस कारण भारतीय राष्ट्रवाद का विकास हुआ।

देसाई के अनुसार भारत की अर्थव्यवस्था औपनिवेशिक शासन से पहले कृषि पर आधारित थी। किसानो की स्थिति अच्छी थी तथा खेतों पर ग्रामीणों का सामूहिक तौर पर अधिकार था। बाद मे अंग्रेजों के आने के बाद एक मध्यम वर्ग यानि बिचौलियों का प्रवेश इस व्यवस्था में हो गया और इन बिचौलियों के माध्यम से कृषक मजदूरों अथवा भूमिहीनों का शोषण प्रारंभ हो गया। एक ओर तो अग्रेजों ने आत्मनिर्भर भारतीय कृषि व्यवस्था को प्रभावित किया तो दूसरी ओर औद्योगिकरण के परिणामस्वरूप लघु और कुटीर उद्योगों को नष्ट करके इसमें में लगे लोगों को नगरीय कारखानों में औद्योगीक श्रमिको के तौर पर कार्य करने के लिए बाध्य कर दिया। इसका परिणाम हुआ कि शोषण आधारित एक नयी अर्थव्यवस्था अस्तित्व मे आ गयी, जिसके एक ओर कारखानो के मालिक शोषक की भूमिका मे थे, तो दूसरी ओर कारखानों में काम करनेवाले श्रमिक शोशित की भूमिका में थे। देसाई के अनुसार ब्रिटिश आधुनिक शिक्षा के माध्यम से एक नवीन आधुनिक शिक्षा प्राप्त मध्यम वर्ग का उद्‌भव हुआ। इस मध्यम वर्ग ने ही श्रमिकों और कृषि मजदूरों अथवा भूमिहीनों को उनके विरूद्ध हो रहे शोषण को खत्म करने के लिए उन्हें संगठित करना प्रारंभ कर दिया तथा स्वतंत्रता आंदोलन में इस मध्यम वर्ग ने अपना नेतृत्व भी प्रदान किया। इस प्रकार औपनिवेशिक भारत में राष्ट्रीयता का विकास संभव हो सका।

'भारत में ग्रामीण समाजशास्त्र' (Rural Sociology in India) नामक अपनी एक अन्य पुस्तक में भी देसाई ने मार्क्सवादी उपागम का प्रयोग किया है। इस पुस्तक में देसाई ने भारत के स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान भारत के ग्रामीण समाज का मार्क्सवादी उपागम के अनुसार विश्लेषण करते हुए भारतीय कृषि व्यवस्था मे अंतर्निहित विरोधों और सामंतवाद का विस्तार से उल्लेख किया है। देसाई का कहना है कि जो भारतीय कृषि और ग्रामीण अर्थव्यवस्था ब्रिटिश शासन से पहले आत्मनिर्भर हुआ करती थी, वह इस समय पूंजीवाद के आगमन से तहस–नहस होकर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर आधारित होती चली गयी। गांव मे चलनेवाले कुटीर उद्योग अथवा ग्रामीण शिल्प के जगह अब विदेशी और स्वदेशी उद्योगों में निर्मित सस्ते माल ने ले लिया था और जो

गांव आत्मनिर्भर और खुशहाल हुआ करते थे, उसका स्थान अब एक अस्त–व्यस्त अर्थव्यवस्था वाला दरिद्र और सांस्कृतिक तौर पर पिछड़े गांव ने ले लिया था, जिसमें संरचनात्मक स्थिरता का अभाव था। अंग्रेजी शासनकाल में पैदा हुए बिचौलियों की व्यवस्था ने एक नवीन शोषक भू–स्वामी को जन्म दे दिया था, जिसके परिणामस्वरूप ग्रामीण समाज में शोषण, गरीबी, असमानता, बंधुआ मजदूरी, जैसी बुरी प्रवृत्तियों का प्रचलन प्रारंभ हो गया।

'India Path of Development' नामक एक अन्य पुस्तक में देसाई ने मार्क्सवादी उपागम का प्रयोग करते हुए भारतीय समाज के विकास के पूंजीवादी प्रारूप तथा उसके सामाजिक आर्थिक परिणामों पर भी अध्ययन किया है और इसमे शामिल अंतर्विरोधों को विश्लेषित किया है। 'Agrarian Struggle in India after Independence' नामक अपनी एक और पुस्तक में देसाई ने इसी परिप्रेक्ष्य का प्रयोग करते हुए स्वतंत्रता के बाद भारत के कृषि की सामाजिक संरचना मे होनेवाले परिवर्तनों के कारण उत्पन्न कृषक असंतोष एवं संघर्ष का विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

5.3.1 देसाई के मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य का मूल्यांकन

ए. आर. देसाई के द्वारा प्रस्तुत भारतीय समाज के मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य की भी लगभग वही कमियां हैं जो शास्त्रीय मार्क्सवाद की आलोचना है, जैसे– समाज के अन्य पक्षों की उपेक्षा करके आर्थिक पक्ष पर अधिक जोर, समाज मे सहयोग और सामंजस्य की उपेक्षा करके संघर्ष, द्वंद और तनावों पर विशेष जोर देना और समाज की मुख्य प्रवृति के तौर पर इसे स्वीकार करना, सहयोग जनित परिवर्तनों के विश्लेषण की उपेक्षा करके क्रांति, आंदोलन, विचलन जनित परिवर्तनों के विश्लेषण पर जरूरत से ज्यादा जोर, आदि। देसाई के अध्ययन के मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य के संबंध में विद्वानों ने निम्न प्रकार से आलोचना की है–

- 'भारत में ग्रामीण समाजशास्त्र' (Rural Sociology in India) नामक पुस्तक में देसाई ने भारतीय ग्रामीण समाज तथा उसमें होनेवाले परिवर्तनों का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है, उसमें आर्थिक निर्धारणवाद की कमी स्पष्ट तौर पर नजर आती है। इस कमी को हम देसाई के इन कथनों में भी देख सकते हैं – ''भारत एक कृषि प्रधान देश है तथा यहां की वष्हद् कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था, जो इस विशाल जनसंख्या का भौतिक आधार भी है, उनके सामाजिक संगठन, मनोवैज्ञानिक और भावनात्मक जीवन का निर्धारण करती है। ब्रिटिश शासनकाल के दौरान भारत की इस कृषि आधारित अर्थव्यवस्था पर पूंजीवाद का आघात हुआ तथा भारत की ग्रामीण कृषि आधारित अर्थव्यवस्था पर अनेंक अंतर्विरोधों का जन्म हुआ तथा सामाजिक दृष्टि से एक दरिद्र और सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ी अर्थव्यवस्था का उद्‌भव हुआ, जिसमे सुस्थिर संरचना और स्थिरता की कमी थी।''
- श्रीनिवास जैसे समाजशास्त्रियों का कहना है कि शास्त्रीय मार्क्सवादियों की तरह ही देसाई भी भारत के समाजों में होनेवाले विभिन्न परिवर्तनों के विश्लेषण के क्रम मे अन्य पक्षों की उपेक्षा करके केवल आर्थिक व्यवस्था में होनेवाले परिवर्तन तथा इसमें निहित अंतर्विरोधों पर आधारित माना है। अपने पूरे विश्लेषण

के दौरान ब्रिटिश शासन काल में भारत के संपूर्ण सामाजिक परिवर्तन का कारण अर्थव्यवस्था और उसमें निहित अंतर्विरोध का बताया है।

- देसाई के अध्ययनों की सबसे बड़ी कमी यह मानी जा सकती है कि अपने विश्लेषण के दौरान देसाई ने भारत में राष्ट्रीयता के उद्‌भव का कारण केवल आर्थिक संदर्भ को माना है। कृषि और औद्योगिक व्यवस्था में हो रहे बदलावों के आधार पर राष्ट्रीयता के उद्‌भव को मानना भारतीय राष्ट्रवाद के एक पक्ष को जरूरत से अधिक महत्व देकर अन्य पक्षों की उपेक्षा करना है। देसाई ने राष्ट्रवाद की उत्पति में कृषि और औद्योगिक अर्थव्यवस्था में निहित अंतर्विरोधों को तो महत्व दिया है, परंतु इसके सकारात्मक पक्षों की अवहेलना कर दी है।
- देसाई के अध्ययनों के संदर्भ में योगेंद्र सिंह का मानना है कि भारतीय समाज के विश्लेषण में देसाई ने अपने सभी अध्ययनों में भारतीय समाज के केवल नकारात्मक पक्षों का विश्लेषण किया है तथा इसके प्रकार्यात्मक पहलुओं की उपेक्षा की है। भारतीय समाज का केवल नकारात्मक तथा अंतर्विरोधीपक्ष ही नहीं है, अपितु इसके कई सकारात्मक और उद्येश्यमूलक पक्ष भी है।

देसाई के भारतीय समाज के विश्लेषण संबंधी उपर्युक्त आलोचनाओं के संदर्भ में कह सकते हैं कि शास्त्रीय मार्क्सवाद की तरह देसाई का विश्लेषण भी एकपक्षीय है और भारतीय समाज को पूरी तरह से समझ पाने में असफल है, फिर भी भारतीय समाज के विश्लेषण में देसाई के विचारों को पूरी तरह से मना भी नहीं किया जा सकता है।

देसाई ने ऐसे समय में अपना विश्लेषण प्रस्तुत किया था, जिस समय संरचनात्मक प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य द्वारा भारतीय समाज के प्रकार्यात्मक विश्लेषण को पेश किया जा रहा था, जिसके अंतर्गत समाज मे उपस्थित तनाव, द्वंदों और नकारात्मक पहलुओं को उपेक्षित किया जा रहा था, साथ ही क्षेत्रकार्य का महत्व बढ़ता जा रहा था और विद्याशास्त्रीय स्त्रोतों को पूरी तरह से नकारा जा रहा था। ऐसे में देसाई ने अपने अध ययन मे ऐतिहासिक भौतिकवाद और द्वंदात्मक पद्धति का प्रयोग कर अपने अध्ययनों में भारतीय समाज में व्याप्त अंतर्विरोंधों का विश्लेषण किया।

योगेंद्र सिंह जैसे विचारक का मानना है कि भले ही देसाई के अध्ययन में कुछ खामियां हैं, परंतुं सैद्धांतिक तौर पर यह दो प्रकार से लाभदायक है। पहला लाभ यह है कि इसके माध्यम से कृषि समाज में व्याप्त संरचनात्मक तनाव और असमानता के बारे में हमारा सोच गहरा जाता है तथा कृषि समाज को इस तरह के अध्ययन वष्हद् समाज से संबद्ध कर देती है। इस अध्ययन का दूसरा लाभ यह है कि इसने भारतीय समाज के आलोचनात्मक विश्लेषण के लिए अनेक श्रेणियों के निर्माण मे प्रेरक की भूमिका निभाई है। इस संदर्भ से अभिप्रेरित भारतीय समाज की विभिन्न श्रेणियां रही हैं। उदाहरणस्वरूप 'सामाजिक आंदोलन परिप्रेक्ष्य' को ले सकते हैं, जिसने अपने अध्ययन को अंतर्विरोधों के कारण पैदा होनेवाले आंदोलन पर केन्द्रित किया है, तो सब्अल्टर्न स्टडीज में भारत के हाशिए पर स्थित और शोशित लोगो की सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों को अपने अध्ययन का आधार बनाया गया है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि देसाई भले ही देसाई के मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य की कितनी भी आलोचनाएं की जाए, परंतु भारतीय समाज में व्याप्त अंतर्विरोध, संघर्ष और तनावों का विश्लेषण करने में यह विश्लेषण महत्वपूर्ण रहा है। देसाई के मार्क्सवादी

विश्लेषण का महत्व इससे भी समझा जा सकता है कि आज भी बहुत सारे समाजशास्त्री भारतीय समाज के विश्लेषण में इसी परिप्रेक्ष्य का प्रयोग कर रहे हैं। हालांकि इस परिप्रेक्ष्य का अधिकतम लाभ पाने के लिए आवश्यक है कि इस उपागम का प्रयोग अन्य परिप्रेक्ष्यों के साथ संयुक्त तौर पर किया जाए। देसाई के बाद के समाजशास्त्रीयों ने इसी कारण एकीकष्त परिप्रेक्ष्य की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। योगेंद्र सिंह का एकीकष्त प्रारूप तथा कैथलीन गफ द्वारा तंजौर गांव के अपने अध्ययन में संरचनात्मक प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य के साथ मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य का भी प्रयोग किया है।

ए. आर. देसाई का विचार : भारतीय राष्ट्रीयता की सामाजिक पृष्ठभूमि (A. R. Desai's View : Social Background of Indian Nationality)

प्रो. ए. आर. देसाई ऐसे भारतीय सामाजिक विचारक हैं, जिन्होंने अपने अध्ययन अथवा रचनाओं का प्रारंभ 'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि'' (Social Background of Indian Nationalism, 1946) से की है। इस पुस्तक में उन्होंने द्वंदात्मक भौतिकवाद और मार्क्सवादी आधार पर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का विश्लेषण किया है। प्रो. देसाई मार्क्सवादी विचारधारा और पद्धति का प्रयोग करनेवाले प्रथम विचारक हैं। इस पुस्तक में प्रो. देसाई ने राष्ट्रवाद की विस्तृत परिभाषा प्रस्तुत की है तथा विभिन्न देशों में राष्ट्रवाद के विकास का विश्लेषण करने के साथ भारतीय राष्ट्रवाद के उद्भव और विकास का भी विवेचन किया है। भारतीय राष्ट्रवाद का विश्लेषण करते समय उन्होंने अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत की अर्थव्यवस्था और संस्कृति का वर्णन किया है। अंग्रेजों के भारत में आगमन के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था, कृषि, ग्रामीण शिल्प उद्योग, हस्तशिल्प का ह्रास, आदि का विस्तृत विवेचन किया है। इस दौरान प्रो. देसाई ने भारत के उद्योगों, यातायात के नये साधनों, आधुनिक शिक्षा और मुद्रा प्रणाली का भी विश्लेषण किया है।

प्रो. देसाई ने अपने अध्ययनों में बताया कि भारत में राष्ट्रवाद के उदय के कई कारण जिम्मवार है, जैसे– नये सामाजिक वर्गों का उद्भव, सामाजिक और धार्मिक सुधार आंदोलन, स्त्री स्वतंत्रता आंदोलन, जाति और अस्पष्श्यता के विरूद्ध आंदोलन, समाचार पत्र, आदि। राष्ट्रवाद के उद्भव के इन कारणों को प्रो. दूबे ने मार्क्सवादी उपागम के आधार पर विवेचित किया है।

अपने अध्ययनों के माध्यम से प्रो. दूबे ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में विभिन्न राजनीतिक दलों, जैसे– कांग्रेस, भारतीय उदारवादी, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, हिन्दू महासभा, कम्यूनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया, डा. अंबेडकर, आदि की भूमिका का विस्तार से उल्लेख किया है। भारतीय राष्ट्रीयता के संदर्भ में उन्होनें 1857 के विद्रोह के विभिन्न आयामों का विश्लेषण किया है। उन्होंने मुस्लिम सांप्रदायिकता का भी विश्लेषण किया है जिसके कारण भारत का पाकिस्तान और हिन्दूस्तान के रूप में दो भागों में विभाजन हो गया। प्रो. देसाई ने भारत में राष्ट्रवाद का विकास पांच चरणों में माना है, जिसके अंतर्गत ब्रिटिश शासन के प्रभावों, भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में सामाजिक शक्तियों और धार्मिक सामाजिक सुधार आंदोलनों का विस्तार से विवेचन किया है। देसाई का अध्ययन वह प्रथम अध्ययन माना जा सकता है जिसमें राष्ट्रवाद के वर्ग चरित्र को विश्लेषित किया गया है।

ए. आर. देसाई मतवादी मार्क्सवादी समाजशास्त्री थे। सोशल बेकग्राउन्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म नामक अपनी पुस्तक में मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य में भारतीय राष्ट्रीयता के इतिहास की व्यवाख्या की है। उनका कहना है कि भारत में परंपराएं उनकों कहते हैं जिनका लोकजीवन के साथ गहरा जुड़ाव और धर्मनिरपेक्ष संबंध होता है। ए. आर. देसाई के अनुसार भारतीय गांवों की अपनी परंपराएं रही है और गांवों की एकता जगत प्रसिद्ध है और यह ऐतिहासिक काल से कायम रही है। गांवों की सांप्रदायिक समूहों की एकता किसी भेदभाव को नहीं करते हुए गांव को एक तरह से यांत्रिक बना देती है। इस पुस्तक में देसाई ने कहा है कि इस देश में कुछ परंपराएं रही है। भारतीय राष्ट्रीयता की उत्पति की व्याख्या करने के दौरान देसाई ने भारत में व्याप्त पंरपराओं और उसमें होनेवाले परिवर्तनों को विश्लेषित किया है। उन्होंने कहा है कि इस देश में भूमि का मालिकाना हक हमेशा रैयत का रहा है। इस पंरपरा को प्रथम बार कार्नवालिस ने 1793 में तोड़ा, जब उसने बंगाल, उड़ीसा और बिहार में स्थायी भूमि व्यवस्था को लागू किया। आर्थिक तौर पर इस पंरपरा का टूटना एक बड़ी घटना थी और भारत के अभिजन वर्ग में राष्ट्रीयता की भावना की उत्पति का एक प्रमुख कारण थी।

देसाई के अनुसार ब्रिटिश शासनकाल के दौरान भूमि का मालिकाना अधिकार कृषक को दिये जाने के कारण भूमि पर परंपरागत वर्गों के प्रभुत्व को तो समाप्त कर ही दिया गया, पारंपरिक तौर पर जोत करनेवाले लोग भी कृषि को अपना व्यवसाय नहीं मानकर अब वे स्वयं भी उसके मालिक यानि कृषक हो गये थे। इस उपनिवेशवादी काल में जातियों के परंपरागत व्यवसायों को समाप्त करके अंग्रेजों ने कारीगरी और शिल्प की ओर मोड़कर ग्रामीण लोगों को श्रमिक की श्रेणी में लाकर छोड़ दिया। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीयता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का उल्लेख करते हुए देसाई ने माना है कि भारतीय परंपराओं में विश्वास करने वाले भारतीय लोगों के मन में ब्रिटिश शासन के विरूद्ध राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न होने लगी, क्योकि ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय परंपराओं और स्थापित ग्रामीण आत्मनिर्भर व्यवस्था के साथ अत्यधिक छेड़छाड़ की जाने लगी थी।

अपने पुस्तक में भारतीय राष्ट्रीयता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का उल्लेख करते हुए देसाई ने अपना अध्ययन निम्न बिन्दुओं के अंतर्गत किया है –

ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत की अर्थव्यवस्था (Indian Economy During Pre-British Era)

भारत में राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि का अध्ययन करने से पूर्व देसाई ने अंगंजों के भारत आगमन से पूर्व की अवस्था का विस्तार से विवेचन किया है, क्योंकि देसाई का मानना है कि किसी भी घटना अथवा व्यवस्था के समग्र अध्ययन बिना उसकी पूर्व की स्थिति अथवा इतिहास को जाने अच्छी तरह से करना संभव नहीं होता है। उन्होंने इस संदर्भ में अपने अध्ययनों को दो वर्गो में विभाजित किया है – 1. ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था और संस्कृति, तथा 2. ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत की नगरीय अर्थव्यवस्था और संस्कृति।

1. **ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था और संस्कृति** (Economy & Culture of Indian Village s During Pre-British Era)– ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत की अर्थव्यवस्था का उल्लेख करते हुए प्रो. देसाई ने कहा

है कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भर थी और कृषि पर आधारित थी। इस समय भारतीय गांवों में जीविका का प्रमुख आधार कृषि था और समाज श्रमविभाजन पर व्यवस्थित था। जाति व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्येक जाति अपनी परंपरागत व्यवसाय को अपनाकर गांवों में अपनी सभी आवश्यकताओं को पूरा कर लेते थे, जैसे नाई, पंडित, लुहार, सोनार, श्रमिक, आदि विभिन्न जातियां अपने व्यवसाय अथवा कार्यों के माध्यम से गांवों के लोगों के सभी आवश्यकताओं को पूरा कर देते थे, उन्हें बाहरी समाज पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था। गांवों में कार्य के बदले अनाज, आदि देने का प्रचलन था। देसाई का कहना है कि गांवो में होनेवाले खेती में कृषि के पारंपरिक अथवा देशीय तकनीकों को अपनाया जाता था, जिसमें बैलों के द्वारा हल जोतने से लेकर अन्य कार्य किया जाता था। इस समय में ग्रामीण संस्कृति में धर्म और जाति व्यवस्था का प्रभुत्व था और लोगों में उच्चस्तरीय मानवीयता विद्यमान थी। ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत के गावों में यातायात के साधन अविकसित थे और लोग विवाह जैसे पवित्र अवसरों पर ही एक–दूसरे से मिलते–जुलते थे।

2. **ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत की नगरीय अर्थव्यवस्था और संस्कृति** (Economy & culture of Indian Cities During Pre-British Era)– प्रो. देसाई का मानना है कि ब्रटिश शासन से पूर्व भारत में भले ही गांवों का बाहुल्य था, तथापि गांवों के बीच नगर भी अवस्थित होते थे। उस समय नगर प्रशासन का मुख्यालय होता था, जहां पुलिस और रक्षा से संबंधित अधिकारी भी रहते थे। प्रो. देसाई के अनुसार नगरों में प्रमुख व्यवसाय हस्तशिल्प, चित्रकला, मूर्तिकला, गायन, वाद्यन, वास्तुकला, आदि थे, जिसमें काम के बदले नकद भुगतान देने का प्रचलन था। नगरीय जीवन का प्रमुख व्यवसाय हस्तशिल्प को माना जाता था, जिसके माध्यम से लोग अपनी आजीविका चलाते थे। गांवों की तुलना में नगर आर्थिक और सांस्कृति तौर पर समृद्ध था, क्योंकि यह राजाओं के प्रत्यक्ष शासन के अधीन था और राजाओं के निकट स्थान होने के कारण यहां अधिक विकास हो रहा था।

3. **ब्रिटिश शासनकाल के दौरान ग्रामीण और नगरीय व्यवस्था में होनेवाले परिवर्तन** (Changes in Villages & Cities During British Era) – प्रो देसाई ने माना है कि ब्रिटिश शासनकाल के दौरान भारत की ग्रामीण और नगरीय व्यवस्था में काफी परिवर्तन देखने को मिला। अग्रेंजों ने सर्वप्रथम भारत की कृषि व्यवस्था को प्रभावित किया, जिससे भारतीय गांवों की कृषि आधारित आत्मनिर्भर व्यवस्था का ह्रास हो गया, इसके लिए अग्रेजों ने भारत की भूमि की पारंपरिक संरचना को प्रभावित किया। उन्होंने राजाओं के अधिकारों और जागीरदारी प्रथा का उन्मूलन करके कर अथवा लगान पर जमींदारी प्रथा की शुरूआत की, जो कि ब्रिटेन में प्रचलित थी।

नगरों में अंग्रंजो ने हस्तशिल्प का पतन कर दिया और मशीनों की स्थापना के साथ ही नगरों में कारीगर के प्रतिष्ठित कार्य को निम्न बनाते हुए उन्हें मजदूरों की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया। गावों में प्रचलित परंपरागत जजमानी प्रथा को इस दौरान कमजोर किया गया और अब खेती में लोगों को नुकसान होने लगा था, क्योंकि लगान के तौर पर खेती का बड़ा भाग सरकार ले लेती थी।

5.3.2 भारतीय राष्ट्रीयता की उत्पत्ति के सामाजिक आधार

प्रो. देसाई ने भारत में राष्ट्रीयता के अभ्युदय संबंधी दो प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार भारतीय राष्ट्रीयता के उद्भव में दो तरह की प्रवृत्तियां देखी जा सकती है – सकारात्मक प्रवृत्ति, तथा नकारात्मक प्रवृत्ति। उनका कहना है कि जब क्षेत्रीय और भाषायी आधार पर लोगों की भावनाओं और क्षेत्रों का समामेलन होता है, तो यह सकारात्मक पक्ष प्रदर्शित करना है तथा जब परंपरागत संस्कृति के ऐतिहासिक भावना को उभारकर श्रेष्ठता के आधार पर पृथककरण की मांग की जाती है तो इसका नकारात्मक पक्ष देखने को मिलता है। इसका उदाहरण देते हुए प्रो. देसाई ने हिंदू–मुस्लिम भावना के आधार पर सांस्कृतिक तौर पर लोगों के बीच विभाजन की प्रवृत्ति को कहा है, जिसका अंतिम परिणति पृथक पाकिस्तान कि निर्माण के रूप में हुआ है।

प्रो. देसाई ने भारतीय राष्ट्रीयता की उत्पति के सामाजिक आधार अथवा भारतीय राष्ट्रीयता के विभिन्न चरणों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया है–

1. **ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय समाजों में परिवर्तन** (Changes in Indian Society During British Era)– प्रो. देसाई का मानना है कि ब्रिटिश शासनकाल में भारतीय समाजों में आमूल–चूल परिवर्तन हुआ। अग्रंजों ने सर्वप्रथम भूमि के निजी स्वामित्व की आवधारणा का विकास आधुनिक परिप्रेक्ष्य में किया और भूमि को निजी संपति बताकर उसपर कर लगा दिया तथा राजा या जागीरदारी या फिर राज्य की संपति की प्राचीन परंपरा को समाप्त कर दिया। अब भूमिपतियों से प्रत्यक्ष कर ब्रिटिश सरकार द्वारा लिया जाने लगा।

   अंग्रेजों ने अपने शासनकाल में नयी संस्कृति और नये सामाजिक, वैचारिक भावनावाले नवीन वर्गों का उदय किया। इन वर्गों के उदय ने भारत की पारंपरिक संस्कृति और व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन को आत्मसात् किया और भारत की जाति व्यवस्था की जड़ों को कमजोर किया।

2. **राष्ट्रीयता की भावना के अभाव में भारत में एकता** (Unity in India in Absence of Nationalism Emotion) – भारत में राष्ट्रीयता की भावना के उदय से पूर्व भी विभिन्न समुदयों के लोगों के बीच एकता की भावना विद्यमान थी। इसका प्रमाण हम उस समय प्रचलित स्थापत्य कला से लेकर चित्रकला और मूर्तिकला, गायन, वाद्यन, भाषा और रहन–सहन, यानि पहनावा और भोजन तक में देख सकते हैं। इस प्रकार प्रो. देसाई का मानना है कि भले ही भारत में राष्ट्रीयता की भावना उस समय नहीं थी, तथापि लोग एकता का अनुभव करते थे।

3. **भारतीय कृषि प्रणाली में परिवर्तन** (Changes in Agriculture System)– प्रो. देसाई के अनुसार अंग्रेजो ने भूमि की प्राचीन पंरपरा राजा और प्रजा की अवधारण के समापन के साथ ही जमींदार और मजदूर अथवा भूमिपति और भूमिहीन के आधार पर जातियों के ध्रुवीकरण का वर्गीकरण का प्रयास किया। पहले की भारतीय पंरपरा जो परस्पर सहयोग और संतुलन पर आधारित थी, उसे अग्रेजों ने अपने शासनकाल में जातिगत वैमनस्य पर आधारित करने का प्रयास किया और काफी हद तक वे इस दिशा में सफल भी रहे।

4. **आधुनिक शिक्षा** (Modern Eduction) – प्रो. देसाई का मानना है कि नगरों और विदेशों में अंग्रेजी माध्यम से आधुनिक शिक्षा प्राप्त करनेवाले भारतीयों ने भारतीय परिधि से बाहर निकलकर विदेशों में हो रहे परिवर्तनों और व्यवस्था को समझा तथा भारतीय समाज के परंरागत सांस्कृतिक धरोहरों और संस्कारों की महता को समझा और किस प्रकार अंग्रेजों के आगमन से भारत की अर्थव्यवस्था से लेकर संस्कृति पर बुरा प्रभाव पड़ा है, इसका व्यापक संदर्भ में मूल्यांकन किया और भारतीय समाज में इसको प्रचारित करना प्रारंभ कर दिया। आधुनिक शिक्षा की शुरूआत अंग्रेजो ने पाश्चात्य परंपरा में ढ़ले भारतीयों को उत्पन्न करने के लिए किया था, लेकिन इसका प्रभाव उल्टा हुआ और भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना इस शिक्षा को पाने के बाद और बलवती हो गयी, क्योंकि उनमें यह विचार आ गया कि जब शिक्षा के द्वारा समान अथवा उंचा होने पर भी उनके साथ दोयम दर्जे का व्यवहार किया जाता है तो उनकी अपनी स्थिति से धीरे–धीरे घृणा होने लगी और वे अपने राष्ट्रीय भावना के प्रति उन्मुख होने लगे।

   हालांकि प्रो. देसाई ने यह भी माना है कि यह आधुनिक शिक्षा ने भारतीयों पर नकारात्मक प्रभाव भी डाला है। उनके अनुसार आधुनिक शिक्षा प्राप्त लोगों में पाश्चात्य सभ्यता के अनुकरण करने की प्रवृत्ति भी देखी गयी है। ऐसे लोगों में भारतीय संस्कृति और सभ्यता से पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता को श्रेष्ठ मानने की प्रवृत्ति आ गयी थी।

5. **अंग्रेजों द्वारा भारत का प्रशासनिक और राजनीतिक एकीकरण** (Administrative & Political Unitize) – प्रो. देसाई का मानना है कि अंग्रेजो ने अपनी सुविधा के लिए भारत का राजनीतिक और प्रशासनिक तौर पर एकीकरण किया था। अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत राजनीतिक और प्रशासनिक तौर पर विभिन्न खंडों में विभक्त था, जिसके कारण अंग्रेजों को प्रशासन संबंधी परेशानी आने लगी थी और उन्होंने भारत का एकीकरण करने का प्रयास किया, जिसके कारण आगे चलकर भारतीयों में एकता की भावना का विकास हुआ, जो राष्ट्रीयता की उत्पति में सहायक हुआ। पुन्नियां के अनुसार, ''हिमालय से कुमारी अंतरीप तक संपूर्ण भारत एक सरकार के अधीन आ गया तथा जनता में राजनीतिक एकता की भावना को पैदा किया।''

6. **भारतीय समाचार पत्रों और देशी साहित्य का विकास** (Development of Indegenous literature & Indian News Paper) – भारत में मधुसूदन दत ने बंगाली में, नर्मद ने गुजराती में, भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हिंदी में, भारती ने तमिल में, चिपलूणकर ने मराठी तथा विभिन्न अन्य साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से राष्ट्रीय भावना को जागष्त करने वाली भावना का संचार किया। विभिन्न समाचार पत्रों और पत्रिकाओं ने भी इस दिशा में दिशा–निर्देशन का काम किया, जैसे– तिलक का 'मराठा' और 'केसरी', गांधी का 'हरिजन', राजा राममोहन राय ने 'संवाद कौमुदी' और 'मिरातुल अखबार', केशवचंद्र सेन ने 'इण्डिसल मिरर' तथा 'वाम बोधिनी' आदि। भारत में अंग्रेजों भारतीय समाज में जागरूकता पैदा करनेवाले प्रमुख अभिकरण यानि प्रेस पर पाबंदी लगाने का सर्वप्रथम विचार 1910 में ब्रिटेन में आया, परंतु व्यवहारिक तौर पर 1931–32 में

प्रेस अधिनियम के माध्यम से प्रेस पर पूरी तरह से पाबंदी लगाने की अंग्रेजों ने कोशिश की। प्रो. देसाई का मानना है कि प्रेस ही वह साधन था, जिसने अंग्रेजों के अत्याचार को जनता के समक्ष लाया और जनता को अपने पारंपरिक सभ्यता की याद दिलाते हुए शोषण के खिलाफ आवाज उठाने की हिम्मत दी। विभिन्न समाचार पत्रों, पत्रिकाओं और पुस्तकों के माध्यम से समाज सुधारकों और राजनीतिक चिंतकों ने भारतीयों में राष्ट्रीय भावना के विकास का संचार किया था, जिसकों देखते हुए अंग्रेजों ने भारत में प्रेस की आजादी के पाबंदी के नाम पर अभिव्यक्ति की आजादी पर रोक लगाने की कोशिश की।

7. **भारतीय धार्मिक और सामाजिक सुधार आंदोलन** (Indian Religious & Social Improvement Movement) – प्रो.देसाई ने अपने अध्ययनों के माध्यम से स्पष्ट कर दिया है कि भारत में राष्ट्रीयता के विकास में विभिन्न धार्मिक और सामाजिक सुधार आंदोलनों का प्रमुख हाथ रहा है। इसका उल्लेख करते हुए देसाई ने प्रमुख सुधार आंदोलनों मे निम्नलिखित संगठनों को शामिल किया है–

   - **ब्रह्म समाज** – 1928 में राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज ने सामाजिक और धार्मिक सुधार के लिए सर्वप्रथम संगठित और सशक्त तौर पर कार्य किया। इस संगठन ने लोगों में राष्ट्रीयता की भावना का संचार किया और प्राचीन हिंदू धर्म के महता को देखते हुए हिन्दुओं में पुनः बौद्धिकता की स्थापना का प्रयास किया तथा हिंदू धर्म में प्रवेश कर गयी विकृतियों जाति, धर्म संबंधी के उन्मूलन कर समानता और मानवता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इसने समाजिक तौर पर जातिभेद और छुआछूत के उन्मूलन तथा रूढ़िवाद की समाप्ति के साथ ही भ्रूण हत्या, बाल विवाह, सती प्रथा जैसी कुरीतियों का समापन और विधवा विवाह का समर्थन भारतीय समाज में सुधार का प्रयास किया और राष्ट्रीयता की उत्पति निर्णायक भूमिका अदा की है।
   - **आर्य समाज** – 1857 में स्वामी दयानंद सरस्वती ने प्राचीन भारतीय परंपरा पर जोर देते हुए 'वेदों की ओर लौटो' सिद्धांत का प्रतिपादन किया। आर्य समाज को सैनिक हिन्दुत्व का भी नाम दिया जाता है। इसने भारतीय परंपरा को श्रेष्ठ मानते हुए संस्कृत भाषा पर जोर दिया और अविद्या के विनाश के साथ अपनी उन्नति पर ध्यान देने का प्रतिपादन किया, इन चीजों ने राष्ट्रीयता की उत्पति में आधार का काम किया। भारतीय समाज में जाति–पांति, मूर्तिपूजा, बाल विवाह जैसे कुप्रथाओं के उन्मूलन का इसने प्रतिपादन करते हुए स्वराज पर जोर दिया।
   - **थियोसोफिकल सोसायटी** – इस संगठन ने चरित्र निर्माण पर जोर देते हुए रूढ़िवाद और परंपराओं पर अंधविश्वास का विरोध किया और भारत की समृद्ध संस्कृति की तरफ सभी का ध्यान दिलाया। मानवमात्र की समानता का सिद्धांत प्रतिपादित करके भारतीयों में इसने राष्ट्रीयता की भावना का संचार किया।
   - **रामकृष्ण मिशन** – 1897 में विवेकानंद ने इस संगठन की स्थापना करके भारतीयों को उनकी श्रेष्ठ सांस्कृतिक विरासत से अवगत कराते हुए

युवाओं से आग्रह किया कि वे ईश्वर से पौरूष अथवा बल प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया ताकि उनकी दुबर्लता का विनाश हो सके और वे बुराईयों का प्रतिकार कर सकें।

- **राष्ट्रवादी नेताओं का प्रभाव** – प्रो. देसाई का मानना है कि भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने जिसमें उदारवादी नेताओं के साथ गरमपंथी नेता भी शामिल हैं, उन्होंने भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में महती भूमिका का निर्वहन किया है। तिलक जैसे नेता का कहना था कि स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम इसे लेकर रहेंगे। उनके अनुसार तिलक ने धर्म के आधार पर गीता पर जोर देते हुए हिंदूओं को राष्ट्र की स्वतंत्रता को लिए आंदोलित किया। प्रो. देसाई के अनुसार इन नेताओं ने जनता में यह संदेश फैलाने का काम किया कि स्वदेशी शासन कितनी भी बुरी हो परंतु विदेशी शासन से अच्छी होती है।

8. **राजनीतिक आंदोलनों की उत्पति** (Origin of Political Movement) – प्रो. देसाई ने माना है कि भारत में राष्ट्रीयता की भावना ब्रिटिश शासन की देन है। उनके अनुसार भारत में विदेशी शासन अथवा ब्रिटिश शासन अपने हितों के लिए स्थापित किया गया था और भारत का शिक्षित वर्ग शोषण पर आधारित इस शासन को अच्छी तरह से समझता था। हालांकि कुछ शिक्षित भारतीय ऐसे भी थे, जो ब्रिटिश शासन को ईश्वर की देन समझते थे, परंतु दक्षिण अफ्रीका, मलाया, सीलोन, आदि में हो रहे शोषण और बलिदानों को देखते हुए भारतीय भ्झी राजनीतिक शक्ति पाना चाहते थे।

   प्रो. देसाई ने अपने अध्ययनों में यह भी पाया कि विदेशों में पढ़े–लिखे भारतीयों में राष्ट्रप्रेम और स्वाधीनता की भावना पनप चुकी थी और संगठित तौर पर इसके लिए आवाज भी उठा रहे थे कि अंग्रेजों का भारत पर से शोषणवादी प्रवृति का समापन हो जाए। प्रो. देसाई ने विदेशों में राष्ट्रीयता की भावना को उभारनेवाले दो संगठनों को प्रमुख तौर पर वर्णित किया है – 1843 में स्थापित 'ब्रिटिश इंण्डिया सोसायटी' तथा 'ब्रिटिश इंण्डियन एशोसिएसन'। इन दोनों संगठनों का 1853 में समामेलन कर दिया गया।

   - **1857 का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम** – प्रो. देसाई ने माना है कि 19वीं सदी के अंतिम दशक में राष्ट्रीय आंदोलन का प्रथम संगठित प्रयास किया गया था। उनका कहना है कि 1857 में सतारा के क्षेत्र में प्रारंभ हुआ यह विद्रोह व्यापक प्रकृति का था। प्रो. देसाई के अनुसार यह राजनीतिक आंदोलन की तरह ही था, परंतु यह विद्रोह राष्ट्रीयता की भावना से प्रत्यक्ष तौर पर प्रेरित नहीं था, बल्कि यह विदेशी शासन के प्रतिरोध की भावना पर आधारित था। उनका कहना है कि इस आंदोलन की शुरूआत भले ही विरोध के आधार पर हुआ था, परंतु राष्ट्र के पुनर्निर्माणा में इसने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रो. देसाई का मानना है कि भारतीयों में जागषति लाने में यह आंदोलन पूरी तरह से सफल रहा है।
   - **कांग्रेस की स्थापना** – 1885 में अखिल भारतीय कांग्रेस की स्थापना के साथ ही भारतीय राष्ट्रीयता में संदर्भ में एक नये युग का प्रादुर्भाव हो

गया। इस संगठन के माध्यम से एक तरफ राष्ट्रवाद के समर्थको को एक मंच मिला, वहीं दूसरी तरफ जनता को एकीकष्त तौर पर अपने लिए अपनी राष्ट्रीयता की भावना का एहसास इस संगठन के माध्यम से मिल गया।

- **गांधीजी और गांधीवाद** – भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में बड़ा प्रभाव के रूप में प्रो. देसाई ने गांधीजी और गांधीवाद को स्थान दिया है। प्रो. देसाई ने माना है कि 13 अप्रैल, 1919 को जालियांवाला बाग में रौलेक्ट एक्ट के विरोध में एकत्रित भीड़ पर निर्ममता से गालियां चलववाने के कारण भारत की पूरी व्यवस्था हिल उठी और इसके विरोध में गांधीजी ने असहयोग आंदोलन की शुरूआतर कर दी। उनके अनुसार गांधीजी ने असहयोग आंदोलन और सविनय अवज्ञा आंदोलनों के माध्यम से भारत की आम जनता में राष्ट्रीयता की भावना का संचार किया। गांधीजी ने प्रतिरोध की अनोखी नीति पर चलते हुए आत्मगौरवा और आत्मशुद्धि का नवीन राह खोज लिया था, जिसकी काट अंग्रेजों के पास नहीं थी। असहयोग आंदोलन के माध यम से गांधीजी ने हिंदूओं के साथ मुस्लिमों को भी अपने आंदोलन में शामिल करने का प्रयास किया और प्रशासन सहित सभी विभागों से भारतीयों को त्यागपत्र देने का आह्वान कर दिया। इस प्रकार प्रो. देसाई ने माना है कि गांधीजी के आगमन से पूर्व भारतीय राष्ट्रीयता का जो आंदोलन उच्च वर्ग तक सीमित था, उसे गांधीजी ने आम या सामान्य जन तक ला दिया और स्वदेशी के आदर्श का प्रतिपादन किया, जो केवल वस्त्रों और शिक्षा में ही नहीं बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उत्कृष्टता लिया हुआ दर्शन था और जिसने निश्चित तौर पर भारत में राष्ट्रीयता के विकास मे सबसे महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया था।
- **रेडिकल संगठन का निर्माण** – प्रशासन और राजनीति से अलग रहने के गांधीजी के अपील के विरूद्ध 1936 में पंडित जवाहर लाल नेहरू ने रेडिकल संगठन का गठन किया और चुनावों में भाग लिया।
- **मुस्लिमों में जागृति** – प्रो. देसाई के अनुसार भारत में मुस्लिमों में प्रथम संगठित आंदोलन जो जागषति के लिए किया गया था, वह बहावी आंदोलन था। इस आंदोलन के माध्यम से मुस्लिम समाज में सुधार के लिए अनेंक प्रयास किया गया, परंतु कुछ समय बाद इस आंदोलन की गति मंद हो गयी। मुस्लिमें में राजनीतिक जागषति लाने के लिए 1906 में मुस्लिम लीग का निर्माण किया गया, परंतु अपनी स्थापना के साथ इसने कोई विशेष सफलता नहीं पायी और 1933 में जिन्ना के नेतृतव में मुस्लिम लीग ने पुनः सशक्त होकर उभरी। प्रो. देसाई ने माना है कि मुस्लिमों मे जागषति लाने के परिणामस्वरूप पृथक समुदाय की भावना का विकास हुआ और वे पृथक राष्ट्र की बात भी सोचने लगे।

9. **मुस्लिम लीग द्वारा पृथक पाकिस्तान की मांग** (Demand of Separate Pakistan by Muslim League) – 1937 में मोहम्मद जिन्ना ने मुस्लिम लीग के लखनउ अधिवेशन में कांग्रेस की खुलकर आलोचना की और कहा कि सरकार में शामिल होकर कांग्रेस ने अपनी संकीर्ण प्रवृत्ति का परिचय देते हुए केवल

टिप्पणी

अपना लाभ देखा है और कोई विशेष कार्य नहीं कर सका है। प्रो. देसाई ने अपने पुस्तक में लिखा है कि कांग्रेस की असफलता को देखते हुए जिन्ना ने पृथक पाकिस्तान की मांग कर दी।

प्रो. देसाई ने माना है कि पृथक पाकिस्तान के मांग के पीछे कई ऐतिहासिक कारण जिम्मेदार थे, जैसे – तिलक के साथ अन्य नरमपंथी नेता भी भारत में देशी राज्य की स्थापना पर जोर दे रहे थे। इन लोगों ने स्थानीय स्वशासन, हिंदू परंपरा, स्वदेशी, आदि के विचारों से मुस्लिम भयभीत और उपेक्षित महसूस कर रहे थे। 1916 में पूना समझौता हो जाने के साथ ही मुस्लिमों को लगा कि गांधीजी सहित कांग्रेस के नेता उनके आधिकारिक तौर पर समाज अथवा राज्य की मुस्लिमों की मांग को स्वीकार कर लिये हैं। 1933 में पूना समझौते के अनुसार ही विधानसभा में मुस्लिम स्थान पाने में सफल हो गये थे, इससे मुस्लिम नेताओं की रजनीतिक महत्वकांक्षा का विस्तार भी हो गया था।

जिन्ना का कहना था कि भाषायी और सांस्कृतिक आधार पर भी भारत कई हिस्सों में बंटा हुआ है। उनके अनुसार उतर भारत के लोगों की भाषा हिंदी अथवा उर्दू है, जबकि देश के शेष हिस्सों में अलग–अलग भाषाएं प्रचलित है, सांस्कृतिक तौर पर भी उतर भारत की संस्कृति दक्षिण भारत से अलग है, इसलिए भारत में दो राष्ट्रों का निर्माण करके समस्या का कुछ हद तक समाधान होना चाहिए।

प्रो. देसाई ने माना है कि पृथक पाकिस्तान अथवा 'द्वि–राष्ट्र सिद्धांत' के मुस्लिम लीग के मांग पर विभिन्न तरह की प्रतिक्रियाएं भारतीय राजनीतिक आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में दृष्टिगोचर होती है, जो इस प्रकार लिखी जा सकती है –

- **कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की प्रतिक्रिया** – प्रो. देसाई ने कहा है कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने मुस्लिम लीग के द्विराष्ट्र सिद्धांत का विरोध किया और कहा कि भारतीय संस्कृति की मिश्रित संस्कृति रही है तथा संस्कृति और भाषा के आधार पर अलग राष्ट्र बनाने का कोई मतलब नहीं है।
- **भारतीय उदारवादियों की प्रतिक्रिया** – भारतीय उदारवादियों का इस संदर्भ में कहना था कि भारत न तो हिंदूओं का देश है और न ही मुस्लिमों का देश है, धर्म के आधार पर देश के निर्माण को उदारवादियों ने पूरी तरह से ठुकरा दिया।
- **हिंदू महासभा की प्रतिक्रिया**– हिंदू महासभा के अध्यक्ष बी. डी. सावरकर का कहना था कि भारतमाता एक है और उनका विभाजन नहीं किया जा सकता है। उनके अनुसार वैदिक काल से ही हिंदूओं में सहनशीलता रही है, इसलिए अत्याचार अथवा असमानता जैसे किसी आधार पर भारत का विभाजन नहीं किया जा सकता है।
- **भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी की प्रतिक्रिया** – भारत के तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति को देखते हुए भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी ने 1943 में अपनी पार्टी की प्रस्तावना में कहा कि मुस्लिमों को भी अपनी इच्छानुसार राज्य अथवा शासन का अधिकार होना चाहिए और इस

समस्या के समाधान के लिए उनलोगों की इच्छानुसार पृथक राज्य का निर्माण होना चाहिए।

- **डा. बी. आर. अंबेडकर की प्रतिक्रिया** – प्रो. देसाई के अनुसार अंबेडकर ने माना है कि किसी भी देश का निर्माण सत्यता पर आधारित होता है, इसमें एक उसका अतीत होता है और दूसरा उसका वर्तमान होता है। अंबेडकर ने माना है कि हिंदू और मुस्लिम मिलकर एक साथ नहीं रह सकते हैं, वे दोनों दो भुजाओं की तरह हैं, जो हमेशा लड़ते रहते हैं। उनका कहना था कि संविधान द्वारा भले ही अल्पसंख्यकों को समान अधिकार दे दिये जाएं, परंतु समुदाय द्वारा समान अधिकार नहीं दिया जा सकता है। यही कारण है कि अंबेडकर मुस्लिम बाहुल्य क्षेत्रों मे मुस्लिम राज्य के निर्माण के समर्थक थे।

इस प्रकार प्रो. देसाई के भारतीय राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि संबंधी विचारों के बारे में हम कह सकते हैं कि उन्होंने भारत में राष्ट्रीयता की उत्पति के संदर्भ में यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचय देते हुए इसका व्यापक विश्लेष किया है, तथापि उनके पुस्तक को पढ़ते–पढ़ते कभी–कभी लगता है कि हम इतिहास की पुस्तक को पढ़ रहे हैं। फिर भी निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते हैं कि भारत की आजादी के इतने वर्षों बाद भी प्रो. देसाई अपनी सार्थकता को बनाये हुए है और भारतीय के सामाजिक पृष्ठभूमि के अध्ययन में उपयोगी है। भारतीय राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि का वास्तविक अध्ययन प्रो. देसाई के विचारों के माध्यम से पूरी तरह से हो सकता है, इसमें कोई संशय नहीं है, भले ही इसमें कुछ कमियां हों।

प्रो. देसाई ने भारतीय राष्ट्रीयता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अध्ययन मे यर्थाथवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए केवल ब्रिटिश शासन के अवगुणों दमन और शोषण को ही राष्ट्रीयता की उत्पति के लिए उतरदायी नहीं माना है, बल्कि भारतीय समाज में किये जानेवाले अनेंक सुधार जैसे– बालविवाह, सतीप्रथा, आदि के उन्मूलन और आधुनिक शिक्षा और सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में किये गये परिवर्तनों को भी भारतीय राष्ट्रीयता की पषष्ठिभूमि में शामिल किया है। इस प्रकार उन्होंने केवल भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के अगुआओं की भूमिका को तो स्वीकार ही किया है अनेंक अन्य चीजों की भूमिका को भी स्वीकार किया है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. मार्क्सवादी विचारधारा और पद्धति का प्रयोग करने वाले प्रथम विचारक कौन हैं?

   (क) महात्मा गांधी (ख) पंडित नेहरू

   (ग) अंबेडकर (घ) प्रो. देसाई

4. प्रो. देसाई ने भारत में राष्ट्रीयता के अभ्युदय संबंधी कितनी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है?

   (क) दो (ख) तीन

   (ग) चार (घ) पांच

टिप्पणी

5.4 योगेंद्र सिंह और भारतीय परंपरा का आधुनिकीकरण

योगेंद्र सिंह जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के सामाजिक प्रणाली शोध केंद्र (सेंटर फॉर दि स्टडी ऑफ सोशल सिस्टम्स), में समाजशास्त्र के प्रोफेसर एमेरिटस हैं। वह इसके संस्थापक भी हैं। उनका जन्म 2 नवंबर, 1932 को उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के एक गांव के एक जमींदार परिवार में हुआ। उन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर एवं पीएच.डी. की शिक्षा ग्रहण की। उन्हें राधाकमल मुखर्जी, डी. पी. मुखर्जी, डी. एन. मजुमदार, बलजीत सिंह और ए. के. शरण जैसे प्रख्यात शिक्षकों से शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला।

डॉक्टरेट की प्राप्ति के बाद, सिंह ने आगरा स्थित समाज विज्ञान संस्थान में अध्यापन किया और आगे चलकर टी. के. एन. उन्नितन व इंद्र देव के साथ समाजशास्त्र विभाग आरंभ करने हेतु राजस्थान विश्वविद्यालय में कार्य करना शुरू किया।

कुछ दिनों के लिए उन्होंने जोधपुर विश्वविद्यालय में भी अध्यापन किया। राजस्थान में उनके एक दशक के प्रवास के बाद, उन्हें वर्ष 1971 में जवाहरलाल विश्वविद्यालय, नई दिल्ली में सामाजिक प्रणाली शोध केंद्र की स्थापना के लिए आमंत्रित किया गया। डॉक्टरी शोध के लिए उन्होंने तीस से अधिक छात्रों का मार्गदर्शन किया है। अपने यथार्थ जीवन में योगेंद्र सिंह अत्यंत सरल, सृजनशील और मानवतावादी हैं, जो उनके लेखनों से स्पष्ट होता है।

एक प्रतिष्ठित विद्वान–सिद्धांतकार, सिंह ने भारत और विदेश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में अध्यापन किया है। दक्षिण एशिया के कई देशों में उन्होंने महत्वपूर्ण क्षेत्रीय कार्य का संचालन भी किया है। उन्होंने भारत में समाजशास्त्र के अध्ययवसाय में सक्रियता से भाग लेते रहे हैं और सामाजिक नीतियों के गठन से जुड़ी विभिन्न शैक्षिक एवं सरकारी समितियों में जिम्मेदार पदों पर कार्य किया है।

वह योजना आयोग की शोध सलाहकार समिति और आइसीएसएसआर के सदस्य तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग में समाजशास्त्र के राष्ट्रीय पैनल के समन्वयक हैं। वह भारतीय समाजशास्त्र संस्था के अध्यक्ष भी रहे हैं। समाजशास्त्र और समाज मानवविज्ञान को उनके योगदान के लिए उन्हें कई पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है।

कार्य–प्रणाली

भारतीय समाज के स्तर–विन्यास, आधुनिकीकरण और परिवर्तन के अपने विश्लेषण के लिए योगेंद्र सिंह ने समेकित पद्धति का उपयोग किया। वह संरचनात्मक–कार्यात्मक, संरचनावाद (संरचनात्मक समाजशास्त्र), संरचनात्मक–ऐतिहासिक, संस्कृतिवाद और मार्क्सवादी अभिविन्यास को जोड़ते हैं और शोध में सामाजिक स्तर–विन्यास की रचना करते हैं।

लेखन

सिंह के अनेकानेक आलेख राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने कई पुस्तकों का प्रणयन भी किया है।

उनकी मुख्य कृतियां इस प्रकार हैं :

1. मॉडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडिशन (1973)
2. एसेज ऑन मॉडर्नाइजेशन (1977)
3. सोशल स्ट्रैटिफिकेशन एंड सोशल चेंज इन इंडिया (1978)
4. इमेज ऑफ मैन : आइडियॉलॉजी एंड थिऑरी इन इंडियन सोसियोलॉजी (1984)
5. इंडियन सोसियॉलॉजी : सोशल कंडिशनिंग एंड इमर्जिंग कन्सर्न्स (1987)
6. सोशल चेंज इन इंडिया : क्राइसिस एंड रिसिलिएंस (1993)
7. कल्चर चेंज इन इंडिया : आइडेंटिटी एंड ग्लोबलाइजेशन (2000)
8. आइडियॉलॉजी एंड थिऑरी इन इंडियन सोसियॉलॉजी (2004)
9. सोशल ऐस्पेक्ट्स ऑफ साइंटिफिक एंड टेक्नॉलॉजिकल रिवॉल्यूशन (सह–लेखक) (1978)
10. सोसियॉलॉजी ऑफ नॉन–वायॉलेंस एंड पीस (सह–लेखक) (1968)
11. ट्रेडिशंस ऑफ नॉन–वायॉलेंस (सह–लेखक) (1972)
12. दि सोसियॉलॉजी ऑफ कल्चर (सह–लेखक) (1991)
13. टुअर्ड्स ए सोसियॉलॉजी ऑफ कल्चर इन इंडिया (सह–संपादक) (1965)
14. फॉर ए सोसियॉलॉजी ऑफ इंडिया (सह–संपादक) (1967)

अपने शोधों में, उन्होंने भारतीय समाज के निम्नलिखित पहलुओं पर अपना ध्यान केंद्रित किया है :

सामाजिक स्तर–विन्यास

स्तर–विन्यास वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से समाजों के बीच संपत्ति, शक्ति और प्रतिष्ठा का व्यवस्थित ढंग और असमान रूप से वितरण किया जाता है। सामाजिक स्तर–विन्यास का समाजशास्त्र कई बुनियादी और जटिल समस्याओं को रोकता है। ये समस्याएं सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक समता और असमता, सामाजिक न्याय, शक्ति के स्वरूप और मनुष्य के स्वभाव से जुड़ी हैं। समाजशास्त्र में ये समस्याएं सामाजिक स्तर–विन्यास के सिद्धांत, संरचना और प्रक्रिया के प्रश्नों से जुड़ी हैं।

इस संदर्भ में, सिंह सामाजिक स्तर–विन्यास में तात्विक और सैद्धांतिक समस्याओं के विश्लेषण का एक आधार प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने सामाजिक स्तर–विन्यास पर सन् 1950 और सन् 1970 के दशकों के दौरान संचालित शोधों का विश्लेषण किया है। सामाजिक स्तर–विन्यास के समाज शास्त्र (सोसियॉलॉजी ऑफ सोशल स्ट्रैटिफिकेशन) पर अपनी आइसीएसएसआर की ट्रेंड रिपोर्ट में सिंह लिखते हैं : "सैद्धांतिक रूप से, सामाजिक स्तर–विन्यास के अधिकांश शोध पहले संस्था की संरचनात्मक इकाइयों के संदर्भ में प्रासंगिक तथ्यों के प्रति 'क्या' और 'कैसे' के प्रश्नों के उत्तरों की मांग करते हैं; दूसरे, इन्हें समाज में सदस्यों की भूमिकाएं तथा स्थिति तय करने और/या मीडिया को 'संस्था की शक्ति' की गतिविधि उपलब्ध कराने के लिए 'क्यों' के उत्तर की जरूरत

होती है; और तीसरे, संस्था के परिवर्तन की प्रक्रिया के संदर्भ में ये 'यह क्या होगा' और 'इसे क्या होना चाहिए' के प्रश्नों को जन्म देते हैं।"

5.4.1 सामाजिक परिवर्तन का स्वरूप

सामाजिक परिवर्तन को योगेंद्र सिंह 'विचारधारा' के रूप में वर्गीकृत करते हैं (1973)। यदि संस्कृतीकरण या पाश्चात्यीकरण की संकल्पनाओं की प्रासंगिकता विश्लेषणात्मक कथन नहीं बल्कि 'सत्य के प्रति आग्रही संकल्पनाएं' हो जैसा कि सिंह ने ठीक ही उन्हें नाम दिया है, तो संस्कृतीकरण, पाश्चात्यीकरण, परिमितीकरण, सार्वजनीनीकरण, लघु एवं महान परंपराओं, ग्राम्य–नगरी द्विभाजन अथवा सांतत्यक आदि ने समाजशास्त्र के ज्ञान के ढांचे को समृद्ध किया।

परिणामस्वरूप, भारतीय समाजशास्त्र का भारतीयकरण करने के उनके प्रयास संशयशील रहे और 'पाश्चात्य' दृष्टिकोण के तीव्र वर्चस्व से आगे निकल जाने का उनका प्रयास भी असफल रहा। इस संदर्भ में भारतीय परंपरा के आधुनिकीकरण (मॉडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडिशन) (1973) पर योगेंद्र सिंह का विनिबंध एक उल्लेखनीय दृष्टांत हो सकता है, जो सन् 1966–67 में लिखा गया। इसमें भारतीय समाजशास्त्र के भारतीयकरण की कई जानकारियां अंतर्विष्ट हैं।

सामाजिक परिवर्तन की संकल्पनाएं एवं सिद्धांत (कॉन्सेप्ट्स एंड थिऑरीज ऑफ सोशल चेंज) की ट्रेंड रिपोर्ट में इसे और भी बेहतर ढंग से सिद्ध किया गया है। सिंह ने देखा कि भारत में सामाजिक परिवर्तन पर शोध–अध्ययन खंडित रहा है। इन शोधों में सामान्यतः जाति व्यवस्था, परिवार, व्यवसाय आदि जैसे अलग–थलग विषयों पर चर्चा मिलती है और इन तत्वों पर सामान्यतः स्थानीय स्तर पर, ज्यादा से ज्यादा क्षेत्रीय स्तर पर तो अध्ययन हुआ है, राष्ट्र स्तर पर नहीं। अपनी पुस्तक सोशल चेंज इन इंडिया : क्राइसिस एंड रिसिलिएंस (1993) में सिंह निम्नलिखित पहलुओं पर चर्चा करते हैं :

(1) सामाजिक परिवर्तन के अंतर्विरोध एवं चुनौतियां,
(2) भारतीय समाज का सामाजिक कायांतरण,
(3) समकालीन सामाजिक संकट एवं इसके आयाम,
(4) आर्थिक विकास एवं बदलती परिवार व्यवस्था,
(5) कानून व सामाजिक परिवर्तन,
(6) संरचना, परंपराएं और भारतीय समाज का लचीलापन,
(7) नृजातीयता, एकता और भारतीय सभ्यता,
(8) भारतीय राष्ट्रीयता का सामाजिक प्रक्रम एवं आयाम,
(9) भारतीय समाज का राष्ट्रीय समेकन,
(10) सामाजिक संरचना की संकल्पना, और
(11) सामाजिक स्तर–विन्यास।

आधुनिकीकरण

आधुनिकीकरण एक समेकित अवधारणा है। यह एक वैचारिक अवधारणा भी है। आधुनिकीकरण के प्रारूप विचारधाराओं के विकल्प की तरह भिन्न–भिन्न होते हैं। इस अवधारणा का समेकित स्वरूप इसे समाज विज्ञान की शब्दावली में 'विकास', 'संवृद्धि', 'क्रमिक विकास' एवं 'प्रगति' जैसे व्यापक अर्थ देता है और इनके समानार्थी बताता है। तीसरे विश्व के देशों में आधुनिकीकरण की मुख्य अनिश्चितता वैचारिक है, खास तौर से जब हम भारत में आधुनिकीकरण की विचारधारा की जांच करते हैं।

एसेज ऑन मॉडर्नाइजेशन इन इंडिया (1977) पुस्तक में सिंह ने भारत में आधुनिकीकरण के नानारूप एवं जटिल प्रक्रमों, इससे निःसृत मान्यताओं और एक ऊर्जस्वी राष्ट्र व समेकित सभ्यता के रूप में भारत के स्थायित्व, सर्जनात्मकता तथा विकास का विश्लेषण किया है।

भारतीय समाजशास्त्र

योगेंद्र सिंह ने विभिन्न रूपों में भारतीय समाजशास्त्र के समाजशास्त्र पर विनिबंधों–पुस्तकों का प्रणयन किया है। इनमें उन अवधारणाओं और सिद्धांतों के आधारों को उद्घाटित करता भारतीय समाजशास्त्र का एक पार्श्व चित्र मिलता है, जिन पर सामाजिक स्तर–विन्यास और परिवर्तन के भारत के अधिकांश शोध–अध्ययन आधारित हैं।

यहां हमारा अभिप्रेत सिंह का महत्वपूर्ण निबंध इंडियन सोसियॉलॉजी (1987) है जो अगस्त 1986 में दिल्ली में आयोजित 11वें विश्व समाजशास्त्र सम्मेलन के तत्काल बाद प्रकाशित हुआ। इसमें अवधारणाओं और सिद्धांतों के आधारों का उद्घाटन हुआ है। यह अंतरराष्ट्रीय समाजशास्त्र संघ (इंटरनेशनल सोसियॉलॉजिकल एसोसिएशन) द्वारा प्रमाणित एक विस्तृत समीक्षा–निबंध है। बीते वर्षों के दौरान भारतीय समाजशास्त्र में पनपी विचारधाराओं के विश्लेषण के लिए यह हमें एक उत्कृष्ट रूपरेखा उपलब्ध कराता है।

संस्कृति–परिवर्तन

सांस्कृतिक परिवर्तन के शोध–अध्ययन के प्रति समाजशास्त्रियों का ध्यान उस सीमा तक आकृष्ट नहीं हो पाया है जितना कि सामाजिक संरचना और उसके प्रक्रमों में हुए परिवर्तनों के प्रति। कल्चर चेंज इन इंडिया : आइडेंटिटी एंड ग्लोबलाइजेशन (2000) में सिंह के निबंधों का संग्रह भारत में संस्कृति के क्षेत्र में हुए परिवर्तनों की कुछ महत्वपूर्ण प्रक्रियाओं पर ध्यान केंद्रित करने का एक प्रयास है।

पहली बात, ''दि सिग्निफिकैंस ऑफ कल्चर इन दि अंडरस्टैंडिंग ऑफ सोशल चेंज इन कंटेंपरेरी इंडिया'' (समकालीन भारत में साामाजिक परिवर्तन की व्याख्या में संस्कृति का महत्व) में भारतीय समाजशास्त्रियों के संस्कृति के शोध प्रबंधों के अभिविन्यासों, 'सूचना समाज' के उदय से सांस्कृतिक परिवर्तनों की नई प्रक्रियाओं के चलते इन अध्ययनों के समक्ष आने वाली संभावित चुनौतियों और समाज के नृजातीय समुदायों, अल्पसंख्यकों और कमजोर वर्गों में अस्मिता की चेतना के पुनरुत्थान के कारक इसके परिणामों का उल्लेख है। इसमें संस्कृति, उसके स्वरूपों और भारतीय समाज में आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं के निर्माण के बीच संबंध की चर्चा भी है।

अपनी पुस्तक मॉडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडिशंस योगेंद्र सिंह भारतीय समाज में परंपराओं के तीन मुख्य वर्गों की शिनाख्त करते हैं :

- हिंदू
- मुस्लिम
- जनजातीय।

हालांकि भारत में कई नृजातीय समुदाय हैं, किंतु उक्त तीन वर्ग भारतीय समाज की परंपराओं के महत्वपूर्ण और प्रधान अवयव हैं।

भारतीय समाज की सभी घटनाएं और यथार्थ स्थितियां परंपराओं के इन तीन वर्गों में अभिव्यंजित होती हैं। योगेंद्र सिंह ने आधुनिकीकरण के मुख्य कारकों की पहचान और भारतीय समाज पर उनके प्रभाव का विश्लेषण करते हैं। उन्होंने आधुनिकीकरण के फलस्वरूप आए परिवर्तनों को उद्घाटित करने का प्रयास किया है।

आधुनिकीकरण के स्रोत आंतरिक या अंतर्जात हैं अथवा बाहरी समाज के हैं। आधुनिकीकरण के इन दो स्रोतों का सामाजिक संरचना और परंपराओं दोनों स्तरों पर विश्लेषण आवश्यक है।

योगेंद्र सिंह का आशय नितांत स्पष्ट हो जाता है जब वह कहते हैं कि यह जरूरी नहीं कि समाज में सामाजिक परिवर्तन लाने वाली प्रक्रियाएं परंपराओं में भी परिवर्तन लाएं। और, दूसरी तरफ, परंपराओं में परिवर्तन को प्रभावित करने वाली प्रक्रियाएं समाज को भी निस्संदेह परिवर्तित करती हैं। वह लिखते हैं :

भारत में सामाजिक परिवर्तन पर अधिकांश शोधों की वैचारिक संकल्पनात्मक रूपरेखा ऐसी है कि ध्यान या तो सामाजिक संरचना (यानी समाज) से परंपरा के बहिष्करण पर है या फिर सामाजिक संरचना के समुचित प्रबंध के बिना परंपरा के बहिष्करण पर।

हिंदू परंपराएं

योगेंद्र सिंह के अनुसार, हिंदू समाज में कुछ प्रथाएं ऐसी हैं जो मूल्य विषयक हैं। आधुनिकीकरण के आविर्भाव से पहले, हिंदू समाज मूल्य के निम्नलिखित संघटकों पर आधारित था :

(1) सामाजिक वर्ग विभाजन,

(2) अखंडता

(3) कर्म, और

(4) श्रेष्ठता।

मूल्य आधारित ये संघटक गीता, महाभारत, रामायण, वेदों, पुराणों और उपनिषदों जैसे हिंदू ग्रंथों में सर्वत्र मिलते हैं। लुई डुमोंट ने भी भारतीय जाति व्यवस्था में परंपरा के तत्व पर बल दिया है। जातियों का संगठन समानता, जो यूरोपीय समाज का आदर्श है, के विपरीत असमानता के आधार पर किया गया है। एक हिंदू के लिए, असमानता का अर्थ व्यापक है और इसमें उपजीविकाजन्य जीवन चक्र, जैसे आश्रम, और नैतिक कर्तव्य तथा धर्म भी शामिल हैं। इस तरह परंपरा मूलतः आश्रमों और धर्म के मूल्य आधारित विषयों पर आधारित है।

अखंडता, हिंदू परंपरा का एक और पक्ष, व्यक्ति और समूह (व्यष्टि और समष्टि) के बीच संबंध में दिखाई देता है। हिंदू समाज में व्यक्ति स्वायत्त नहीं है। वह समाज के आदर्शों और मूल्यों से बंधा है। व्यक्ति के आचरण का निर्धारण समाज करता रहा है। योगेंद्र सिंह इसका विश्लेषण इस प्रकार करते हैं :

अखंडता का अर्थ व्यक्ति और समूह (व्यष्टि और समष्टि) के बीच एक संबंध था, जिसमें कर्तव्यों और अधिकारों के मामले में व्यक्ति समूह से बंधा होता था; यहां समुदाय या संघ प्रधान होता था, व्यक्ति नहीं।

अखंडता का भारत के जाति समाज में एक प्रबल स्थान रहा है। सभी स्थितियों में व्यक्ति जाति, गांव और धर्म संघों के अधीन होता था। यदि व्यक्ति संघ या जाति और गांव की परंपराओं का उल्लंघन करता तो उस पर कठोर प्रतिबंध लगाए जाते थे – जातिच्युत, निर्वासित, दंडित। पारंपरिक सामाजिक संरचना, जैसे परिवार, ग्राम समुदाय, जाति और राजनीतिक क्षेत्र या देश में व्यक्ति को सामूहिक रूप से नियमों से बांधा जाता था।

सामाजिक वर्ग विभाजन और अखंडता के बाद, भारतीय समाज का तीसरा मूल्य विषय कर्म या सातत्य आता है। आत्मा का शरीरांतरण हिंदू धर्म का महत्वपूर्ण तत्व है : यह पुनर्जन्म का सिद्धांत है जिसका तात्पर्य हिंदू समाज की अविच्छिन्नता से है। हिंदू समाज को सनातन माना जाता है – शाश्वत। और इसकी शाश्वतता कर्म के सिद्धांत से सुनिश्चित की जाती है। आत्मा कभी मरती नहीं, इसका पुनर्जन्म होता है।

हिंदू समाज की चौथी परंपरा श्रेष्ठता है। यह व्यक्ति के साध्य अनुभव व ज्ञान की सीमाओं से परे है। श्रेष्ठता के मूल्य के अनुसार, पारंपरिक मूल्यों की वैधता को कभी चुनौती नहीं दे सकती। जाति व्यवस्था के वर्गीरण पर कोई भी प्रश्न चिह्न नहीं लगा सकता, कोई भी समूह या संघ कि प्रधानता को चुनौती नहीं दे सकता; पंच, यानी ग्राम परिषद परमेश्वर के समान होती है।

मूल्य संघटकों की इस योजना में, तर्क का कोई स्थान नहीं है। और, दूसरी तरफ, पश्चिमी देशों में तार्किकता का मूल्य आधुनिकता का मर्म है। मैक्स वेबर की तार्किकता से जॉर्ज रिट्ज़र की अति–तार्किकता तक आधुनिकता का निरूपण इन्हीं मूल्यों के आधार पर किया जाता है। किंतु, ध्यान रहे, पारंपरिक हिंदू समाज में यह स्वीकार्य नहीं है। योगेंद्र सिंह लिखते हैं :

श्रेष्ठता के सिद्धांत में यह स्थापना भी दी गई कि क्रमिक विकास के धर्मेतर या सांसारिक पटल से व्युत्पन्न तार्किकता के आधार पर पारंपरिक मूल्यों के वैधीकरण को कभी चुनौती नहीं दिया जा सकता। इसने परंपरा के अन्य मूल्य विषयों के समेकन और बुद्धिसंगत व्याख्या में सहायक एक अधि–संकल्पना (सुपर–कॉन्सेप्ट) को जन्म दिया।

समाज जो भी हो – भारतीय या पाश्चात्य, कुछ परंपराएं होती हैं जो इसे एकजुट रखती हैं। पाश्चात्य समाज में भी परंपराएं हुई हैं। पश्चिमी जगत में आधुनिकता के आविर्भाव से पहले, वृत्तिक संरचना को नैतिक कर्तव्य माना जाता था। और यदि कोई अपनी वृत्ति का त्याग कर देता, तो ईश्वर की दृष्टि में सांसारिक दायित्व का यह त्याग एक स्वार्थी कार्य होता।

टिप्पणी

ईश्वर की इच्छा के अनुरूप जीवित रहने का अर्थ था अपने सांसारिक कर्तव्यों का पालन करते हुए संसार में रहना। भारत की पंरपराएं पश्चिम की परंपराओं से किंचित भिन्न हैं। भारत के प्रति जो विशिष्ट है वह यह कि परंपराओं की अपनी एक 'अद्वितीय' विरासत, अस्तित्वपरक स्थितियां और परिस्थितियों की ऐतिहासिकता है।

जनजातीय परंपराएं

भारत की कुल आबादी में जनजातीय आबादी का अंश 7.8 प्रतिशत है। वे पूरे देश में टुकड़ों में फैले हैं। वे पंजाब और हरियाणा को छोड़ सभी प्रांतों तथा चंडीगढ़, दिल्ली व पुडुचेरी को छोड़ सभी संघ शासित क्षेत्रों में पाए जाते हैं। देश में उनकी कुल आबादी में से 93.80 प्रतिशत की पृष्ठभूमि ग्रामीण और 6.20 प्रतिशत की शहरी है।

जनजातियों की सर्वाधिक आबादी (23.33 प्रतिशत) मध्य प्रदेश में है। इसके बाद ओडिशा (11.46 प्रतिशित), बिहार (11.26 प्रतिशत), महाराष्ट्र (11.8 प्रतिशत), गुजरात (9.93 प्रतिशत), राजस्थान (8.10 प्रतिशत), आंध्र प्रदेश (6.15 प्रतिशत) और पश्चिम बंगाल (5.95) प्रतिशत का स्थान आता है। गोंड, भील, संथाल, मीणा और ओरांव जनजातियों की आबादी अन्य जनजातियों से अधिक है।

जनजातीय परंपराएं हिंदू परंपराओं से भिन्न हैं। जनजातियों का हर वर्ग अंतर्विवाही है और जनजातीय समाज में कोई श्रेणी क्रम नहीं है। उदाहरण के लिए, यह नहीं कहा जा सकता कि गोंड श्रेणी क्रम में शीर्ष पर हैं या भील तल पर। हर जनजातीय वर्ग स्वायत्त है और इसकी अपनी पहचान है।

जनजातीय समुदाय की सामाजिक संरचना समतावादी (भेदभावरहित) है हालांकि आधुनिकीकरण की ताकतों ने स्तरीकरण और नई परंपराओं का सूत्रपात कर दिया है। विभिन्न जनजातीय वर्गों में जनजातीय लोगों का कोई श्रेणी क्रम नहीं होता; हा जनजाति का अपना वर्ग श्रेणीक्रम होता है। जनजातीय समाज का मूल्य संघटक उसके धर्म में सन्निहित होता है। हिंदू धर्म के मोक्ष के सिद्धांत में जनजातीय लोगों का विश्वास नहीं होता। न ही वे स्वर्ग या नर्क की अवधारणा में विश्वास रखते हैं। 'वर्तमान' उनके लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। ये लोग अलमस्त होते हैं।

अगर उनके पास आज के लिए पर्याप्त हो, तो वे कल की चिंता नहीं करते। बचत उनके लिए कोई मायने नहीं रखती। सर्वेक्षण की रिपोर्ट के अनुसार, ''तीन को छोड़कर सभी जनजातीय समुदाय मांसाहारी हैं, वे सूअर (64.6 प्रतिशत), गाय का मांस (36 प्रतिशत) और बैल का मांस (30 प्रतिशत) खाते हैं''। शाकाहारी तीन जनजातीय समुदाय हैं तोड़ा, रबरी और भरवाड़। वे सभी पशुचारक हैं।

जनजातीय समुदायों की धार्मिक प्रथाओं में मदिरा का स्थान सर्वोपरि है। जन्म, विवाह और मृत्यु के अवसरों पर वे अपने कुल देवी–देवताओं को मदिरा अर्पित करते हैं। सभी उत्सवों के अवसर पर वे अतिशय मदिरापान करते हैं। मदिरा कभी–कभी विवादों और झगड़ों का कारण भी बन जाती है। छिट–पुट घरों में रहना उनकी एक अन्य परंपरा जो सभी जनजातीय समुदायों में आम है।

मानवविज्ञानियों का मानना है कि परंपरागत रूप से ये जनजातीय समुदाय जड़ात्मवादी होते हैं। हाल में, जड़ात्मवाद का झुकाव हिंदू धर्म की ओर हुआ है।

सर्वेक्षण के अनुसार, अनुसूचित जातियां मुख्यतः हिंदू धर्म के अनुयायी हैं, उनकी कुल आबादी का 87.05 प्रतिशत अंश हिंदू धर्म में लौट आया है। कुछ जनजातीय समुदाय केवल एक धर्म का पालन करते हैं।

जहां तक धर्म का संबंध है, जनजातियों के ईसाई और हिंदू धर्म के संपर्क में आने के बावजूद जनजातियों की धार्मिक व्यवस्था की स्वायत्तता बरकरार है। कुल एवं ग्राम देवताओं का वर्ग अक्षुण्ण है। जनजातियों में अधिकांश पुरोहित–पुजारी उनके अपने ही समुदायों से होते हैं। पर्व–त्योहारों और उत्सवों का पंचांग भी अक्षुण्ण है।

जनजातीय समुदाय की अखंडता उसकी परंपराओं पर टिकी है। हिंदू और मुस्लिम समाजों की तरह ही, जनजातीय समुदाय अपने स्वरूप में अखंड है। यह अन्योन्याश्रित समष्टियों से रचित है जो महज अपने अंगों के योग से कहीं अधिक हैं। जनजातीय समाज का कोई व्यक्ति चाहे कुछ भी हो जाए – संभ्रांत, समृद्ध, समुदाय का मार्गदर्शक या बुद्धिजीवी – वह अपनी परंपराओं को नहीं छोड़ता।

मदिरापान, बहुविवाह की अनंत लालसा, मांसाहारी भोजन, विश्रृंखलित आवास, केवल वर्तमान की चिंता और जड़ात्मवाद किसी जनजातीय समुदाय के लिए रूढ़ हैं। ये सब मिलकर उनके जीवन को पूर्णता प्रदान करते हैं। किंतु, इसका अर्थ यह नहीं कि वे परिवर्तन और विकास के विरोधी हैं। वे आधुनिकता को स्वीकार करने के प्रति सतत उत्सुक रहते हैं। किंतु, इसके बावजूद वे अपनी जनजातीय पहचान का त्याग नहीं करते।

5.4.2 भारतीय परंपरा का आधुनिकीकरण

परंपरा, जिसे हम आधुनिकीकरण से पूर्व के भारत की समस्त सामाजिक व्यवस्था को अपने में समेटने वाले मूल्य विषयों के रूप में देखते हैं, श्रेणी क्रम, अखंडता, कर्म और श्रेष्ठता के सिद्धांतों पर आधारित था। ये चार मूल्य–विषय भारत की सामाजिक संरचना के अन्य अवगुणों से गहराई से गुंथे हुए थे। श्रेणी क्रम न केवल जाति एवं उप–जाति व्यवस्था में बल्कि मानव स्वभाव, वृत्तिक जीवन चक्र (आश्रम) और नैतिक कर्तव्यों (धर्म) की हिंदू मान्यताओं में भी गहरे तक जमा था।

इन मूल्य–संघटकों पर आधारित इस तरह का संगठन केवल भारतीय समाज में ही हो ऐसा नहीं था, क्योंकि एक स्तर पर यही स्थिति परंपरानिष्ठ पाश्चात्य समाज में भी थी। किंतु, इन दो पंरपराओं के बीच भेद उनकी विशिष्ट सामाजिक विरासत, अस्तित्वात्मक स्थितियों और परिस्थितियों की ऐतिहासिकता से उत्पन्न हुआ।

यहां एक प्रश्न उठता है : क्या एक दूसरे से भिन्न इन समाजों और पंरपराओं में आधुनिकीकरण की ऐतिहासिकता उन्हें आधुनिकीकरण का एक सर्वव्यापी व समांगी स्वरूप ग्रहण करने को प्रेरित करेगी? यह प्रश्न खास तौर पर भारत के लिए महत्वपूर्ण है, जिसका एक उज्ज्वल अतीत है और जो कालिक विचार–गांभीर्य के साथ महान सभ्यताओं का केंद्र रहा है।

परंपरानिष्ठ भारतीय समाज में सभ्यता के इस कालिक विचार–गांभीर्य की प्रासंगिकता न केवल उस दिशा के विश्लेषण के लिए है, जिस पर आधुनिकीकरण की प्रक्रिया अंततोगत्वा अग्रसर हो सकती है, बल्कि यह आपद और उन स्थितियों को

टिप्पणी

समझने के लिए भी जरूरी है जिनमें आधुनिकीकरण ने परंपरानिष्ठ भारतीय समाज पर प्रभाव छोड़ा है। लौकिक सूत्र

यह उस ढंग को भी उद्घाटित कर सकती है जिसमें भारत में आधुनिकीकरण की आरंभिक संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक स्थितियां ऐसे सांस्थानिक संयोजनों की सहायता कर सकती हों जो अभिविन्यास में सर्वमुक्तिवादी (समष्टिमुक्तिवादी) किंतु स्वरूप में विशिष्टमुक्तिवादी (व्यष्टिमुक्तिवादी) हों। परंपरागत संस्थानों का स्वरूप अक्षुण्ण बना रह सकता है किंतु संभव है कि आधुनिकीकरण को अपनाने के क्रम में उनके मर्म को भारी परिवर्तनों से गुजरना पड़े।

ऐतिहासिक दृष्टि से, भारत में सामाजिक संरचना एवं परंपरा औपनिवेशीकरण के जरिए पाश्चात्य परंपरा से संपर्क शुरू होने तक आधुनिकता के प्रमुख तत्वों से अप्रभावित रही। इसके पहले इस्लाम से संपर्क में आने पर परंपरा सुदृढ़ ही हुई क्योंकि हिंदू परंपरा के लिए बाहरी होते हुए भी इस्लाम मूलतः मूल्य–विषयों पर आधारित था, जो परंपरानिष्ठ थे; आदर्शतः, इस्लाम में इसके अनुयायियों के समुदाय के भीतर लोगों के श्रेणीबद्ध विशिष्टीकरण के लिए कोई स्थान नहीं था; इसका विश्वदर्शन कर्म के हिंदू मत के विपरीत मसीही–ऐतिहासिक था; इस्लाम में श्रेष्ठता पूरी तरह से एकेश्वरवादी था और यहां भी यह हिंदू धर्म के विपरीत था।

अखंडता का सिद्धांत भी, जो निस्संदेह इस्लाम और हिंदू धर्म दोनों में मौजूद था, दोनों सभ्यताओं में समाजशास्त्रीय अर्थ में भिन्न था। हिंदू धर्म में, अखंडता का अर्थ बिना किसी सैद्धांतिक निहितार्थ के व्यक्ति की समुदाय की सामाजिक और नैतिक अधीनता था, यह इस्लाम में आधारिक था।

हिंदू एवं इस्लामिक परंपराओं के आदर्श मूल्यपरक विषयों में इन असमानताओं के बावजूद, उनके बीच एक संश्लेषण था जिसने भारतीय समाज के संगठन में बिना किसी महत्वपूर्ण विभंग के उसके पारंपरिक चरित्र को सुदृढ़ किया।

फारस से भारत आने से पहले ही इस्लाम ने अपने फारसी रूप में श्रेणीबद्ध स्तर–विन्यास के कुछ तत्वों को आत्मसात कर लिया था, और वर्ग–स्तरित हिंदू समाज के बीच बड़े पैमाने पर हिंदू जातियों के इस्लाम में परिवर्तन के कारण, इस्लामिक सामाजिक संरचना ने इस देश में जाति श्रेणी क्रम के अपने ढांचे का जल्द ही विकास कर लिया।

राजनीतिक संरचना में भी, सामंती राजशाही व्यवस्था भी, जिसका मुसलमान शासक पालन करते थे, परंपरागत हिंदू शासकों से मूल रूप से भिन्न नहीं थे, और यहां तक कि जहां अंतर होता था, वहां सांस्थानिक समायोजनों के साथ राजनीतिक व्यवस्था के हिंदू मापदंडों को समायोजित करने का प्रयास किया जाता था।

हिंदू राजाओं–राजकुमारों तथा प्रशासनिक पदाधिकारियों को उत्तर में मुस्लिम शासकों के दरबारों में महत्वपूर्ण पद दिए जाते थे। फलस्वरूप, उक्त दो व्यवस्थाओं के बीच किसी विशेष विभंग के बिना सामाजिक और सांस्थानिक समन्वय हुआ। इसलिए, आधुनिकीकरण की दृष्टि से इस्लाम से संपर्क अन्य बातों से अधिक परंपरा को मजबूती प्रदान करने वाला था।

परंपरानिष्ठ भारत में सामाजिक परिवर्तन

विशेष रूप से परंपरानिष्ठ समाज में होने वाले परिवर्तनों का मूल्यांकन करने हेतु सामाजिक परिवर्तन और आधुनिकीकरण के बीच अंतर को स्पष्ट करना आवश्यक है। परंपरानिष्ठ भारत में आधुनिकीकरण के बिना सामाजिक परिवर्तन की अनवरत घटनाएं हुईं।

ये परिवर्तन एक परंरपरागत संरचना से दूसरी परंपरागत संरचना में हुए, किंतु इस क्रम में गुणात्मकतापूर्ण विशिष्ट विकासात्मक विखंडन हेतु उन्हें पीछे नहीं छोड़ा गया। ये परिवर्तन नियतविकासपरक और विषमजननपरक दोनों कारणात्मक स्रोतों के माध्यम से शुरू किए गए और उन्हें अन्योन्याश्रयी और सामाजिक संरचना तथा संस्कृति से संबद्ध थे, किंतु स्वरूप और गुणवत्ता की दृष्टि से ये तत्वतः आधुनिक काल से पहले के थे।

पाश्चात्य परंपरा के संपर्क में आने से पहले भारत में गौण और महान परंपराओं की परंपरानिष्ठ सामाजिक संरचना में कई परिवर्तन आए। बौद्ध और जैन धर्मों का उदय हिंदू जाति व्यवस्था के विरुद्ध एक विरोध आंदोलन के रूप में हुआ; उनके विकास के फलस्वरूप नए जाति–सदृश पाठशाला समूहों का मार्ग प्रशस्त हुआ जो आगे चलकर अनेकवृत्तिभोगी परंपरा के रूप में परिणत होकर पथभ्रष्ट हो गए।

इन आंदोलनों का प्रभाव भारतीय समाज की राजनीतिक एवं आर्थिक संरचना पर भी पड़ा। विशेष रूप से जैन धर्म एक शहरी आंदोलन था, और जैन तथा बौद्ध दोनों धर्मों ने शहरों में नई व्यापारिक जातियों के उदय का मार्ग खोल दिया।

नियतविकासपरक आंदोलनों ने उत्तर भारत में सिख आंदोलन, उत्तर व दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलनों और ब्रिटिश शासन काल के दौरान आर्य समाज एवं ब्रह्मो समाज आंदोलनों के आधार तैयार करने के अतिरिक्त अंत में समकालीन समय में गांधीवादी आंदोलन की भावभूमि तैयार की, जो भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति तक चलता रहा।

उत्तर भारत में भक्ति आंदोलनों को छोड़कर, जिन्होंने समतावादी मूल्यों को जन्म दिया और हिंदू एवं मुस्लिम परंपराओं के बीच एक सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया, अन्य सभी आंदोलन समानांतर महान परंपराओं की स्थापना या फिर हिंदू धर्म की महान परंपरा को प्रबलित करे के ध्येय से अलग हुई प्रक्रियाएं थीं।

इस तरह हुए ये परिवर्तन परंपरागत सामाजिक ताने–बाने और मूल्यों के ढांचे के भीतर विभेदन तक सीमित रहे; संरचनात्मक परिवर्तन बहुत कम हुए, और जो हुए वे भूमिकाओं के प्रकारों के सापेक्ष सीमित थे। यहां पुरोहित–वर्ग की भूमिकाओं और मठ संस्थाओं का उल्लेख किया जा सकता है जिनका उदय बौद्ध धर्म के उदय के साथ हुआ।

इसी तरह अन्य परंपराओं के उदय के बाद धार्मिक मुख्य–संगरचनाओं एवं सगठनों में परिवर्तन हुए। किंतु इन परिवर्तनों को किसी भांति भी संरचनात्मक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भूमिकाएं अलग–अलग थीं और वे व्यवस्था को पूर्णतः बदल नहीं सकीं। भूमिका के विभेदन का एक अभिजातवादी चरित्र भी था क्योंकि उन सबकी बागडोर उच्च वर्ग और जाति के लोगों के हाथों में थी।

टिप्पणी

केवल कुछ गिनती के भक्ति आंदोलन अपवाद थे, किंतु अर्थवत्ता की दृष्टि से ये नवोन्मेशी नहीं बल्कि एकरस पुनरावृत्तिक थे। राजनीतिक व्यवस्था, स्तर–विन्यास व्यवस्था अथवा जाति व्यवस्था पर उनका कोई सार्थक प्रभाव नहीं पड़ा, जैसा कि उन्होंने प्रचार किया था।

भारत में इस्लामी परंपरा विषमजननपरक स्रोत से आई; मुगलों के देश पर विजय से स्थापित इस परंपरा में आरंभ से ही एक जटिल भावोत्तेजक विरोध का प्रवेश हुआ जो समय के साथ–साथ जारी रहा। इस्लाम के मूल्य केंद्रित विषय पूर्णतावादी थे किंतु उनकी श्रेणी व्यवस्था अथवा जाति व्यवस्था के सिद्धांत को सिद्धांत रूप में स्वीकृति नहीं मिली; इस सिद्धांत में कर्म को भी कम स्थान दिया गया, क्योंकि सामी मूल के सभी धर्मों की तरह इस्लाम ऐतिहासिक समय की अवधारणा पर आधारित था; श्रेष्ठता पर इसका मूल्य–विषय भी परम एकेश्वरवाद के सिद्धांत में निहित था। यहां मुख्य संरचनात्मक वंचन सत्ता और सामाजिक प्रतिष्ठा की थी, जिसका 'सत्ता और धर्म' के बीच एक समीकरण के रूप में डूमोंट का निरूपण समीचीन है। सभी परंपरानिष्ठ समाजों में जहां सामाजिक स्तर–विन्यास की व्यवस्था बंद है और जहां सामाजिक श्रेणी क्रम में ऊपर चढ़ने का कोई वैध संरचनात्मक उपाय नहीं है, मत, या फिर रीति–रिवाजों और आनुष्ठानिक क्रियाओं में परिवर्तन उच्च प्रतिष्ठा के लिए द्यूतक्रीड़ा का अपेक्षाकृत एक सुरक्षित उपाय प्रदान कर सकता है।

यदि हम गौण परंपराओं से हटकर महान परंपराओं का विश्लेषण करें तो यह तथ्य पूरी तरह से स्पष्ट हो जाता है। जैसा कि रेडफील्ड और सिंगर ने उल्लेख किया है, ये गौण परंपराएं अपने में उन सांस्कृतिक मान्यताओं और प्रथाओं को समेटे हुए हैं, जिन्हें लोगों ने सांस्कृतिक कार्यों और महान परंपरा के मूल्यों की मौखिक (श्रुत) परंपरा और स्थानिक विधियों के माध्यम से संजो रखा था।

भारत में हिंदू धर्म और इस्लाम दोनों इन गौण परंपराओं को बनाए रखा है। अधिकांश गौण परंपराओं को जाति संरचना और उसके स्थानीय घटकों में, विशेष रूप से निम्न और मध्य वर्गीय जातियों में, संरक्षित रखा गया था। हिंदुओं और मुसलमानों दोनों की इन जातियों की अपनी–अपनी कई परंपराएं और लघु संरचनाएं थीं।

जैसा कि हम उल्लेख कर चुके हैं, जातियों का संबंध और रिश्तेदारी भारत के किसी भी क्षेत्र में दो सौ मील की परिधि से बाहर बिरले ही होती थी; भाषाओं की विविधता और संचार–संवाद की रोक के चलते जातियों का एक दूसरे से संपर्क सीमित था। इस प्रकार, इन जातियों की नानारूप परंपराओं ने भारत में गौण परंपराओं को जन्म दिया।

परिवर्तन की दो महत्वपूर्ण प्रक्रियाएं, जो गौण परंपराओं में परंपरागत रूप से सक्रिय रही हैं, वे हैं संस्कृतीकरण और इस्लामीकरण। संस्कृतीकरण का संबंध हिंदू परंपरा के भीतर ही परिवर्तन की प्रक्रियाओं से है जबकि इस्लामीकरण एक बाहरी परंपरा से संपर्क के परिणामस्वरूप शुरू हुआ।

ये दोनों ही प्रक्रियाएं अति वंचित समूहों के बीच एक महान परंपरा के मानक तत्वों के अनुरूप अपनी स्थानीय परंपराओं को बदलने या उनमें सुधार लाने की प्रवृत्ति पर विचार करती हैं। एम. एन. श्रीनिवास द्वारा संचालित महत्वपूर्ण शोधों के फलस्वरूप संस्कृतीकरण पर पर्याप्त लेखन सामग्री उपलब्ध है। लेखन सामग्री उपलब्ध है जो एम. एन. श्रीनिवास द्वारा संचालित महत्वपूर्ण शोधों से मिली है।

इस्लामीकरण की प्रक्रिया पर भी इसी प्रकार शोध हुए हैं, किंतु वे बहुत कम हैं, हालांकि संस्कृतीकरण और इस्लामीकरण दोनों प्रक्रियाएं एक बिंदु पर समान हैं। यह समानता संरचनात्मक संदर्भों में समानता के कारण है।

यहां एक महत्वपूर्ण कारक सामने आता है – बेहतर सामाजिक स्थिति वाले अन्य समुदायों और जातियों की तुलना में इन समुदायों और जातियों का 'सापेक्ष वंचन'; परंपरा के भीतर अथवा बाहर, यह संदर्भ समूह विश्लेषण के सिद्धांत के एक अंश का गठन करता है।

संरचनात्मक परिवर्तन एवं संस्कृतीकरण

पश्चात्य परंपरा के संपर्क में आने से पहले हिंदू धर्म की परंपरा में अंतर्जात परिवर्तन मुख्यतः संस्कृतीकरण तक सीमित रहे। इस पूरे काल में संस्कृतीकरण दो रूपों में हुआ; पहला, वीरता के कार्यों के फलस्वरूप निम्न जातियों को उच्च जातियों के समतुल्य सामूहिक मान्यता, आर्थिक एवं अधिकार की स्थिति में उन्नति और राजनीतिक संधियों से उद्‌भूत ऐतिहासिक प्रक्रिया।

ऐसे अधिकांश मामलों में प्रभावशील जातियों की सहमति से आवागमन को मान्यता मिली और यह एक ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में सामने आया। स्थिति की इस उन्नति को यह मान्यता प्रतिष्ठित उच्च जातियों से मिली, जबकि राजाओं ने उन्हें राजकीय उपाधियां दीं और पुरोहित जातियों ने उन्हें मंदिर प्रवेश का औपचारिक अधिकार दिलाया।

यहां, संस्कृतिकरण का एक विस्तृत ऐतिहासिक निहितार्थ था। हालांकि इसका प्रभाव किसी क्षेत्र या किसी उप–क्षेत्र तक सीमित रहा, पर इसकी पृष्ठभूमि में राजनीतिक एवं आर्थिक संबंध ने इसे महत्व का एक नया आयाम दिलाया।

दूसरे रूप में, संस्कृतीकरण का एक प्रासंगिक अथवा स्थानिक अर्थ है और यह सामान्य स्थिति में श्रेणी क्रम में आगे बढ़ने का किसी जाति या उप–जाति का एकतरफा प्रयास है। निम्न जाति के कुछ समूह अपने क्षेत्र में उच्च जातियों के रीति–रिवाजों और जीवन शैलियों को अपनाते हैं, अपने निम्न वर्ग की प्रथाओं का त्याग करते हैं और व्यवस्था के भीतर उच्च वर्ग की स्थिति की मान्यता चाहते हैं।

सर्वसम्मति का अभाव इस प्रक्रिया में संस्कृतीकरण के ऐतिहासिक संदर्भ में एक बड़ा अंतर है। अक्सर प्रभावी जातियों का प्रतिरोध प्रबल होता है। इस रूप में संस्कृतीकरण को जाति व्यवस्था के भीतर कभी–कभार मान्यता मिलती है। संस्कृतीकरण के अधिकांश मामले इस प्रकार के परिवर्तन से संबंधित हैं।

दूसरे, अथवा प्रासंगिक रूप में संस्कृतीकरण जातियों की सांस्कृतिक गतिशीलता की एक धीमी प्रक्रिया है। यह विस्तृत राजनीतिक निहितार्थों से रहित है, जिनका यह प्रक्रिया ऐतिहासिक अर्थ में अनुसरण करती है।

इस तरह, संस्कृतीकरण अक्सर प्रभावशील आधुनिकीकरण की बीज क्यारी का रूप ले लेता है। जहां तक महान परंपरा द्वारा आरोपित वंचनों को चुनौती देने की मंशा का प्रश्न है, संस्कृतीकरण मनोवैज्ञानिक रूप से या संरचनात्मक स्तर पर भी, आधुनिकीकरण के समान है।

आजादी के बाद, जब निम्न और पिछड़े वर्गों को वंचनों से लड़ने के राजनीतिक और कानूनी अधिकार मिले, तो संस्कृतीकरण नहीं बल्कि राजनीति उन्मुखी जाति संघों के गठन की प्रथा चल पड़ी।

संस्कृतीकरण परंपरा और समाज की संरचनात्मक स्थिति में नहीं, सांस्कृतिक स्थिति में परिवर्तन का द्योतक है। उदाहरण के लिए, इसमें यह परिलक्षित नहीं होता कि कार्य के विभेदीकरण किस प्रकार शहरीकरण और नई व्यावसायिक पद्धतियों, या पारिवारिक संरचना और सत्ता संरचना (राजनीतिक नेतृत्व और विशिष्ट वर्ग) का अनुसरण करते हुए समाज के चर कारकों के अंतःसंपर्क से अनुसरण करते हैं, और इन कारकों की व्याख्या कैसे की जा सकती है।

इस अवधारणा का मुख्य विश्लेषणात्मक अभिविन्यास समाजशास्त्रीय नहीं बल्कि संस्कृतिपरक है। किंतु, कुछ समाज विज्ञानियों का मानना है कि संदर्भ समूह सिद्धांत के ढांचे में संस्कृतीकरण का मूल्यांकन हो जाने पर इसे न केवल सांस्कृतिक स्तर पर बल्कि संरचनात्मक स्तर पर भी परिभाषित किया जा सकता है।

अब प्रश्न है : परंपरानिष्ठ भारतीय समाज में संरचनात्मक परिवर्तनों के रूप क्या थे? इन परिवर्तनों की विवेचना करने के लिए हमने लघु–संरचनाओं और बृहत–संरचनाओं के बीच एक भेद किया है। इस वर्गीकरण का प्रयास संबंधों के तंत्रों के विस्तार के आधार पर किया गया है।

लघु–संरचना के संबंधों के विस्तार की सीमा क्षेत्र और शामिल गतिविधियों के विकलपों दोनों के संदर्भ में सीमित है। इसके दृष्टांत इस प्रकार हैं : परिवार, जाति और उप–जाति तथा ग्राम समुदाय। परंपरागत समाज में जाति संरचना ने परिवार और समुदाय दोनों के संबंध के तंत्र को परिभाषित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

अनुभवसिद्ध अध्ययनों से पता चलता है कि पारस्परिक क्रिया की इसकी अपनी सीमाएं क्षेत्रीय–भाषायी और सांस्कृतिक सीमाओं को विरले ही पार करती थी, जो दो से तीन सौ मील से अधिक नहीं होती थीं।

दूसरी तरफ, बृहत संरचनाओं के संबंधों के तंत्र का विस्तार अंतर–क्षेत्रीय और भारत से बाहर तक होता था। परंपरानिष्ठ भारत में राजशाही और सामंती राजनीतिक तंत्र, बैंकिंग कार्य व वाणिज्य तथा मठ–संबंधी और अन्य धार्मिक संरचनाएं आदि इन बृहत संरचनाओं के दृष्टांत थे।

परंपरागत समाज में संरचनात्मक परिवर्तन के एक महत्वपूर्ण पक्ष का निर्धारण संबंध के स्वरूप के आधार पर किया जाता था जो लघु संरचनाओं और बृहत संरचनाओं के बीच होता था। इन संबंधों का निरूपण एक उच्च श्रेणी की स्वायत्तता के द्वारा किया जाता था; इसका परिणाम यह होता था कि बृहत संरचना के स्तर पर परिवर्तन और उथल–पुथल कभी–कभार समाज की लघु संरचनाओं के स्तर पर अनुकूल परिणाम देते थे।

5.4.3 आधुनिकीकरण की प्रक्रियाएं

भारत में आधुनिकीकरण की शुरुआत मुख्यतः पश्चिम के संपर्क में आने के बाद हुई, खास तौर पर ब्रिटिश शासन की स्थापना से। इस संपर्क की एक खास ऐतिहासिकता थी जो भारतीय समाज की संस्कृति और सामाजिक संरचना में कई दूरगामी परिणामों

का वाहक बनी। किंतु इन परिवर्तनों में सभी को आधुनिकीकरणपरक नहीं कहा जा सकता।

इस संपर्क की दिशा मुख्यतः आधुनिकीकरण की ओर थी, किंतु इस प्रक्रिया में कई परंपरानिष्ठ संस्थानों का पोषण भी हुआ। इसमें परंपरा और आधुनिकता के बीच एक साफ–सुथरे विरोध की कल्पना की कमजोरी परिलक्षित होती है। यह भिन्नता यथार्थ से अधिक अनुमान आधारित हो सकती है।

किंतु, भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद ही, आधुनिक सांस्कृतिक संस्थाओं और विभिन्न सामाजिक संरचनाओं का आविर्भाव हुआ। इस सिलसिले में पाश्चात्य परंपरा मूलतः इस्लाम से भिन्न थी, हालांकि दोनों विषम विकासपरक थे और दोनों राजनीतिक प्रभाव व शासन से उद्‌भूत थे।

संपर्क के समय पाश्चात्य परंपरा को स्वयं औद्योगिक क्रांति और समाज सुधार के कारण मूलभूत रूपांतरणों के दौर से गुजरना पड़ा। चर्च और सामंतवाद दोनों द्वारा निरूपित इसका स्तर–विन्यास में वर्गीकरण का पारंपरिक सिद्धांत डगमगा गया था; प्रोटेस्टैंट धर्म के उदय के कारण यह गंभीर संकट से घिर चुकी थी।

अर्थव्यवस्था और समाज में इसका स्थान अब बौद्धिक–व्यक्तिवाद लेने लगा था। इन तमाम प्रक्रियाओं की मूल गतिकता विज्ञान में होने वाले नवप्रवर्तनों और प्रौद्योगिकी से प्रभावित हो चुकी थी। यह एक घोर आशावाद पाश्चात्य देशों में, विशेष रूप से ब्रिटेन में तेजी से हो रहे सामाजिक परिवर्तन का काल था।

इस सामाजिक पृष्ठभूमि ने भारत में आधुनिकीकरण के प्रति अंग्रेज शासकों और प्रशासकों की मनोवृत्ति का निर्धारण कर दिया; उनकी औपनिवेशिक स्थिति निर्धारण का एक अन्य कारक थी। मुट्‌ठीभर प्राच्यविदों को छोड़कर, जो भारतीय परंपरा के साहित्यिक श्रेष्ठता से अभिभूत थे, ज्यादातर अंग्रेज धर्म प्रचारक और प्रशासक अपने ही पाश्चात्य समाज को भारतीय समाज की देन मात्र से प्रभावित थे।

उनके लिए भारतीय समाज सार्वजनीन स्वरूप की एक सुव्यवस्थित बंधनकारी शक्ति से रहित विभिन्न जातियों, उप–जातियों और जनजातियों की विविक्त परंपराओं का सम्मिश्रण था। आधुनिकीकरण को अंग्रोजों के योगदान का महत्व मुख्य रूप से सामाजिक संरचना और संस्कृति के ऐसे तंत्रों के विकास में निहित है जो आधुनिक और अखिल भारतीय दोनों थे।

आरंभ में, संपर्क के फलस्वरूप विशेष रूप से सत्रहवीं शताब्दी के दौरान बंगाल, मद्रास और बंबई में एक आधुनिकता उन्मुख उप–संस्कृति पाश्चात्यीकरण की एक लघु परंपरा का विकास हुआ, जहां द्विभाषियों, व्यापारियों–बिचौलियों के एक लघु केंद्र का उदय हुआ, जो धीरे–धीरे पश्चिमी सांचे में ढल रहे थे; वहीं, कुछ ऐसे संप्रदायों (जैसे ब्रह्मो समाज, प्रार्थना समाज आदि) का उदय भी हुआ जो पाश्चात्य संस्कृति के मानदंडों और शिक्षा के पाश्चात्य प्ररूपों को अपनाने पर बल देते थे; ये संप्रदाय हिंदू परंपराओं की रूढ़ियों के विरुद्ध जिहाद भी चलाते थे।

एक तरफ इन आंदोलनों ने और दूसरी तरफ उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक सुदृढ़ हो चुकी ब्रिटिश सत्ता ने अंततः एक आधुनिकता उन्मुखी महान परंपरा का मार्ग खोल दिया।

सर्वमुक्तिवादी कानून प्रणाली, पश्चिमी शिक्षा का प्रसार, शहरीकरण और औद्योगीकरण, यातायात एवं परिवहन के नए साधनों का प्रसार और समाज सुधार इसके घटक थे। आधुनिकीकरण के इन मानदंडों के साथ–साथ संरचनात्मक आधुनिकीकरण भी शुरू हुआ।

उदाहरण के लिए, प्रशासन और न्यायपालिका, सेना और उद्योग जगत की बौद्धिक नौकरशाही प्रणालियों, व्यापारियों और उद्यमियों के एक नए विशिष्ट वर्ग का उदय हुआ। इनके साथ ही उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक राजनीतिज्ञों का एक नया विशिष्ट वर्ग और राष्ट्रीय नेतृत्व भी उभर कर सामने आया।

औद्योगिक उद्यमिता के विकास के फलस्वरूप एक औद्योगिक कामगार वर्ग का भी उदय हुआ पश्चिम की तरह ही कॉर्पोरेट ढर्रे पर मजदूर संघों का आविर्भाव हुआ। आधुनिकता उन्मुखी ये संरचनाएं समूचे देश में एक समान थीं। इसलिए, उनके विकास के फलस्वरूप देश में राष्ट्रवादी सोच का जन्म हुआ जो अपने आप में आधुनिकीकरण के विकास का एक कदम था।

किंतु, ब्रिटिश काल के दौरान भारत में आधुनिकीकरण की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी। इस प्रक्रिया का विकास खंडों में बंटा था। यह भारतीय समाज की लघु संरचनाओं, जैसे परिवार, जाति व्यवस्था और ग्राम समुदाय, से जुड़ा नहीं था। इन स्तरों पर, अंग्रेजों ने, खास तौर पर 1857 के बाद, यथासंभव कम से कम हस्तक्षेप की नीति अपना रखी थी।

इसके अतिरिक्त, शेष भारतीय समाज की तुलना में इन लघु संरचनाओं की मंथरता और स्वायत्तता के प्रति कुछ अंग्रेज प्रशासकों की धारणा गलत थी। ऐसा विशेष रूप से ग्राम समुदाय और जाति को प्रदत्त महत्व की धारणा को लेकर था।

नौकरशाही के फौज और मध्य तथा निम्न वर्गों में बहाली में एक लंबे समय तक जाति और सांस्कृतिक कारकों को मान्यता दी जाती रही। आगे चलकर, बीसवीं शताब्दी में, जब राष्ट्रीय आंदोलन में तेजी आई, एक पंचायती निर्वान–पद्धति लागू की गई।

औपनिवेशिक काल के बाद की आधुनिकीकरण की प्रक्रिया पर इन ऐतिहासिक कारकों का गहरा प्रभाव पड़ा। इसके फलस्वरूप आधुनिकीकरण की भारतीय प्रक्रिया में परंपरानिष्ठ संस्थाओं की संभावनाओं और प्रतीकात्मकताओं में वृद्धि हुई।

यह घटना स्वतंत्रता आंदोलन में और उसके बाद भारतीय समाज के आधुनिकीकरण की प्रगति में स्पष्ट दिखाई देती है। स्वतंत्रता आंदोलन ने आधुनिकीकरण की एक नई राजनीतिक संस्कृति को जन्म दिया। इसके केंद्र में महात्मा गांधी का व्यक्तित्व था जिनका एक चरण परंपरा में गहरे तक जमा था।

भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के श्रेष्ठता के दौरान उनके आविर्भाव से सामाजिक परिवर्तन की चुनौतियों की भारतीय परंपरा की एक नियतविकासपरक प्रतिक्रिया हुई। स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए गांधी ने भारतीय लोगों को सफलतापूर्वक एकजुट किया, किंतु इस प्रक्रिया में एक भयंकर स्थिति का निवारण नहीं कर सके– भारत का दो स्वतंत्र राष्ट्रों में बंटवारा।

जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया है, यह घटना हिंदू धर्म और इस्लाम में आधुनिकीकरण की उप–सांस्कृतिक परंपराओं के असमान विकास का परिणाम थी, दोनों अपनी–अपनी विशिष्ट ऐतिहासिकता के अनुकूल। भारत में मुसलमान समुदाय के एक अलग राष्ट्र के हठ के चलते आत्मविश्वास के साथ–साथ लक्ष्य का एक संकट पैदा हुआ।

स्वतंत्रता के बाद, भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में इसके औपनिवेशिक ढांचे से एक मौलिक परिवर्तन आया है। विकास रणनीति के एक अभिन्न अंग के रूप में आज सांस्कृतिक एवं संरचनात्मक प्रणालियों के सभी स्तरों के लिए आधुनिकीकरण पर विचार किया गया है। अंग्रेजी शासन काल के दौरान बृहत एवं लघु संरचनाओं के बीच रुकी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया अब फिर से चल पड़ी है।

वयस्क मताधिकार और एक संघ संसदीय संरचना के आरंभ होने से राजनीति सामाजिक संगठन के हर तबके में पहुंची है। हिंदू विवाह और उत्तराधिकार कानूनों में हुए सजग कानूनी सुधारों ने परंपरागत हिंदू पारिवारिक संरचना को गहरे तक प्रभावित किया है।

सामुदायिक विकास परियोजनाओं ने आधुनिकता के सांस्कृतिक मानदंडों और आदर्श संरचनाओं को भारत के प्रत्येक गांव तक पहुंचा दिया है, और भूमि सुधार तथा ग्राम पंचायतों के साथ इसने ग्रामीणों को स्थानीय स्तर पर प्रशासन व न्याय के प्रबंधन में भागीदारी के एक व्यावहारिक स्वरूप के प्रति प्रेरित किया है।

इस प्रक्रिया में जाति व्यवस्था की स्थिति में आमूल परिवर्तन आया है, और राज्य व्यवस्था तथा सत्ता संरचना के प्रजातंत्रीकरण के फलस्वरूप नए प्रयोजनमूलक अनुकूलनों और सक्रियकृत लक्ष्यों का विकास हुआ है। हमने इसका विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया है कि किस प्रकार जाति धीरे–धीरे एक संघीय चरित्र का विकास कर रही है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में आज यह एक महत्वपूर्ण संरचनात्मक तंत्र के रूप में कार्य कर रही है।

आधुनिकीकरण एक तरफ जहां व्यापक हो चला है, तो वहीं दूसरी तरफ यह संरचनाओं के भीतर तनाव और परंपराओं (पूर्व और समकालीन) के बीच संघर्ष पैदा करता है। भारत में आने वाले समय में आधुनिकीकरण इस प्रणाली पर निर्भर करेगा जिसमें ये तनाव दूर होंगे और आधुनिकीकरण में तेजी आएगी।

एशिया के कई विकासशील देशों में आधुनिकीकरण के चलते समाज में संरचनात्मक और सांस्कृतिक टूटन पैदा हुई। यहां चीन, इंडोनिसिया, बर्मा और पाकिस्तान के मामले उल्लेखनीय हैं। एशिया में केवल जापान में आधुनिकीकरण सफल रहा है, किंतु वहां भी दूसरे विश्वयुद्ध के बाद टूटन के बिना सांस्थानीकरण नहीं हो पाया है।

5.4.4 आधुनिकीकरण और भारतीय परिदृश्य

आइजेन्स्टाट के अनुसार, भारतीय समाज की संरचनात्मक विशेषताओं के कारण भारत में आधुनिकीकरण के आरंभिक चरणों में इसके इसके फलस्वरूप कोई गंभीर खराबी नहीं आई। यहां, सांस्कृतिक व्यवस्था राजनीतिक व्यवस्था से मुक्त थी। लुई डुमोंट

टिप्पणी

लिखते हैं : ''प्रभावी परंपरा में, क्षेत्र (राज्य व्यवस्था या अर्थ), चरम मूल्यों के संदर्भ में, अपेक्षाकृत स्वायत्त है''। राजनीतिक व्यवस्था और जाति के स्तर–विन्यास के बीच भी आजादी थी।

जातियों की अपनी पंचायतें, नानारूप परंपराएं होती थीं, और इसी तरह समुदाय व क्षेत्रीय समितियां भी स्वायत्त होती थीं। इस अंतर–सांस्कृतिक स्वायत्तता के कारण बिना किसी गंभीर टूटन के आधुनिकीकरण उन्मुखी नव प्रवर्तनों का समावेश सरल होता था। किंतु, जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यापक विस्तार के बिना आधुनिकता का विकास मुख्यतः एक उप–संरचना और उप–संस्कृति के रूप में हुआ।

आधुनिकीकरण के औपनिवेशिक चरण में कई संरचनात्मक चुनौतियां दिखाई नहीं देतीं जो अब स्वतंत्र भारत में इस प्रक्रिया में परिलक्षित होती हैं। आधुनिकीकरण का खंडों में बंटा स्वरूप व्यापक है, इसलिए संरचना की स्वायत्तता की सार्थकता नहीं रह जाती। राजनीतिक प्रणाली में परिवर्तन सामाजिक वर्गीकरण (जाति, वर्ग, जातीय सांप्रदायिकताएं) को तोड़ने करने के लिए शुरू होते हैं, और ये सब मिलकर समग्र रूप में सांस्कृतिक व्यवस्था के लिए गंभीर दबाव पैदा करते हैं।

किसी व्यापक आधुनिकीकरण की सांस्कृतिक पूर्वापेक्षाएं मूल्य प्रणाली में अनुकूल परिवर्तनों को अपरिहार्य कर देती हैं, जिनका परंपरागत सांस्कृतिक मूल्यों और मानकों से सीधा सामना होता है। उदाहरण के लिए, असांप्रदायिकता, अस्पृश्यता और असंकीर्णता समकालीन भारत में आधुनिकीकरण की कुछ सांस्कृतिक मांगें हैं, जिन्हें परंपरागत मूल्य प्रणाली विरोध करती है।

इस तरह प्रश्न उठता है कि क्या भारतीय समाज आधुनिकीकरण के दूसरे चरण में संरचनात्मक विघटन से बचने में सफल होगी? बदले परिवेश में क्या वह अनुकूल अवसर आधुनिकता के सुचारु सांस्थानीकरण में बाधक नहीं होगा, जिसका लाभ उसे पूर्व में सांस्कृतिक स्वायत्तता के कारण मिला?

इन प्रश्नों के उत्तर भारत में हुए उन सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों के वस्तुनिष्ठ विश्लेषण से ही मिल सकते हैं, जो आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के लिए उचित हैं। सांस्कृतिक क्षेत्र में, प्रमुख परिवर्तन कानूनों के द्वारा लागू किए गए हैं।

ये सब मिलकर परंपरा में निहित सामाजिक असमानताओं और शोषणों को खत्म कर देना चाहते हैं और समाज के सभी लोगों को प्रजातांत्रिक अधिकार तथा संवैधानिक विशेषाधिकार दिए जाने की वकालत करते हैं। इससे संस्कृतीकरण से हटकर; और नई पहचानों के गठन और जातियों, क्षेत्रीय समुदायों तथा जनजातियों के संयोजन के प्रति एक प्रवृत्ति बनी है।

इन प्रक्रियाओं में आधुनिकीकरण की 'महान परंपराओं', जैसे शहरीकरण, शिक्षा का प्रसार और राजनीतीकरण, की बदौलत तेजी आई है। उद्देश्यों के लिए परंपरागत संरचनाओं और निष्ठाओं का संघटन किया जा रहा है, तो नितांतः आधुनिक हैं और विरोध आंदोलनों पर पर्याप्त बल दिया जा रहा है।

किंतु, इस प्रक्रिया में परंपरा को भी सुदृढ़ किया जा रहा है; आनुष्ठानिक व्यवस्था के प्रचार–प्रसार के लिए और धार्मिक समूहों तथा उनकी गतिविधियों के तौर–तरीके

टिप्पणी

के बौद्धिक संयोजन व समाज की सहभागिता के लिए संचार एवं परिवहन के आधुनिक माध्यमों का अधिक से अधिक उपयोग हो रहा है।

धार्मिक पंथों में स्वयं को एक बौद्धिक नौकरशाही ढर्रे पर संगठित करने की एक प्रवृत्ति जगी है, और प्रत्येक नए पंथ का अपने मूल पिंड से अलगाव में परिवर्तन आया है और अब दृढ़ता से विलय की ओर अग्रसर है।

इसी प्रकार आधुनिकीकरण के औपनिवेशिक शासन के बाद के चरण में भारत में जो संरचनात्मक परिवर्तन आए हैं उनमें असंगतियां विद्यमान हैं। जाति, परिवार और ग्राम समुदाय जैसी लघु संरचनाओं ने अपने पारंपरिक चरित्र को बनाए रखा है, आधुनिक संस्थाओं, जैसे प्रजातांत्रिक सहभागिता, राजनीतिक दल का संगठन और मजदूर संघ, से सामंजस्य के प्रति जाति ने अप्रत्याशित लचीलेपन और अंतर्निहित क्षमता का प्रदर्शन किया है, और इसमें साझा परिवार के प्रति निष्ठा बनी हुई है तथा संघवादी मानदंड प्रचलित हैं।

किंतु, इन विरोधाभासों में बृहत संरचनाओं जैसे राजनीतिक व्यवस्था, नौकरशाही, विशिष्ट वर्ग संरचना, उद्योग एवं अर्थव्यवस्था के स्तर पर वृद्धि हुई है। आधुनिकीकरण के औपनिवेशिक काल में विशिष्ट वर्ग संरचना में समरूपता थी। उद्योग, असैनिक एवं सैनिक नौकरशाही और राजनीतिक क्षेत्रों के ये अभिजात समान वर्ग–जाति से आते थे; वे पाश्चात्य शिक्षा और समाजीकरण से प्रभावित थे।

उनकी विचारधाराएं और लक्ष्य भी समान थे। ऐसा इसलिए था क्योंकि इन अभिजातों की बहाली का सामाजिक आधार सीमित था। स्वतंत्रता के बाद इसमें पर्याप्त वृद्धि हुई; हो सकता है कि वर्ग विभाजन व्यवस्था के संदर्भ में यह उचित न हो, किंतु सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में पर्याप्त प्रातिनिधिकताएं हैं, जिसके फलस्वरूप कतिपय अंतर्विरोधों का जन्म होता है।

राजनीतिक विशिष्ट वर्ग और गैर–राजनीतिक विशिष्ट वर्ग के बीच विशेष रूप से एक अंतर है; राजनीतिक विशिष्ट वर्ग पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव कुछ कम है, और बाहरी तौर पर वे कम से कम पारंपरिक सांस्कृतिक प्रतीकों से गैर–राजनीतिक विशिष्ट वर्ग से अधिक मजबूती से जुड़े हैं। संघ की संघीय संरचना में भी अंतर्विरोध बढ़ रहे हैं क्योंकि राज्यों में किसी एक दल की सरकार के स्थान पर बहुदलीय सरकारें बन रही हैं, जिनकी वैचारिक नीतियों में भिन्नता है (केरल और बंगाल में साम्यवादी नेतृतव यूनाइटेड फ्रंट, तमिल नाडु में डी. एम. के.)।

इस तथ्य का प्रमाण है कि तीन पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान आर्थिक निवेश द्वारा सृजित अतिरिक्त आय का लाभ खाते–पीते वर्गों को मिला है, जिससे गरीब तबकों को हानि पहुंची है। इसलिए योजना में सामाजिक वर्ग विभाजन में खाइयों को सुस्पष्ट किया गया है।

इसके और आर्थिक विकास की धीमी गति तथा जनसंख्या में तेजी से हो रही वृद्धि के फलस्वरूप संरचना के तनावों में अतिरिक्त तीव्रता पैदा होती है। औद्योगिकीकरण में तेजी के बावजूद, भारत ग्रामीण–किसान प्रभावित समाज बना हुआ है, जहां जीवन के रहन–सहन में गरीबी स्पष्ट देखी जा सकती है।

इस तरह, संरचनात्मक किसी न किसी रूप में आधुनिकीकरण की भारतीय प्रक्रिया में टूटन का कारक हैं, जैसे नागरिक संस्कृति (शिक्षा) के प्रसार के बिना

प्रजातंत्रीकरण, सर्वमुक्तिवादी मानकों के बिना नौकरशाहीकरण, संचार माध्यमों (संचार) की भागीदारी में वृद्धि और संसाधनों तथा अनुपाती न्याय में संतुलित वृद्धि रहित लक्ष्य, एक कल्याणकारी विचारधारा के सामाजिक संरचना में विस्तार के बिना उसका क्रिया रूपांतरण औरएक सामाजिक नीति के रूप में उसका क्रियान्वयन, औद्योगिकीकरण के बिना अति–शहरीकरण और अंत में वर्ग विभाजन व्यवस्था में सार्थक परिवर्तनों के बिना आधुनिकीकरण।

अपनी पुस्तक एशियन ड्रामा में गुन्नार मिर्डल भारत तथा अन्य एशियाई देशों में आधुनिकीकरण की इसी तरह की बाधाओं का उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार, इन देशों में राष्ट्रवाद और प्रजातांत्रिक संस्थाएं स्वयं संरचना की दृष्टि से असमान रूप में विकसित हुए हैं।

वह कहते हैं, ''यूरोप में, पूर्णतः प्रभावशील सरकार और कानून के प्रवर्तन के सामान्य ढांचे के साथ मजबूत स्वतंत्र राज्य राष्ट्रवाद से पहले थे, और दोनों प्रजातंत्र से पहले थे।'' दक्षिण एशियाई देशों में प्रजातांत्रिक विचारधारा का स्थान विशिष्ट ऐतिहासिकता के कारण मजबूत और स्वतंत्र राज्य तथा प्रभावशील सरकार के पहले थी, और यह राष्ट्रवाद की प्रबल मानसिकता के कारण और जटिल है।

यह असमान ऐतिहासिकता इन देशों की विकसित देशों पर आर्थिक निर्भरता और आर्थिक विकास की धीमी दर और सांस्थानिक परिवर्तनों की उससे भी धीमी गति के साथ चलती है। खास तौर पर भारत में, जहां, मिर्डल के अनुसार, प्रजातंत्र के लिए आवश्यक जीवनक्षम बुद्धिजीवियों की एक पर्याप्त संख्या और मध्य वर्ग हैं, आधुनिकीकरण के लिए सुनियोजित आर्थिक वृद्धि ने संरचनात्मक बाधाओं को कम करने की दिशा में उतना गहरा प्रभाव नहीं छोड़ा है जितना कि छोड़ा जाना चाहिए था।

मिर्डल के अनुसार, स्वतंत्रता के बाद भारत की 'अरक्षित राज्य' (शक्तिशाली हित प्रभावित राज्य) की नीति के कारण इसका नेतृतव समस्या को दूर करने, यानी समाज की सांस्थानिक संरचना में मूलभूत परिवर्तनों को लागू करने में असफल रहा।

फलतः, समाज की समतावादी संरचना का विकास जारी रहा और यह उत्तरोत्तर सुदृढ़ होती रही; सुधार की नीतियों पर (उनके क्रियान्वयन पर भी) चर्चा तो होती रही किंतु उन्हें लागू करने पर वांछित ध्यान नहीं दिया गया, ग्रामीण क्षेत्रों में सत्ता के विकेंद्रीकरण के फलस्वरूप सत्ता धनिक वर्ग के हाथों में चली गई। देश की बागडोर भी उनके हाथ रही जो वास्तविक आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन के विरोधी हैं।

सामाजिक परिवर्तन और विकास के सिद्धांत पर मिर्डल वृत्तीय कार्योत्पादन और संचयी परिवर्तन का दृष्टिकोण रखते हैं। उन्हें 'वृद्धि' के वैश्विक विकास के चरणों के निर्माण के तर्क पर संदेह है। उनके अनुसार ये सब सोद्देश्यवादी दिखाई देते हैं और इनमें अकसर अनुदारवादी विचारधाराएं निहित होती हैं, का सर्व ज्ञात दृष्टिकोण चक्रीय कारण–कार्य संबंध और दुराग्रही परिवर्तन है।

सामाजिक व्यवस्था में उसकी सभी अंगभूत 'स्थितियों' के साथ 'ऊर्ध्वगामी' गतिविधि विकास का एक महत्वपूर्ण कारक है।

टिप्पणी

दक्षिण एशिया के संदर्भ में मिर्डल द्वारा वर्णित ये स्थितियां हैं :

(1) उत्पादन एवं आय;

(2) उत्पादन की स्थितियां;

(3) जीवन के स्तर;

(4) जीवन और कार्य के प्रति विचार;

(5) संस्थाएं; और

(6) नीतियां।

इन स्थितियों के बीच वह एक एकदिशीय कारणात्मक संबंध की कल्पना करते हैं; एक स्थिति में एक 'ऊर्ध्वगामी' या 'अधोगामी' गतिविधि के फलस्वरूप अन्य स्थितियों में भी समान स्वरूप की दुराग्रही गतिविधि उत्पन्न होगी। इन स्थितियों से जुड़े एक देश के मूल्य दूसरे देश के मूल्य से भिन्न हो सकते हैं, विशेष रूप से उन स्थितियों के संदर्भ में जिनका व्यवहार, 'गौण' मूल्य की स्थितियों के विपरीत, उनके 'स्वतंत्र' (उनके अपने आप में एक लक्ष्य के रूप में) मूल्यों के लिए किया जाता है। ये मूल्य निर्धारण हर देश के समाज में विकास के वैचारिक संदर्भों का निरूपण करते हैं, किंतु उनकी चयनात्मकता कुल मिलाकर सामाजिक व्यवस्था के लक्षणों से संघटित रूप से जुड़ी होती है।

गुन्नार मिर्डल के अनुसार, भारत और अन्य दक्षिण एशियाई देशों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया एक चरम की ओर तेजी से बढ़ रही है, और उनके लिए संतुलित विकल्प हेतु समय सीमित है। 'क्रमिकतावादी' सिद्धांत का अवसर भी समाप्त हो चुका है।

मिर्डल का मानना है कि ''धीरे–धीरे एक लघु पविर्तन लाने की अपेक्षा तेजी से एक बृहत परिवर्तन लाना ज्यादा कठिन नहीं, बल्कि आसान है।'' भारतीय समाज में सामाजिक एवं सांस्थानिक स्थितियां इन बृहत, तीव्र परिवर्तनों के मुख्य क्षेत्र हैं। ये स्थितियां (ऊपर वर्णित स्थितियों में चौथी और पांचवीं) विकास की अन्य सभी स्थितियों के संघटन के लिए आवश्यक हैं।

आधुनिकीकरण के मिर्डल के सिद्धांत का मूल्यांकन 'स्वतंत्र' और 'गौण' मूल्यों, जो संस्थाओं और समाज के सामाजिक यथार्थों में उनके लोगों के लिए निहित होते हैं, के बीच उनके द्वारा निरूपित भेद के सिद्धांत से सर्वाधिक उत्तम तरीके से किया जा सकता है।

एक परंपरानिष्ठ समाज के 'स्वतंत्र मूल्य' एक आधुनिक समाज के मूल्यों से भिन्न, और बहुधा परस्पर विरोधी होते हैं। किंतु, 'स्वतंत्र मूल्यों' को 'गौण मूल्यों' में रूपांतरित किए बिना गलत अथवा अप्रासंगिक नहीं ठहराया जा सकता।

क्योंकि, संस्थाओं और जीवन के प्रति विचार तथा किसी परंपरानिष्ठ समाज में कार्य को उनके 'स्वतंत्र मूल्यों' के लिए महत्व दिया जाता है, इसलिए आधुनिक समाज में उनका परित्याग करने हेतु लोगों को प्रेरित करने के लिए आधुनिक समाज के 'स्वतंत्र मूल्यों' पर परंपरानिष्ठ समाज की अपूर्णता को प्रमाणित करना आवश्यक है।

किंतु, 'गौण मूल्यों' के माध्यम को लागू किए बिना इसे समझा नहीं जा सकता। यदि हम लोगों को यह समझाना चाहें कि ''(क) वर्ग विभाजन की बंद प्रणाली बुरी है''

और ''(ख) वर्ग विभाजन की खुली प्रणाली अच्छी है'', तो हमें यह भी बताना होगा कि ''(ग) सामाजिक न्याय का लक्ष्य वर्ग विभाजन की बंद प्रणाली में पूरा नहीं हो सकता, किंतु यह खुली प्रणाली में आसानी प्राप्त किया जा सकता है।'' लोग अपने स्वतंत्र मूल्य को बदलेंगे और (क) के स्थान पर (ख) को अपना लेंगे, वह भी तब और आसानी से जब गौण मूल्य (ग), जिसका वह उपयोग करते हैं, का संबंध (क) की तुलना में (ख) से अधिक निकट हो।

जैसी कि हमने ऊपर व्याख्या की है, परिवर्तन के लिए इसे पूरा करने का महत्वपूर्ण चर कारक व्यावहारिक आधार पर, या फिर मिर्डल के उपयुक्तता के आधार पर, लोगों के अभिप्रेरणों के संघटन में निहित है।

यदि हम इसे मान लें, तो पाएंगे कि अधिक गौण अथवा संरचनात्मक 'स्थितियों', जैसे आय, उत्पादन आदि के ऊपर, पहले विकासशील समाज की मूल्य प्रणालियों में मूलभूत परिवर्तनों की प्राथमिकता पर मिर्डल का आवश्यकता से अधिक बल निहायत अयथार्थवादी दिखाई देता है। हमारे विचार से आधुनिक गौण संरचनाओं के विकास को सरल करने के लिए परंपरानिष्ठ समाज में मूलभूत मूल्य परिवर्तनों से शुरू करना कठिन है।

वस्तुतः, सामाजिक परिवर्तन के लिए मिर्डल अपना मत सामाजिक रूपांतरण की प्रणाली को देते हैं, जो मान्य तो है किंतु समाज की संरचनाओं की बजाय पहले मूल्यों अथवा संस्थाओं में परिवर्तन पर उनके बल के अनुरूप नहीं है।

किंतु, सांस्थानिक परिवर्तन किसी समाज की अन्य संरचनात्मक स्थितियों में परिवर्तनों आधुनिकीकरण के संयोजन के लिए आवश्यक है, किंतु यह सामान्य परिकल्पना तर्कसंगत हो सकती है कि सांस्थाओं में परिवर्तन की 'बड़ा–निवेश' की नीति 'क्रमिकतावादी' सिद्धांत से बेहतर है।

यह वस्तुतः, विकास व आधुनिकीकरण की विभिन्न 'स्थितियों' में संतुलन के मिर्डल के अपने ही सिद्धांत के विपरीत है। विशेष रूप से भारत में जहां प्रजातांत्रिक राज्य व्यवस्था और जीवन के रहन–सहन को स्वतंत्र मूल्यों के रूप में अंगीकार कर लिया गया है, 'बड़ा–निवेश' की नीति, जो बेतरतीब ढंग में सामाजिक संरचना के बिखराव में अनिवार्य रूप से योगदान करेगी, की बजाय विवेकपूर्ण संयोजन अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण कारक होगा।

वस्तुतः, भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं से उत्पन्न आपाती तनाव नीति में मूलभूत परिवर्तनों के साथ परिवर्तन की रणनीति में और संयोजन के लिए जरूरी हमारे ध्यान को अत्यधिक नियंत्रित करते हैं। असमन्वित सांस्थानिक सुधारों और स्वतंत्रता के बाद आधुनिकीकरण के लिए किए गए आर्थिक प्रयासों के फलस्वरूप इस प्रणाली में विभिन्न स्थलों पर अंतर्विरोध हो रहे हैं।

किंतु, ये अंतर्निष्ठ अंतर्विरोध समुदायों के अब तक दबे लक्ष्यों और हितों की ऊर्ध्वगामी गतिविधि के फलस्वरूप उत्पन्न संघर्षों का संकेत दे सकते हैं। विरोध आंदोलन की दशा। संस्कृतीकरण, इस्लामीकरण, जाति, भाषा और धार्मिक संस्कृति के आधार पर अनुदार संघों का गठन – गुप्त या खुले – प्रजातंत्र के आधुनिकीकरण के संक्रमण में स्पष्ट दिखाई देते हैं।

ये निस्संदेह उन विशिष्ट क्षेत्रों का संकेत देते हैं, जहां परिवर्तन की प्रक्रिया में संघर्ष को दूर करने के लिए सांस्थानिक एवं अन्य सुधारों में और तेजी लाई जा सकती है। इस तरह विकास की प्रक्रिया के दौरान आधुनिकीकरण को आधुनिकीकरण की एक शक्तिशाली रणनीति के माध्यम से विभिन्न समझौतावादी उपायों को अपनाते हुए आगे बढ़ाया जाना चाहिए।

वहीं प्रजातांत्रिक मूल्यों और संस्थाओं को प्रबल करने की जरूरत भी है। एक प्रजातांत्रिक राजनीतिक ढांचे के मद्देनजर, आधुनिकीकरण की स्थितियों असमन्वित परिवर्तनों से पनपने वाली असंगतियों को दूर करने के लिए इस व्यवस्था में एक अंतर्निर्मित तंत्र मौजूद है, किंतु यह बात सर्वसत्तावादी राजनीतिक प्रणालियों के अन्य रूपों के संदर्भ सही नहीं कही जा सकती।

भारतीय परिदृश्य में ऐसा प्रतीत होता है कि निरंतर तनावों व विरोधों के बावजूद, सांस्थानिक विखंडन के अवसर बहुत कम हैं; राजनीतिक व्यवस्था में प्रजातांत्रिक मूल्यों का पूर्ण रूप से सांस्थानीकरण किया जा चुका है; सांस्कृतिक अंतर, जिसका हाल के दिनों में और विस्तार हुआ है, उस स्तर तक नहीं पहुंचा है जहां आधुनिकीकरण की विचारधारा को किसी बड़े संघर्ष का सामना करना पड़े।

जाति, जो परंपरा द्वारा लागू असमानता के संस्थानीकृत रूप का द्योतन करती है, अब असमानता के विरुद्ध लड़ाई लड़ती है और समतावाद में अपने संघों के निर्माण से परहेज करती है; आधुनिकीकरण की सांस्कृतिक प्रणाली में स्वयं को ढालने के लिए परंपरा के कई स्वतंत्र या निरपेक्ष मूल्यों ने आश्चर्यजनक ढंग से लचीलापन अपनाया है। इनमें से कुछ परंपराएं अभी भी फल–फूल रही हैं क्योंकि आधुनिकीकरण की प्रक्रियाएं कोई बड़ा व्याघात उत्पन्न किए बिना आगे बढ़ रही हैं।

भौतिक संसाधनों के क्षेत्र में भी, ग्रामीण क्षेत्र में हाल की 'कृषि क्रांति' भविष्य की प्रगति के लिए आशा के एक नए वातावरण का निर्माण कर दिया है। यह स्थिति और जन्म–दर पर अंकुश लगाने के प्रति लोगों की बढ़ती जागरूकता बिना किसी विखंडन के आधुनिकीकरण के नवीन आशाजनक लक्षणों का संकेत देती हैं।

किंतु, यह कल्पना एक मुख्य प्रतिबंधी कल्पना पर निर्भर करती है कि विकास की भारतीय प्रक्रिया में नियंत्रित निषेध की नीति को अपनाते हुए विरोधों को दूर करने के एक लक्ष्य के रूप में समाधान का कहीं भी त्याग नहीं किया जाएगा, न ही उसके स्थान पर कोई अन्य नीति लागू की जाएगी। समाधान के साथ संघटन का एक ईमानदार समन्वयन भारत में आधुनिकीकरण के प्रजातांत्रिक रूप की एक पूर्वापेक्षा है।

आधुनिकीकरण की ऐतिहासिकता

आधुनिकीकरण की ऐतिहासिकता से जुड़ी समस्याएं विभिन्न समाजों की 'आरंभिक स्थितियों' से उत्पन्न होती हैं, जहां से आधुनिकीकरण एक प्रक्रिया के रूप में शुरू होता है। इन स्थितियों में अंतर मूल में सांस्कृतिक और सामाजिक संरचनागत दोनों हो सकते हैं और आधुनिकीकरण के परिवर्तनीय स्वरूपों में परिवर्तनों का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं, जिन्हें कई समाज विज्ञानियों ने मान्यता दी है।

इसके विपरीत आधुनिकीकरण के क्रम विकासात्मक सर्वमुक्तिवादी सिद्धांत के

टिप्पणी

संदर्भ में समाज विज्ञानियों का मत है कि आधुनिकीकरण से विभिन्न समाजों में विशिष्ट स्वरूपों का विकास होगा। इस निबंध में यह भी हमारे विरोध का एक विषय है।

आधुनिकीकरण के विकास के स्वरूप में एक समाज से दूसरे समाज में अंतर क्यों हो सकता है इसके युक्तियुक्त और तात्विक दोनों आधार हैं। अकसर, आधुनिकीकरण को उन गुणों के आधार पर पारिभाषित किया जाता है, जो स्वरूप में बहुत ही अमूर्त और पक्षपाती हैं तथा किसी भी समाज की सामाजिक एवं सांस्कृतिक शक्तियों की गतिकी को ध्यान में नहीं रखते।

आधुनिकीकरण को सांस्कृतिक व अनुकरणीय–संरचनात्मक विशेषताओं के एक विन्यास के रूप में स्वीकार किया जाता है, किंतु इस पर ध्यान नहीं दिया जाता कि प्रत्येक समाज की परंपरागत स्थितियों के भीतर ये विशेषताएं किस प्रकार विशिष्ट परिवर्तनों को जन्म देती हैं।

हमारी दृष्टि में, यदि हम मूल्यों और अनुकरणीय–संरचनाओं के विन्यासों के रूप में परंपरा और आधुनिकीकरण दोनों पर विचार करें, जो उनके संपर्क में आने पर परस्पर प्रभाव डालते हैं और उनके बीच समावेश व समन्वय की एक चयनात्मक प्रक्रिया शुरू होती है, तो इस सीमाबद्धता से बचा जा सकता है।

चयनात्मक स्वीकरण में मूल्य व्यवस्था एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। प्रत्येक समाज में इन मूल्यों का दो रूपों में वर्गीकरण किया जाता है – (1) निर्णायक या स्वतंत्र और (2) गौण प्रारूप। सभी अनुकरणीय–संरचनाएं, चाहे वे पारंपरिक हों या आधुनिक, निर्णयात्मक और गौण दोनों, अंतर्निष्ठ होती हैं, और इससे दोनों का एक संयोजन बनता है; कोई व्यक्ति जो उच्च गौण मूल्य युक्त आधुनिक अनुकरणीय–संरचना का जानकार हो, जैसे कोई चिकित्सक या कोई इंजीनियर या फिर वैज्ञानिक, परंपरागत निर्णयात्मक मूल्यों के प्रति गंभीरतापूर्वक प्रतिबद्ध हो सकता है।

यह तार्किक दृष्टि से पूर्णतः संभव है, क्योंकि गौण मूल्यों के विपरीत निर्णयात्मक मूल्यों को स्वायत्तता प्राप्त होती है। भारतीय समाज में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं, किंतु ऐसा माना जाता है कि कोई भी समाज इस सिद्धांत का अपवाद नहीं होगा।

जहां तक भारत में आधुनिकीकरण की बात है, हमें एक बढ़ती प्रवृत्ति दिखाई देती है कि परंपरानिष्ठ अनुकरणीय–संरचना आधुनिक संरचनाओं को रास्ता दे रही हैं। किंतु इन भूमिकाओं को मानने वाले लोग आधुनिकता के मूल्यों की जगह अकसर निर्णयात्मक मूल्यों का पालन करते हैं। हम उल्लेख कर चुके हैं कि किस प्रकार जाति स्वयं ऐसे कई कार्यों को अपना रही है जिनका संबंध विवेकशील कॉर्पोरेट समुदायों से होता है।

साधारणतया, अनुष्ठान वर्ग और धर्म में, जो नितांत रूप से एक परंपरागत स्वरूप के निर्णयात्मक मूल्यों पर निर्भर होते हैं, पतन का संकेत नहीं मिलता, न ही निकट भविष्य में उनके गायब होने की कोई संभावना दिखाई देती है।

इन निर्णयात्मक मूल्यों में से कई एक समाज से दूसरे समाज में भिन्न होते हैं, इसलिए परंपरानिष्ठ मूल्यों के आधुनिक मूल्यों से मेल की संभावना हमेशा रहती है; निर्णयात्मक मूल्य को वैज्ञानिक सबूत से गलत ठहराना कठिन हो सकता है और इसीलिए विज्ञान के प्रसार से तर्कसम्मत ढंग से परंपरानिष्ठ निर्णयात्मक मूल्यों को मिटाया नहीं जा सकता।

टिप्पणी

यह विभिन्न समाजों में आधुनिकीकरण के स्वरूप में विविधता का निरूपण करेगा। किंतु, इस तर्क से यह मान लेना गलत होगा कि विश्व के लोगों के बीच आधुनिकीकरण से संरचनात्मक और सांस्कृतिक समानता नहीं आ सकती।

यदि आधुनिकीकरण आगे बढ़ता है, तो यह आधुनिक मूल्य – गौण अथवा निर्णयात्मक – के प्रति प्रतिबद्धता के साथ अनुकरणीय–संरचनाओं का एकरूप विन्यास तैयार करेगा। भूमिकाओं और मूल्यों के असंगत मेल बने रह सकते हैं किंतु समाजों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का विशाल क्षेत्र अन्य आधुनिक समाजों के साथ मानदंडों की एकरूपता साझा करेगा।

मानव जाति की परंपराओं में एकता की प्रबल भावना के भीतर विधिता कायम रह सकती है। यहां मूल्य आधारों का स्वरूप मुख्य कारक है, जिसे आधुनिकीकरण के लिए समाज अपनाते हैं। किंतु, अब तक इन मूल्य आधारों में एकरूपता दिखाई नहीं देती।

राजनीतिक विचारधाराओं में विचलन, राष्ट्रों के बीच संसाधनों की असमानता के साथ सांस्कृतिक एवं जातीय पहचानों में अंतर्विरोध आधुनिकता की मूल्य–संरचना में मूलभूत विच्छेद पैदा करते हैं। अतः, आधुनिकीकरण का विशिष्ट–मुक्तिवादी विकास स्वरूप अपने विकास के सर्व–मुक्तिवादी से अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है।

अपनी प्रगति जांचिए

5. सामाजिक परिवर्तन को योगेंद्र सिंह किसके रूप में वर्गीकृत करते हैं?

   (क) ज्ञानधारा (ख) प्रगति

   (ग) विचारधारा (घ) सफलता

6. भारत में आधुनिकीकरण की शुरुआत मुख्यतः किसके संपर्क में आने के बाद हुई?

   (क) पश्चिम (ख) उत्तर

   (ग) दक्षिण (घ) पूर्व

7. किसके अनुसार भारत और अन्य दक्षिण एशियाई देशों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया एक चरम की ओर तेजी से बढ़ रही है?

   (क) राधाकमल मुखर्जी (ख) गुन्नार मिर्डल

   (ग) दुर्खीम (घ) महात्मा गांधी

5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (ग)
3. (घ)
4. (क)

5. (ग)
6. (क)
7. (ख)

टिप्पणी

5.6 सारांश

भारतीय समाज तथा समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में 'संस्कृतीकरण' की अवधारणा को लाने का श्रेय डॉ. एम. एन. श्रीनिवास को जाता है। इस अवधारणा के माध्यम से उन्होंने भारतीय जाति–प्रथा की संरचना और संस्तरण में होनेवाले परिवर्तनों को समझने का प्रयत्न किया है। उन्होंने बताया कि आधुनिक भारत में निम्न जाति के सदस्य आमतौर पर ऊंची जातियों के संस्कारों तथा जीवन के ढंग का अनुकरण करते हैं तथा जाति संस्तरण में उच्च स्थिति पाने का प्रयत्न भी करते हैं एवं उसमें सफल भी हो रहे हैं। इन सबके परिणामस्वरूप निम्न जातियों की स्थिति और जीवन के ढंग में बहुत परिवर्तन होता जाता है।

संस्कृतीकरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए 'चेंज इन मॉडर्न इंडिया' नामक पुस्तक में एम. एन. श्रीनिवास ने कहा है कि ''संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्न हिन्दू जाति अथवा कोई जनजाति या अन्य समूह किसी ऊंची तथा प्रायः किसी द्विज जाति की दिशा में अपने रीति–रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन–पद्धति बदलता है।'' प्रायः ऐसे परिवर्तन के बाद वह जाति, स्थानीय समाज में परंपरागत तौर पर जातीय सोपान में जो स्थिति अथवा सोपान उसे प्राप्त रहता है, उससे ऊंचे स्थान का दावा करते हैं। सामान्यतः बहुत दिनों तक और वास्तव में एक–दो पीढ़ियों तक दावा करने के बाद उसे स्वीकृति भी मिल जाती है।

यह कहना वास्तव में बहुत ही मुश्किल है कि कौन सा विशेष परिवर्तन आधुनिकीकरण के कारण ही हो रहा है। जब हम देखते हैं कि अनेक ऐसे कार्य हो रहे हैं जो पहले पश्चिम के देशों में होते थे परंतु संचार में प्रगति के साथ–साथ अन्य कारणों से भी पश्चिमी सभ्यता की अनेक प्रचलित मान्यताएं भारतीय समाज में आ गई हैं जैसे डाइनिंग टेबल। भारतीय समाज की परम्परा तथा विशेषता रही है कि उसमें भूमि पर बैठकर भोजन करते थे परंतु आज शहरों तथा आधुनिक परिवारों में डाइनिंग टेबल पर खाना खाया जाना अच्छा माना जाता है। भारत में अनेक अन्य मान्यताओं को खारिज भी किया है जैसे महिलाओं के आधुनिक व खुलेपन को या गाय के मांस को। वहीं पर मदिरा सेवन, क्लब, डांस आदि को आधुनिकता प्रेमियों ने स्वीकार कर लिया है।

ए. आर. देसाई ने अपनी प्रथम कृति 'भारतीय राष्ट्रीयता के सामाजिक आधार' (Social Background of Indian Nationalism) में मार्क्सवादी उपागम का सबसे पहले प्रयोग किया था। इस अध्ययन में उन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद और द्वंदात्मक पद्धति का प्रयोग करते हुए बतलाया कि औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था ने अंतर्विरोधों से पूर्ण भारतीय सामाजिक व्यवस्था को पैदा किया, जिस कारण भारतीय राष्ट्रवाद का विकास हुआ।

प्रो. ए. आर. देसाई ऐसे भारतीय सामाजिक विचारक हैं, जिन्होंने अपने अध्ययन अथवा रचनाओं का प्रारंभ 'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि'' (Social Background

of Indian Nationalism, 1946) से की है। इस पुस्तक में उन्होंने द्वंदात्मक भौतिकवाद और मार्क्सवादी आधार पर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का विश्लेषण किया है। प्रो. देसाई मार्क्सवादी विचारधारा और पद्धति का प्रयोग करनेवाले प्रथम विचारक हैं। इस पुस्तक में प्रो. देसाई ने राष्ट्रवाद की विस्तृत परिभाषा प्रस्तुत की है तथा विभिन्न देशों में राष्ट्रवाद के विकास का विश्लेषण करने के साथ भारतीय राष्ट्रवाद के उद्भव और विकास का भी विवेचन किया है।

योगेंद्र सिंह जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के सामाजिक प्रणाली शोध केंद्र (सेंटर फॉर दि स्टडी ऑफ सोशल सिस्टम्स), में समाजशास्त्र के प्रोफेसर एमेरिटस हैं। वह इसके संस्थापक भी हैं। उनका जन्म 2 नवंबर, 1932 को उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के एक गांव के एक जमींदार परिवार में हुआ। उन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर एवं पीएच.डी. की शिक्षा ग्रहण की। उन्हें राधाकमल मुखर्जी, डी. पी. मुखर्जी, डी. एन. मजुमदार, बलजीत सिंह और ए. के. शरण जैसे प्रख्यात शिक्षकों से शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला।

योगेंद्र सिंह का आशय नितांत स्पष्ट हो जाता है जब वह कहते हैं कि यह जरूरी नहीं कि समाज में सामाजिक परिवर्तन लाने वाली प्रक्रियाएं परंपराओं में भी परिवर्तन लाएं। और, दूसरी तरफ, परंपराओं में परिवर्तन को प्रभावित करने वाली प्रक्रियाएं समाज को भी निस्संदेह परिवर्तित करती हैं।

आधुनिकीकरण के औपनिवेशिक चरण में कई संरचनात्मक चुनौतियां दिखाई नहीं देतीं जो अब स्वतंत्र भारत में इस प्रक्रिया में परिलक्षित होती हैं। आधुनिकीकरण का खंडों में बंटा स्वरूप व्यापक है, इसलिए संरचना की स्वायत्तता की सार्थकता नहीं रह जाती। राजनीतिक प्रणाली में परिवर्तन सामाजिक वर्गीकरण (जाति, वर्ग, जातीय सांप्रदायिकताएं) को तोड़ने करने के लिए शुरू होते हैं, और ये सब मिलकर समग्र रूप में सांस्कृतिक व्यवस्था के लिए गंभीर दबाव पैदा करते हैं।

यदि आधुनिकीकरण आगे बढ़ता है, तो यह आधुनिक मूल्य – गौण अथवा निर्णयात्मक – के प्रति प्रतिबद्धता के साथ अनुकरणीय–संरचनाओं का एकरूप विन्यास तैयार करेगा। भूमिकाओं और मूल्यों के असंगत मेल बने रह सकते हैं किंतु समाजों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का विशाल क्षेत्र अन्य आधुनिक समाजों के साथ मानदंडों की एकरूपता साझा करेगा।

5.7 मुख्य शब्दावली

- **प्रस्थिति** : विशेष स्थिति।
- **उन्नयन** : उन्नति की ओर ले जाना।
- **अभ्युदय** : वृद्धि।
- **उद्‌भव** : उत्पत्ति।
- **अभिप्रेत** : उद्दिष्ट।
- **शिनाख्त** : पहचान।
- **आविर्भाव** : उत्पत्ति।

5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. श्रीनिवास ने 'संस्कृतीकरण' शब्द का प्रयोग किसे स्पष्ट करने के लिए किया है?
2. किस कारण से भारत के नगरों का विकास अलग–अलग रहा है?
3. ए.आर. देसाई ने अपनी किस कृति में मार्क्सवादी उपागम का सबसे पहले प्रयोग किया था?
4. अपनी पुस्तक 'मॉडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडिशंस' में योगेंद्र सिंह भारतीय समाज में परंपराओं के किन तीन मुख्य वर्गों की शिनाख्त करते हैं?
5. किसने आधुनिकीकरण की एक नई राजनीतिक संस्कृति को जन्म दिया?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. एम.एन. श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण के विभिन्न बिंदुओं पर प्रकाश डाला है, उन्हीं के अनुसार इसकी विवेचना कीजिए।
2. भारत में आधुनिकता के प्रभाव व विशेषताएं बताते हुए इसकी समीक्षा कीजिए।
3. भारतीय राष्ट्रीयता के विभिन्न चरणों की विवेचना करते हुए इसकी समीक्षा कीजिए।
4. भारतीय समाज और परंपरा के आधुनिकीकरण की विवेचना कीजिए।
5. भारतीय परिदृश्य में आधुनिकीकरण की समीक्षा कीजिए और इसकी ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालिए।

5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. आर.एन. मुखर्जी, 'समाज शास्त्रीय विचारों का इतिहास', विवेक प्रकाशन, दिल्ली।
2. मुखर्जी–अग्रवाल, 'प्रमुख समाज शास्त्रीय विचारक', शिवलाल अग्रवाल एण्ड संस, आगरा।
3. गुप्ता–शर्मा, 'प्रमुख समाज शास्त्रीय विचारक', साहित्य भवन, आगरा।
4. ध्रुव दीक्षित, 'प्रमुख समाज शास्त्रीय विचारक', शिवलाल अग्रवाल एण्ड संस, आगरा।
5. महाजन–महाजन, 'प्रमुख समाज शास्त्रीय विचारक', रामदास एण्ड सन्स, आगरा।
6. Yogendra Singh, 'Modernization of Indian Tradition'.
7. C.A. Coser, 'Masters of Sociological Thoughts'.
8. Raymond Aron, 'Main Currents in Sociological Thoughts', Vol. I & II.